संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ३०

श्रीमदमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित

योगसार प्राभृत

(परमागमसार अथवा स्वसिद्धि-सुखाधार)

भाष्यकार एवं सम्पादक
पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

प्रकाशक
जैन विद्यापीठ
सागर (म० प्र०)

योगसार प्राभृत

कृतिकार	:	आचार्य अमितगति-निःसंगयोगिराज
भाष्यकार एवं सम्पादक	:	पं॰ जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
संस्करण	:	२८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत्
आवृत्ति	:	२५४३) ११००
वेबसाइट	:	www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म॰ प्र॰) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं॰ ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म॰ प्र॰) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की श्रृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित योगसार प्राभृत ग्रन्थ सात तत्त्व एवं मुनियों के आचार का सुंदरतम वर्णन करने वाला अद्वितीय ग्रन्थ है। जिसके रचयिता आचार्य अमितगति-निःसंगयोगिराज हैं। जिसका भाष्य एवं सम्पादन पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ने किया है, जिनकी लेखनी से ग्रन्थपरीक्षा जैसे ग्रन्थ भी प्रकाश में आये हैं। एतदर्थ पूर्व प्रकाशक संस्था, भाष्यकार-सम्पादक के हम हृदय से आभारी हैं।

उक्त समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

GENERAL EDITORIAL

The title of the work edited with Hindi anuvâda and Vyâkhyâ by Pt. Jugalkishore Mukhtar and published here in the Murtidevi J. Granthamâlâ, No. 33, is Yoga-Sâra-prâbhrta. It contains three words. The term yoga in Sanskrit has a number of meanings, often depending on the context in which it is used. Here yoga connotes a pure state of mind which is free from attachment and aversion, which is above all vikalpas (i.e., temperamental fluctuations and perversions), and which concentrates itself on the realities preached by Jina (NiyamaSâra, 137-9). This covers two types of dhyâna or meditation, namely, Dharmya-dhyâna and Sukla-dhyâna. This is beautifully brought out in this work in one of the verses (IX, 10). The next term Sâra connotes quintessence, eschewing all that is extraneous. The last term prâbhrta (pâhuda in Prâkrit) has a number of meanings, the most usual one being prakarana, i.e., a small and systematic treatise devoted to the exposition of a specific topic. It also means a worthy literary gift presented by the author while seeking audience of paramâtman, or any significant exposition by the Tirthakara or Âcâryas. This term thus invests the contents of a treatise both with antiquity and sanctity. Thus the title as a whole means: A sacred treatise on the Essential Nature of Yoga (concentration). The contents of this work clearly demonstrate how significant the title is. There are many titles of Jaina works ending with-sâra or-prâbhrta; but this work has in its title both the terms which obviously heighten its importance and character.

Amitagati and his works have caught the attention of oriental scholars, even beyond the circle of pious Jaina readers, from a pretty early time. The Mss. of his works here and in Europe have been noticed more than once (A. Weber: Verzeichniss der Sanskrit –und Prakrit–Handschriften der kôniglichen Bibliothec zu Berlin. Zweiter Band, Berlin 1886-92. P. Peterson : A third Report of operation in search of Sanskrit Mss. in the Bombay Circle, 1884-86 (Extra number of the Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, Vol. XVII), Bombay 1887. R.G. Bhandarkar: Report on the search for Sanskrit manuscripts in the Bombay Presidency during the year 1882-83, Bombay 1884. Ibidem, during the years 1884-5, 1885-6 and 1886-7, Bombay 1894. E. Leumann: A List of the Strasburg Collection of Digambara Manuscripts (Wiener Zeitschrift für die Kunde des Morgenlandes, vol. XI, pp 297-312, Wein 1897). Th. Aufrecht: Catalogus Catalogorum, An alphabetical Register of Sanskrit works and Authors, Leipzig 1891-1903. H.D. Velankar:

Jinaratnakosa, Bhandarkar O.R. Institute, Poona, 1944. Lately a number of Catalogues of Jaina Mss. from Rajasthan etc. have appeared; and they register some Mss. of the works of Amitagati as well.

Most of the works attributed to Amitagati have been printed and some of them even subjected to critical study. The Subhasita-(ratna-) samdoha (SRS) was published (with a historical prefatory note on the author and his times by Bhavadatta Sâstri) in the Kâvyamâlâ, No. 82, Bombay, 1903. J. Hertel indicated in his learned paper on SRS (Wiener Zeitschrift fur die Kunde des Morgen landes, vol. XVII, pp. 105-34, Wein, 1903) that Hemacandra's Yogasastra (Samvat 1216) is very much indebted to this SRS (Samvat 1050). Subsequently R. Schmidt and J. Hertel brought out a critical edition of SRS, along with German translation. Its Introduction gives some details about Amitagati, its lexical and grammatical peculiarities and the Mss. used for the edition (Zeitschrift der deutschen morgenländischen Gesellschaft, vol. LIX, pp. 265-340, 523-77, Leipzig, 1905, also Ibid, vol. LXI, pp. 88-137,298-341, 542-82, 875-908, Leipzig 1907). Further E. Leumann has made quite significant observations on this edition (Ibid. vol. LIX, pp. 578-88, Leipzig 1905. An edition based on the above material is under preparation in the Jivarâja J. Granthamâlâ, Sholapur. The SRS is published with the Hindi anuvâda of Sr-lala in the Haribhâi Devakarana Granthamâlâ, No. 3, Calcutta (1st ed.) 1917, (2nd ed.) 1939.

The Dharma-par-ksâ (DP) of Amitagati has been studied analytically by N. Mironow in his Die Dharmapar-ksâ des Amitagati, Leipzing 1903. The Sanskrit text with the Hindi translation of Pannâlâl Bâkalivâl (also Bombay 1901) has been published by the Bhâratiya Siddhânta Prakâsin- Samsthâ, Calcutta (1st ed.) 1908 (2nd ed.) 1922. Some other editions have also appeared here and there subsequently with some translation or the other. For a full perspective of the growth of DP literature one may refer to the Introduction of the Dhûrtâkhyâna edited by Dr. Upadhye (Singhi Jain Series, No. 19, Bombay 1944, Dhûrtâkhyâna: A Critical Study, pp. 41 f.) in which many allied sources are duly referred to. The nucleus of the plot goes back, as far as we know, to the Nis-thacurni (Vide my paper in the Âchârya Vijaya-vallabhasûri Commemoration Volume, pp. 143 ff., Bombay, 1956). What was a simple narrative illustration was enlarged into an effective satire by Haribhadra with some seeds of religious bias; and later, it assumed the form of positive religious propaganda in the hands of authors like Jayarâma (in Prâkrit), Harisena (in Apabhramœa) and Amitagati (in Sanskrit). It is the work of Amitagati that has been adapted as well as adopted in different languages by subsequent authors like Padma-

sâgaragani (who bodily copies Amitagati) and Vrttavilasa and others who have rendered it into Kannada etc.

The Pañcasamgraha (PS) of Amitagati is published in the Mânikachandra J. Granthamâlâ (MDJG), No. 25, ed. by Darabârilâl, Bombay, 1927. An edition of it with the Hindi translation of Vamœdhar Shastri has appeared from Dharashiv (Osmanabad), 1931. For details about other works having this very title one may consult the Intro, of the Pañcasamgraha, ed. by Pt. Hiralal, Mûrtidevî J. Granthamâlâ, No. 10, Varanasi 1960.

The Upâsakâchâra, popularly known as Amitagati Sravakâchâra (AS), Sanskrit text and Vachanikâ of Bhâgacanda, was published in the Muni Sri Anantakîrti D.J. Granthamala, No. 2, Bombay, 1922. Another edition of it has lately appeared as No. 10 in Sîtalaprasâdajî Smâraka Grânthamâlâ, Surat.

The Ârâdhanâ (Â) of Amitagati is published with the (Bhagavatî- or Mûla-) Ârâdhanâ of Sivarya, Sholapur 1935.

The Dvâtrimsikâ, popularly known as Sâmâyikapâtha, of Amitagati is published in MDJG No. 13, Bombay 1928, pp. 132-37. It is a very popular text and is so often printed with some or the other translation.

The Tattvabhâvanâ, also called Sâmmayikapâtha, is published in the MDJG, No. 21, Bombay 1922, pp. 170-91. The extent of this work can be ascertained only when some more Mss. of it come to light.

The Yoga-sârâ-prâbhrta (YSP) of Amitagati was published from Calcutta in 1918 by Pannalâl Bâkalîvâl (with the Hindi translation of Gajadhâralâl); and we are having here a significant edition of it with the vyâkhyâ of Pt. Jugalkishore Mukhtar.

Earlier scholars who studied some of the works of Amitagati have made certain observations on his biography and the contents of the works. Besides the sources noted above, some others also may be noted here. N. Premi. Vidvadratnamâlâ, pp. 115-40, Bombay 1912, also his Jaina Sâhitya aura Itihâsa, Bombay (1st ed.) 1942, (2nd ed.) 1956, pp. 274 ff. See also M. Winternitz: A History of Indian Literature, Vol. II (Calcutta 1933), pp. 561-67. A. N. Upadhye: Paramâtmaprakâœa, intro. (1st ed.), pp. 71, Foot-note 3, (2nd ed.), ibid., Agas 1960.

In SRS (composed in Sam, 1050, A.D. 994), DP (in Sam. 1070, A.D. 1014), PS (in Sam. 1073, A.D. 1017), AS and Â we get good many details about Amitagati; while in other works, only the name Amitagati is mentioned. Among the contemporary rulers Amitagati refers to Muñja (A.D. 974-95) in his SRS and to Sindhupati (also known as Sindhuraja: two of his inscriptions are known, dated respectively in 1019 and 1021, see V.A. Smith: The Early History of India (4th ed.), pp. 410-11). These

are the well known kings of the Paramara family who ruled over Malwa. The genealogy of the Mathura Samgha to which Amitagati belonged stands thus as worked out from the above sources put together: Virasena > Devasena > Amitagati (I) > Nemisena > Mâdhavasena > Amitagati (II). The DP starts with Virasena; SRS and A with Devasena; and PS with Madhavasena. This genealogy is carried five generations further in the Apabhramsa work Chhakkammovaesa, (Sk. Satkarmopadesa) which was completed by Amarakirti in V.S. 1247=1190 A.D. It runs as follow :- Amitagati Œântisena, Amarasena, Srisena, Candrakîrtî and Amarakîrti (H.L. Jain, Amarakirti and his Satkarmopadesaa, in Jaina Siddhânta Bhâskara II, 3p. 81; Premi : Jaina Sâhitya aur Itîhâsa, 2nd ed., p. 278.

In the other works, namely, Dvâtrimsikâ, Tattvabhâvanâ and YSP only the name Amitagati is mentioned. Naturally the question arises whether these works are composed by Amitagati I or Amitagati II. So far as YSP is concerned, it does not give the genealogy, generally given in the works of Amitagati (II), secondly, the author of YSP qualifies himself nissangatma (IX, 83); and lastly, Amitagati (II) qualifies his predecessor Amitagati (I) tyakta-nihsesa-sangah (SRS, XXXII, 37 or 915). In the light of these clues we are justified in taking that Amitagati (I) is the author of YSP. His other great qualities are lavishly praised by Amitagati (II) in SRS, 916, in DP (Prasasti), 3 and in Ä (prasasti), 15.

Amitagati (I) does not mention the date when he completed his YSP. Amitagati (II) completed his SRS in Sam. 1050 (when Muñja was on the throne), DP in Sam. 1070, and PS in Sam. 1073. As Amitagati (I) was two generations earlier, he can be assigned to the beginning of the 11th century of the Samvat era, or middle of the 10th century A.D.

Pt. Jugalkishoreji has based his edition of the YSP on i) the printed edition brought out by Pannâlâl Bâkalîvâl, Calcutta 1918, and some Mss. II) 1-Amer No. 836, Mahavira Bhavan, Jaipur; 2-Ibid. No. 837, which is incomplete and dated Sam. 1586: both of these have marginal glosses; 3-one Ms. from Byavar. He has given the necessary details about these Mss., and also discussed some of the points arising out of their references such as whether there was any commentary called Tattva-dîpikâ on the text, etc.

The YSP is divided into nine Adhikâras which deal respectively with i) Jîva (vv, 59), ii) Ajîva (vv. 50), iii) Âsrava (vv. 40), iv) Bandha (vv. 41), v) Samvara (vv. 62), vi) Nirjarâ (vv. 50), vii) Moksa (vv. 54), viii) Câritra (vv. 100), ix) Cûlikâ (vv. 84), this being an Appendix or Crest.

The YSP is composed in verses. The total number of them is 540 of which 524 are of the Anustubh or sloka type which is obviously the predominant metre in this work. The remaining sixteen are in different Vrttas, and they are serially arranged here : Mâlinî (I. 59), Upajâti (II. 50), Sârdûlavikrîdita (III. 40, IX. 82), Harinî (IV. 41), Svâgatâ (V. 62) and Mandâkrântâ (VI. 49-50, IX. 83), Prthvi (VII.54), Vamsastha (VIII. 99), Sâlinî (IX. 80), Rathoddhatâ (II. 49, IX. 84). The change over to a longer Vrtta at the close of a canto is the common practice seen in the Mahâkâvyas which the author is following here at the end of his Adhikâras.

The titles of Adhikâras clearly indicate that this work covers the fundamentals of Jainism which are presented from the higher plane of self-realization. The first Adhikâra, while exposing the nature of Jîva fully propounds the concepts of Darsana and jñâna as well as the types of Jnana and its relation with Jñeya. It is for the Yogin to realize the viviktâtman. The adhikâra II is a discourse on five Ajiva-dravyas, their Sattâ and their attendant origination, destruction and permanence and their accompaniments of Guna and Paryâya. Every one of them is fully explained; and the Adhikâra is concluded with a detailed discussion of the Karmapudgala, its nature and its relation with Âtman. The adhikâra III explains the causes of Âsrava and the various parinâmas in that context in a very critical manner. The Adhikâra IV deals with Bandha, or the Karmic bondage and its types, indicating how one can try to be immune from the bondage of Karmas, both Punya and Pâpa. The Adhikâra V propounds the principle of Samvara in its two aspects, Bhâva and dravya. The details are highly instructive, showing how Sâmâyika etc. are of great benefit for the seeker of self-realization. The adhikâra VI sheds light on Nirjarâ of two types. How Nirjarâ, shedding away of karmas, becomes possible for a Yogin is expounded in a dignified manner with requisite illustrations and practical guide-lines. The adhikâra VII gives the nature of Moksa in the context of spiritual meditation on which a man of learning has to embark to reach this experience. The adhikâra VIII deals with Caritra, namely, the internal and external life of a Jaina monk. The whole subject is dealt with in all its details, indicating the positive to be adopted (upadeya) and the negative to be eschewed (heya). The Adhikâra IX presents an exhilerating exposition of self-realization in its different facets, The editor has given an authentic summary of the work in Hindi in his Introduction.

There are some other works having a title more or less similar to that of YSP (see Jinaratnakosa, pp. 324 f.) for instance : Yogasâra (in Apabhramsa) by Jogicanda (MDJG, No. 21, Bombay 1922, also as an appendix to the ed. of Paramatmâprakâsa, noted above), ii) Yogasârasamgraha (in Sanskrit) by Gurudâsa (MDJG, No. 49,

Varanasi 1967); iii) Yogapradîpa of an unknown author (Jaina Sâhitya Vikâsa Mandala, Bombay 1960). These are comparatively small texts: they possess neither the extent of YSP (which has 540 verses) nor its rich and varied contents presented in a dignified manner.

The form, mode of treatment and contents of the YSP have a close correspondence with the works of Kundakunda, especially, the Samayasâra, Pravacana-sâra, Pañcâstîkâya and Niyamasâra. The quotations given by Pt. Jugalkisoreji while explaining the contents of YSP fully bear out this. Amitagati is fully saturated with traditional learning and ideas expressed by earlier authors like Kundakunda, Pûjyapâda etc. He has a full control over his Sanskrit expression and his meditational flashes have something inspiring about them. It is but natural that pious readers of spiritual aptitude have a special fascination for this work.

This edition of the YSP is important not only for its highly religious contents but also for its authoritative exposition in Hindi by a mature and highly thoughtful scholar like Pt. Jugalkishoreji. Pt Jugalkishoreji needs no introducation in the field of Jainological studies; he is past ninety; his contributions on Jaina Literature, Jainism and Jaina social problems are rich and cover a period of more than half a century; and in his latest writings, including his Hindi Vyakhya or Exposition of YSP, he has given us the very essence of his deep and mature understanding of Jainism. The presentation of the contents of YSP by Amitagati is worthily matched by the precise and yet lucid exposition in Hindi given by Pt. Jugalkishoreji. He entrusted this work to the Bhâratîya Jnânpîth for its publication in the Mûrtidevî J. Granthamâlâ and for this the General Editors feel very thankful to him.

The Mûrtidevî J. Granthamâlâ has already won the appreciation of oriental scholars at home and abroad and has made a mark among the Indological publications. We record our sense of gratitude to the founder-patron Shri Sahu Shanti Prasadji and to his enlightened wife, Smt. Ramadevi, for their generosity and progressive policy in the cause of Indian learning. Our thanks are due to Shri Lakshmichandraji Jain for his steady efforts to publish these works and also to Dr. Gokul Chandra Jain who is doing his best on the spot to help the printing and publication of these works.

H.L. Jain
A.N. Upadhye

प्रस्तावना

ग्रन्थ-नाम

इस ग्रन्थ का नाम 'योगसारप्राभृत' है; जैसा कि ग्रन्थ के निम्न अन्तिम पद्य से जाना जाता है-

योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानसः।
स्व-स्वरूपमुपलभ्य सोऽञ्चितं सद्म याति भव-दोष-वञ्चितम्॥

यह नाम योग, सार और प्राभृत इन तीन शब्दों से मिलकर बना है। 'योग' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। आगम-ग्रन्थों में 'कायवाङ्मनः कर्म योगः' इस तत्त्वार्थसूत्र (६-१) के अनुसार काय, वचन तथा मन की क्रिया का नाम 'योग' है, जिससे कर्मों का आस्रव होता है और इसीलिए जिसको अगले 'स आस्रवः' सूत्र के अनुसार 'आस्रव' भी कहा जाता है। योग का दूसरा सामान्य अर्थ 'जोड़ना'-एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध करना है। गणित शास्त्र में योग का प्रायः यही अर्थ परिगृहीत है अर्थात् एक राशि को दूसरी राशि या राशियों के साथ जोड़कर एक राशि बनाना। वैद्यकशास्त्र में भी योग औषधियों को जोड़कर एक मिश्रण तैयार करने के अर्थ में प्रयुक्त है, जिसे यूनानी में 'मुरक्कब' कहते हैं और जिसके व्यवहार की दृष्टि से वैद्यक तथा हिकमत दोनों में ही अनेक नाम होते हैं। तीसरा अर्थ 'ध्यान' है; जैसा कि "योगो ध्यानं समाधिः" आदि एकार्थवाचक वाक्यों से[१] जाना जाता है। एकाग्रचिन्ता निरोध का नाम ध्यान है।[२] चिन्ता का विषय प्रशस्त-अप्रशस्त होने से ध्यान भी दो प्रकार का हो जाता है-एक प्रशस्तध्यान, दूसरा अप्रशस्त ध्यान। अप्रशस्तध्यान आर्त-रौद्र के भेद से दो प्रकार का है और धर्म-शुक्ल भेद से प्रशस्त ध्यान भी दो प्रकार का है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार में योग का जो अभिव्यंजक अर्थ तीन गाथाओं में दिया है वह उसके चौथे विशिष्ट अर्थ की अभिव्यंजना करता है जो इस प्रकार है-

रायादी परिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स कह हवे जोगो ॥१३७॥
सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स कह हवे जोगो ॥१३८॥

---

१. युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिर्ध्यानमित्यनर्थान्तरम्।-तत्त्वार्थवा. ६-१-१२।
योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तनिग्रहः।
अन्तः संलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः।-आर्ष २१-१२।

२. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।-तत्त्वार्थसूत्र।
योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनं..स्याद् ध्यानम्॥-तत्त्वानु.-६१।

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो॥१३९॥

इनमें से पहली तथा दूसरी गाथा में उस साधक को योगभक्ति से युक्त बतलाया है जो क्रमशः रागादि के परिहार में तथा सर्व विकल्पों के अभाव में अपने आत्मा को जोड़ता लगाता है। साथ ही तद्भिन्न व्यक्ति में योग नहीं बनता ऐसी सूचना दोनों गाथाओं में की गयी है। तीसरी गाथा में यह बतलाया गया है कि जो विपरीताभिनिवेश (अन्यथा श्रद्धारूप दुराग्रह) को छोड़कर जैनकथित (जैनागम-प्रतिपादित) तत्त्वों में आत्मा को जोड़ता लगाता है वह योगभक्तिरूप निज परिणाम को लिए हुए योगरूप होता है, उसी के योगसाधन बनता है। इस कथन के द्वारा आचार्य महोदय ने योग का निर्युक्तिपरक सामान्य अर्थ जोड़ना लेकर उसके विशेषार्थरूप किसको किसके साथ जोड़ना इसको स्पष्ट करते हुए स्वात्मा को तीन विषयों के साथ जोड़ने को योगरूप में निर्दिष्ट किया है एक तो राग-द्वेषादि के परिहार (त्याग) रूप में, दूसरे सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों के अभावरूप में और तीसरे विपरीताभिनिवेश से रहित होकर जिनेन्द्र-कथित तत्त्वों के परिचिन्तन में। इसमें दोनों प्रशस्तध्यानों (धर्मध्यान और शुक्लध्यान) का समावेश हो जाता है और दोनों अप्रशस्त ध्यान छूट जाते हैं। साथ ही सकलसच्चारित्र का अनुष्ठान भी विधेय ठहरता है; क्योंकि 'रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः' इस वाक्य[1] के अनुसार राग-द्वेषादि की निवृत्ति के लिए ही सञ्चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है।

अब देखना यह है कि ग्रन्थकार महोदय ने स्वयं 'योग' शब्दको मुख्यतः किस अर्थ में गृहीत किया है। इस विषय में उनका एक पद्य बहुत स्पष्ट है और वह इस प्रकार है–

विविक्तात्म-परिज्ञानं योगात्संजायते यतः।
स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूतपातकैः॥९-१०॥

इसमें बतलाया है कि ''जिस योग से एकाग्रचिन्ता-निरोधरूप ध्यान से अथवा मन को स्व के तथा इन्द्रियों के अन्य व्यापारों से हटाकर शुद्धात्म तत्त्व के चिन्तन में जोड़ने लगाने से विविक्तात्मा का जो परिज्ञान होता है, स्वात्मा को उसके स्वाभाविक शुद्धस्वरूप में जाना पहचाना जाता है, उसे उन योगियों ने (वास्तव में) 'योग' कहा है जिन्होंने योग द्वारा पातकों को-मोह तथा ज्ञानावरणादिरूप घातिकर्ममल को स्वात्मा से धो डाला है सदा के लिए पृथक् कर दिया है।' योग के स्वरूप-निर्देश में जिन योगियों का यहाँ उल्लेख किया गया है, वे मात्र कथनी करने वाले साधारण योगी नहीं किन्तु अधिकार प्राप्त विशिष्ट योगी हैं ऐसा उनके 'निर्धूतपातकैः' विशेषण से जाना जाता है और इस विशेषण से यह भी ज्ञात होता है कि जिस योग के स्वरूप का यहाँ निर्देश

---

१. समीचीनधर्मशास्त्र ३-१ (४७)।

किया गया है उससे विविक्तात्मा का केवल परिज्ञान ही नहीं होता बल्कि उसकी सम्प्राप्ति भी होती है, जिसे 'स्वात्मोपलब्धि' अथवा 'स्व-स्वभावोपलब्धि' भी कहते हैं और जिसके उद्देश्य को लेकर ही इस ग्रन्थ का प्रारम्भ तथा निर्माण हुआ है। इसमें कुन्दकुन्द प्रतिपादित योग का तृतीय अर्थ खास तौर से परिगृहीत है और उसको लेकर सात तत्त्वों के सात अधिकार अलग-अलग रूप से निर्दिष्ट हुए हैं।

जिस योग का उक्त स्वरूप है उसी के सार-कथन को लिए हुए यह ग्रन्थ है। 'सार' शब्द विपरीतार्थ के परिहारार्थ प्रयुक्त होता है; जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के नियमसार गत निम्न वाक्य से जाना जाता है-

विवरीय-परिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं॥३॥

और इससे यह यथार्थता का वाचक है। योगसार का अर्थ हुआ योग का विपरीतता से रहित यथार्थरूप। 'सार' शब्द श्रेष्ठ, स्थिरांश, सत् तथा नवनीत (मक्खन) का भी वाचक है, और उस दृष्टि से योगसार का अर्थ हुआ योग-विषयक कथन का नवनीत, सत अथवा श्रेष्ठ अंश। योगसार के साथ 'प्राभृत' शब्द का प्रयोग, जो कि प्राकृत के 'पाहुड' शब्द का पर्यायवाची है, उसे एक तोहफे के रूप में निर्दिष्ट करता है यह बतलाता है कि यह किसी को उपहार में दी जाने वाली एक सारभूत वस्तु है। जयसेनाचार्य ने समयसार प्राभृत (पाहुड) की टीका में इसी बात को निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया है-

''यथा कोऽपि देवदत्तः राजदर्शनार्थं किंचित् सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत् 'प्राभृतं' भण्यते तथा परमात्माराधक-पुरुषस्य निर्दोष-परमात्मराजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतम्।'

अर्थात्-जिस प्रकार कोई देवदत्त नामक पुरुष राजा के दर्शन करने के लिए कोई सारभूत वस्तु राजा को भेंट करता है उसे 'प्राभृत' (तोहफा) कहते हैं, उसी प्रकार परमात्माराधक (ग्रन्थकार) का निर्दोष परमात्मराज का दर्शन करने के लिए यह शास्त्र भी प्राभृत के रूप में है।

श्री वीरसेनाचार्य ने जयधवला में प्राभृत का जो रूप दिया है वह इस प्रकार है-

''प्रकृष्टेन तीर्थंकरेण आभृतं प्रस्थापितम् इति प्राभृतम्। प्रकृष्टैराचार्यैर्विद्यावित्त-वद्भिराभृतं धारितं व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्।''

इसमें बतलाया है कि 'जो प्रकृष्ट पुरुष-तीर्थंकर परमदेव के द्वारा प्रस्थापित हुआ वह प्राभृत है, अथवा जो विद्याधन के धनी प्रकृष्ट उत्तमाचार्यों के द्वारा धारित व्याख्यात तथा आनीत (परम्परा से आगत) हुआ है वह भी 'प्राभृत' है। इससे 'प्राभृत' शब्द प्रतिपाद्यविषयकी प्राचीनता और समीचीनता को लिए हुए जान पड़ता है।

इस तरह यह ग्रन्थ नाम और ग्रन्थ नाम के महत्त्व का संक्षिप्त परिचय है। प्रस्तुत ग्रन्थ पद-पद पर अपने नाम के महत्त्व को हृदयंगम किये हुए है। जैन समाज में कितने ही ग्रन्थ सारान्त नाम

को लिए हुए हैं; जैसे–प्रवचनसार, गोम्मट्टसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, तत्त्वार्थसार आदि और कुछ पाहुड़ अथवा प्राभृतान्त भी हैं, जैसे–कुन्दकुन्दाचार्य के दंसणपाहुड़ (दर्शनप्राभृत) आदि। परन्तु यह ग्रन्थ 'सार' और 'प्राभृत' दोनों विशेषणों को एक साथ आत्मसात् किये हुए है और यह इसकी एक विशेषता है।

ग्रन्थकार अमितगति और उनका समय

इस ग्रन्थ के कर्ता-निर्माता का नाम 'अमितगति' है, जैसा कि ग्रन्थ के अन्तिम पद्य से पूर्वस्थित ८३वें पद्य में प्रयुक्त हुए निम्न वाक्य से जाना जाता है–

निःसंगात्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारं ब्रह्मप्राप्त्यै परममकृतम्।

इसमें बतलाया है कि ''इस योगसार-प्राभृत को निःसंगात्मा अमितगति ने परब्रह्म की प्राप्ति के लिए रचा है। इससे पूर्व के एक पद्य नं० ८१ में भी, **'विज्ञायेत्थं विचिन्त्यं सदमित-गतिभिस्तत्त्वमन्तःस्थमग्र्यम्'** आदि वाक्यों में प्रयुक्त 'सदमितगतिभिः' पद के द्वारा ग्रन्थकार ने अपने 'अमितगति' नाम की सूचना की है।

दिगम्बर जैन समाज में 'अमितगति' नाम के दो आचार्य हो गये हैं–एक माधवसेन सूरि के शिष्य तथा नेमिषेणाचार्य के प्रशिष्य और दूसरे नेमिषेणाचार्य के गुरु तथा देवसेनसूरि के शिष्य। ये दोनों ही अमितगति माथुर संघ से सम्बन्ध रखते हैं, जिसका अमितगति द्वितीय की ग्रन्थ-प्रशस्तियों में स्पष्ट उल्लेख है और जो काष्ठासंघ का एक भेद रहा है।[1] इनमें से एक को प्रथम और दूसरे को द्वितीय अमितगति समझना चाहिए। इन दोनों में से कौन से अमितगति की यह कृति है यही यहाँ विचारणीय है। द्वितीय अमितगति के बनाये हुए सुभाषितरत्नसन्दोह, धर्मपरीक्षा, आराधना, उपासकाचार और पंचसंग्रह नाम के अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें ग्रन्थकार ने अपनी गुरुपरम्परा का स्पष्ट उल्लेख किया है और इसलिए वे निश्चितरूप से अमितगति द्वितीय की कृति हैं। योगसार-प्राभृत में गुरुपरम्परा का वैसा कोई उल्लेख नहीं है और इसलिए वह द्वितीय अमितगति की कृति मालूम नहीं होती; लेखन-शैली की विभिन्नता और अर्थ की गम्भीरता भी उसके वैसा मानने में बाधक प्रतीत होती है। इसी से स्व. पं० नाथूरामजी प्रेमी आदि कुछ विद्वानों ने उस के अमितगति द्वितीय की कृति होने में सन्देह व्यक्त किया है[2] और अमितगति प्रथम की कृति होने की संभावना व्यक्त की

---

१. काष्ठासंघ चार गच्छों में विभक्त था जिन के नाम हैं–(१) श्रीनन्दितट, (२) माथुर, (३) बागड, (४) लाडबागड; जैसा कि भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति की बनायी हुई 'पट्टावली' के निम्न वाक्यों से जाना जाता है–
'काष्टासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः। तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ॥
श्रीनन्दितसंज्ञश्च माथुरो बागडोऽभिधः। लाडबागड इत्येते विख्याताः क्षितिमण्डले॥

२. श्री पं० नाथूरामजी ने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' में पृ० २८० पर लिखा है–''इस के कर्ता शायद इन अमितगति के दादा गुरु के गुरु अमितगति हैं।'' यहाँ प्रयुक्त 'शायद' शब्द सन्देह का ही वाचक है।

है; परन्तु प्रमाणाभाव में निश्चितरूप से किसी ने भी कुछ नहीं कहा है। यह कृति निश्चित रूप से अमितगति प्रथम की कृति है, जिसका प्रमाण अमितगति के साथ 'निःसंगात्मा' विशेषण का प्रयोग है, जिसे ग्रन्थकार ने स्वयं अपने लिए प्रयुक्त किया है; जैसा कि ऊपर उद्धृत ९वें अधिकार के पद्य नं० ८३ के वाक्य से जाना जाता है। यह विशेषण अमितगति द्वितीय के लिए कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ; बल्कि स्वयं अमितगति द्वितीय ने इस विशेषण को 'त्यक्त-निःशेषसंगः' रूप में अमितगति प्रथम के लिए प्रयुक्त किया है; जैसा कि सुभाषितरत्नसन्दोह की प्रशस्ति के निम्न पद्य से जाना जाता है और जिस से उक्त निश्चय एवं निर्णय की भरपूर पुष्टि होती है–

आशीर्विध्वस्त-कन्तोर्विपुलशमभृटः श्रीमतः कान्तकीर्तेः
सूरेर्यातस्य पारं श्रुतसलिलनिधेर्देवसेनस्य शिष्यः।
विज्ञाताशेषशास्त्रो व्रतसमितिभृतामग्रणीरस्त कोपः
श्रीमान्मान्यो मुनीनाममितगतियतिस्त्यक्तनिःशेषसंगः॥९१५॥

इस पद्य में अमितगति प्रथम के गुरु देवसेन का नामोल्लेख करते हुए उन्हें "विध्वस्त कामदेव, विपुलशमभृत, कान्त (दीप्त) कीर्ति और श्रुतसमुद्र का पारगामी आचार्य लिखा है तथा उनके शिष्य अमितगति योगी को अशेष शास्त्रों का ज्ञाता, महाव्रतों-समितियों के धारकों में अग्रणी, क्रोधरहित, मुनिमान्य और सारे (बाह्याभ्यन्तर) परिग्रहों का त्यागी सूचित किया है।" पिछला विशेषण सर्वोपरि मुख्य जान पड़ता है, इसी से अमितगति ने उसे 'निःसंगात्मा' के रूप में अपने लिए प्रयुक्त किया है। वे इतने अधिक निःसंग हो गये थे कि गुरु-शिष्य तथा संघ का भी मोह छोड़ बैठे थे और इसलिए उन्होंने उनका कोई उल्लेख अपने ग्रन्थ में नहीं किया। अमितगति द्वितीय ने सुभाषितरत्नसन्दोह के अगले पद्य[१] में भी उन का कितना ही गुणगान किया है, उन्हें अलंघ्यमहिमालय, विमलसत्त्ववान्, रत्नधी, गुणमणि पयोनिधि और समस्त जनता के सन्तजनों को अनश्वरी श्री का प्रदाता लिखा है, जो उनके इसी ग्रन्थ की ओर संकेत जान पड़ता है। साथ ही अपनी 'धर्मपरीक्षा' में उन्हें 'भासिताखिलपदार्थसमूहः', 'निर्मलः' और 'आराधना' में 'शम-यम-निलयः', 'प्रदलितमदनः', 'पदनतसूरिः' (चरणों में नत हैं आचार्य जिनके) जैसे विशेषणों के साथ स्मरण किया है और जो सब उन के व्यक्तित्व के महत्त्व को ख्यापित करते हैं। वास्तव में वे ज्ञान और चारित्र की एक असाधारण मूर्ति थे, उनका जीवन अमली जीवन था, उनकी कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं था और इसलिए वे अनेक आचार्यों से भी पूजित नमस्कृत महामान्य थे। उन्होंने अशेष शास्त्रों का अध्ययन-मनन कर जो कुछ अनुभव प्राप्त किया और अपने को जिस साँचे में ढाला उसका यह ग्रन्थ ज्वलन्त उदाहरण है, जिस का कुछ परिचय आगे दिया जायेगा।

---

१. अलङ्घ्यमहिमालयो विमलसत्त्ववान् रत्नधीर्वरस्थिरंगभीरतो गुणमणिः पयोवारिधिः।
समस्तजनतासतां श्रियमनीश्वरीं देहिनां सदामृतजलच्युतो विबुधसेवितो दत्तवान् ॥९१६॥

अब देखना है कि ये अमितगति प्रथम किस समय हुए हैं। अमितगति द्वितीय ने सुभाषितरत्नसन्दोह को विक्रम संवत् १०५० में पौषशुक्ला पंचमी के दिन बनाकर समाप्त किया है।[१] उसके बाद धर्मपरीक्षा को संवत् १०७० में और पंचसंग्रह को संवत् १०७३ में पूरा किया है। इस से वे विक्रम की द्वितीय-तृतीय शताब्दी के विद्वान् जान पड़ते हैं। अतः उनसे दो पीढ़ी पूर्व होने वाले उनके दादा गुरु नेमिषेणाचार्य के भी गुरु अमितगति प्रथम का समय यदि ४०-५० वर्ष पूर्व मान लिया जाये तो वह कुछ भी अधिक नहीं है बहुत कुछ स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में यह ग्रन्थ, जो अमितगति प्रथम की प्रायः पिछली अवस्था में निर्मित हुआ है, जबकि वे निःसंगात्मा हो चुके थे, विक्रमी ११वीं शती के प्रारम्भ की अथवा ज्यादा से ज्यादा उस के प्रथम चरण की १००१ से १०२५ तक की-रचना जान पड़ती है। इसके बाद उस का समय नहीं हो सकता।

ग्रन्थ की प्रतियों का परिचय

इस ग्रन्थ की जो प्रति मुझे सब से पहले प्राप्त हुई वह एक मुद्रित प्रति है, जिसे आज से कोई ५० वर्ष पहले सन् १९१८ में भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था के महामन्त्री पं० पन्नालालजी बाकलीवाल ने 'योगसार' नाम से सनातन जैन ग्रन्थमाला के नं० १६ के रूप में, उस्मानाबाद निवासी गाँधी कस्तूरचन्दजी के स्वर्गीय पुत्र बालचन्दजी की स्मृति में पं० गजाधरलालजी के तत्कालीन हिन्दी अनुवाद के साथ विश्वकोष प्रेस कलकत्ता में छपवाकर प्रकाशित किया था। यह प्रति कहाँ की हस्तलिखित प्रति के आधार पर छपवायी गयी ऐसा कहीं कुछ सूचित नहीं किया गया। अस्तु, यह प्रति बड़े साइज के शास्त्राकार खुले पत्रों पर है और इस की पृष्ठ-संख्या २१४ है। इस प्रति को यहाँ (तुलनात्मक टिप्पणी में) 'मु' संज्ञा दी गयी है।

इसके बाद हस्तलिखित प्रतियों की प्राप्ति का प्रयत्न करने पर मुझे दो प्रति आमेर के शास्त्रभण्डार की प्राप्त हुईं, जो जयपुर के महावीर भवन में सुरक्षित हैं। इनमें से एक प्रायः पूरी और दूसरी अधूरी है। पूरी प्रति का नं० ९३६ है। इस की पत्रसंख्या ३९ है, पर पहला पत्र नहीं है, जिस का प्रथम पृष्ठ खाली जान पड़ता है; क्योंकि उस में छह पद्य ही रहे हैं, सातवें पद्य का केवल 'चतु' अंश ही है। ३९वें पत्र का द्वितीय पृष्ठ भी खाली था, बाद को उस पर किसी ने गद्यपूर्वक अधःप्रवृत्तकरणादि-विषयक कुछ गाथाएँ उद्धृत की हैं, और अन्त में ''अथ त्रयोविंशतिपुद्गलवर्गणा गाथा'' लिखकर पाँच गाथाएँ और उद्धृत की हैं। इस प्रति के पत्रों का आकार ८ १/२ इंच लम्बा और ३ १/२ इंच चौड़ा है। द्वितीय पत्र के प्रथम पृष्ठ पर ११ पंक्ति हैं, शेष ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर ९ पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में अक्षर प्रायः २६ से २८ तक हैं। लिपि प्रायः अच्छी और स्पष्ट है, पद्यांक सुर्खी से दिये हुए हैं और कहीं-कहीं टिप्पणी भी हाशियों पर अंकित है जो प्रायः बाद की

---

१. समारूढे पूतत्रिदिववसतिं विक्रमनृपे सहस्रे वर्षाणां प्रभवतीह पञ्चाशदधिके। समाप्ते पञ्चम्यामवति धरणीं मुञ्जनृपतौ सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥९२२॥

जान पड़ती है। इस प्रति के बीच में दो पत्र नं० १५, १९ बहुत पुराने हैं। जान पड़ता है जिस प्रति के वे पत्र हैं उसी पर से, उस के अतिजीर्ण हो जाने से यह प्रति करायी गयी है, जिस में अक्षरों का प्रति पंक्ति-क्रम पुरानी प्रति के अनुसार ही रखा गया है, इसी से उक्त दो पत्रों का सम्बन्ध ठीक जुड़ गया है। इस प्रति के अन्त में कोई लिपि काल दिया हुआ नहीं है। अन्तिम पुष्पि का वाक्य का रूप इस प्रकार हैं–

''इति श्री अमितगति आचार्य विरचिते योगसार तत्त्वप्रदीपका नवाधिकार समाप्ता:॥ छ॥ श्री॥ श्री॥ श्री॥''

मध्य के सन्धिवाक्य ''इति जीवाधिकार: समाप्त:, इति अजीवाधिकार:, इति आस्रवाधिकार:'' इत्यादि रूप में दिये गये हैं। यह प्रति मुद्रित प्रति की अपेक्षा विशेष शुद्ध नहीं है, कहीं-कहीं कुछ शुद्ध है, कहीं-कहीं स-श, न-ण, व-ब, य-ज आदि का ठीक भेद नहीं रखा गया एक के स्थान पर दूसरा अक्षर लिखा गया है।

दूसरी अधूरी-खण्डित प्रति का नं० ९३७ है। इस में प्रारम्भ के १९ पत्र और अन्त का ३१वाँ पत्र (लेखक-प्रशस्त्यात्मक) नहीं है। ३०वें पत्र के अन्त में ग्रन्थ समाप्त करते हुए जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है–

''एवं अधिकार: समाप्त:॥छ॥१॥ इति श्री अमितगति विरचित नवाधिकार: समाप्त:॥ योगसार नामेति वा॥छ॥छ॥''

''संवत् १५८६ वर्षे कार्तिगशुदि २ श्री मूलसंघे नन्द्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये भ. श्री पद्मनन्दिदेवा: तत्पट्टे भ. श्री शुभचंद्रदेवा: तत्पट्टे भ. श्रीजिनचंद्रदेवा: तत्पट्टे भ. श्री प्रभाचंद्रदेवा: तत् शिष्य मंडलाचार्य श्री धर्मचं...''

इसके आगे ३१वें पत्रपर धर्मचंद्र के विषय का, उनकी प्रेरणा से अमुक ने यह ग्रन्थ लिखाया और अमुक ने लिखा ऐसा कुछ उल्लेख होना चाहिए।

इस प्रति के पत्रों का आकार ११ १/२ इंच लम्बा और ५ इंच चौड़ा है, प्रति पृष्ठ ९ पंक्तियाँ और प्रति पंक्ति प्राय: ३७-३८ अक्षर हैं। इस प्रति के हाशियों पर भी टिप्पणियाँ हैं, जो प्राय: प्रति नं० ९३६ की टिप्पणियों से मिलती-जुलती हैं कुछ अधिक भी हैं और इस से अनुमान होता है कि किसी पूर्व प्रति में ये टिप्पणियाँ चलती थीं, उस पर से इन का सिलसिला चला तथा उसमें वृद्धि को भी अवसर मिला है। लिपिकारों के सामने ऐसी प्रतियाँ थीं; क्योंकि टिप्पणियों के बहुधा अक्षर लिपिकार के अक्षरों से मिलते-जुलते हैं।

यह प्रति ७वें अधिकार के ४१-४२वें पद्य से चालू हुई है, ४१वें पद्य का **''य: षोढा सामग्रीयं बहिर्भवा''** यह अन्तिम चरणांश इस पर अंकित है और प्रति नं० ९३६ की अपेक्षा अधिक

शुद्ध जान पड़ती है। इस की यहाँ 'आदि' संज्ञा दी गयी है। ये दोनों प्रतियाँ अपने को अक्टूबर १९६३ में श्री पं० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल जैन अध्यक्ष महावीर भवन जयपुर के सौजन्य से प्राप्त हुई थीं, जिनके लिए मैं उनका आभारी हूँ। जयपुर में जहाँ अनेक अच्छे बड़े शास्त्रभण्डार हैं, इस ग्रन्थ की दूसरी कोई प्रति उपलब्ध नहीं है, ऐसा उक्त पं० कस्तूरचन्दजी से मालूम हुआ, जिन्होंने जयपुर के सब शास्त्र भण्डारों की सूचियाँ तैयार की हैं और भी बाहर के किसी शास्त्र भण्डार से उन्हें इस ग्रन्थ की प्राप्ति नहीं हुई, ऐसा दरियाफ़्त करने पर मालूम पड़ा।

तीसरी प्रति ब्यावर के ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन से प्राप्त हुई, जिसे पं.प्रकाशचन्दजी ने उक्त भवन से लेकर मेरे पास भेजने की कृपा की थी और मैंने उस पर से १४ दिसम्बर १९६३ को तुलनात्मक नोट्स लिए थे। इस कृपा के लिए मैं उक्त पण्डितजी तथा सरस्वती भवन दोनों का आभारी हूँ। यह प्रति देशी स्यालकोटी जैसे कागज पर लिखी हुई है, जिसकी पत्र-संख्या २५ है, प्रथम पत्र का पहला पृष्ठ खाली है, पत्र के प्रत्येक पृष्ठ पर ९ पंक्तियाँ और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या प्रायः ३२ से ४० तक है। यह प्रति कोटा नगर में पं० दयाराम के द्वारा, जिन्होंने अपना कोई परिचय नहीं दिया, वैशाख शुक्ल एकादशी संवत् १७५९ को लिखकर समाप्त हुई है; जैसा कि प्रति के निम्न अन्तिम अंश से जाना जाता है–

''इत्यमितगतिकृत योगसार तत्त्वप्रदीपिका नवाधिकार समाप्तः।
संवत् १७५९ वर्षे वैशाख शुक्लैकादश्यां कोटानगरे लि. पं० दयारामेन॥''

इस प्रति की लिखावट अच्छी साफ है; परन्तु बहुत कुछ अशुद्ध है। कितनी ही जगह अक्षर छूटे हैं; अन्यथा भी लिखे गये हैं, व-ब, श-स आदिका ठीक भेद नहीं रखा गया। फिर भी इस प्रति में कुछ पाठ ऐसे मिले हैं जो मुद्रित प्रति की अपेक्षा शुद्ध हैं। मोटी अशुद्धियाँ अधिक होने के कारण उनका नोट नहीं लिया गया। अधिकारों के नाम इसमें 'जीवाधिकारः', 'अजीवाधिकारः' आदि रूप से प्रत्येक अधिकार के अन्त में दिये हैं।

इस प्रति तथा आमेर की प्रथम प्रति (नं० ९३६) के अन्त में 'योगसार' के अनन्तर 'तत्त्वप्रदीपिका' नामका प्रयोग देखकर मुझे यह सन्देह हुआ था कि शायद इस ग्रन्थ पर 'तत्त्वप्रदीपिका' नामकी कोई टीका लिखी गयी है और उस टीका पर से यह प्रति उद्धृत की गयी है, इसी से 'तत्त्वप्रदीपिका' का साथ में नामोल्लेख हुआ है, जिसके अन्त का 'यां' शब्द छूट गया है, जो सप्तमी विभक्ति का वाचक था और उससे योगसार की तत्त्व प्रदीपिका टीका में नवमा अधिकार समाप्त हुआ ऐसा अर्थ हो जाता है। अतः मैंने बहुत से दिगम्बर-श्वेताम्बर भण्डारों में पूछ-ताछ आदि के द्वारा उसकी खोज की, परन्तु कहीं से भी उसकी उपलब्धि नहीं हो सकी। दक्षिण कन्नड प्रान्त के भण्डारों में तो यह मूल ग्रन्थ भी नहीं है; जैसा कि पं० के० भुजबली शास्त्री द्वारा संकलित एवं सम्पादित और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित ''कन्नड प्रान्तीय ताड़पत्र ग्रन्थसूची'' से जाना

जाता है। शास्त्रीजी को स्वतः प्रेरित करने पर भी यही पता चला कि इस ग्रन्थ की कोई प्रति उधर के शास्त्र भण्डारों में नहीं है। दिल्ली, अजमेर, आरा, आगरा, सोनागिर, कोड़िया गंज, काँधला, कैराना, प्रतापगढ़, रोहतक, श्रीमहावीरजी, सहारनपुर, केकड़ी, एटा आदिके शास्त्र भण्डारों में भी इसकी कोई हस्तलिखित मूल प्रति नहीं है। श्री डॉ० बेलनकर ने 'जिनरत्नकोश' में इसे 'योगसार' नाम से उल्लेखित किया है और वीतराग अमितगति कृत लिखा है, परन्तु इसकी किसी हस्तलिखित प्रति का कोई उल्लेख नहीं किया मुद्रित प्रति का ही उल्लेख किया है और उसे सनातन जैन ग्रन्थमाला कलकत्ता में नं० १६ पर प्रकाशित व्यक्त किया है। ऐसी स्थिति में ग्रन्थ नाम के साथ 'तत्त्वप्रदीपिका' नामकी योजना का रहस्य अभी तक अन्धकार में ही चला जाता है हल होने में नहीं आया।

एक चौथी प्रति का पता मुझे अपनी उस नोट बुक से चला जिसमें बहुत वर्ष हुए मैंने सेठ माणिकचन्द हीराचन्दजी बम्बई के रत्नाकर पैलेस चौपाटी स्थित शास्त्रभण्डार के प्रशस्ति संग्रह नामक दो रजिस्टरों पर से, जो उक्त भण्डार में स्थित शास्त्रों पर से संकलित किये गये थे, कुछ ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ ७८ पृष्ठों पर उद्धृत की थीं और उसके बाद प्रशस्ति संग्रह के तीसरे रजिस्टर में शास्त्रभण्डार में मौजूद ग्रन्थों की जो सूची दी हुई है उस पर से कुछ खास ग्रन्थों के नामों को भी नोट किया था, जिन की संख्या ४७ है। इस नोटबुक के २३वें पृष्ठ पर इस ग्रन्थ की प्रशस्ति को उद्धृत किया है, जिस में पहला पत्र न होने की सूचना की गयी है और इसलिए मंगल पद्य नहीं दिया जा सका। प्रशस्ति में ग्रन्थ के अन्तिम दो पद्यों के अनन्तर ग्रन्थ को समाप्त करते हुए जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है–

''इति श्रीअमितगतिवीतरागी विरचित नवमधिकारः।

इति वीतराग-अमितगति-विरचितायामध्यात्मतरंगिण्यां नवाधिकाराः समाप्ताः॥'

''संवत् १६५२ वर्षे जेष्टद्वितीयदशम्यां शुक्ले मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बला. गणे श्री कुन्दकुन्दा (चार्यान्वये) भ. श्री पद्मनन्दीदेवास्तत्प. भ. सकल कीर्तिदेवास्तत्प. भ. भुवन कीर्तिदेवास्तत्प. भ. श्री ज्ञानभूषणदेवास्तत्प. भ. विजयकीर्तिदेवास्तत्प. भ. वादिभूषणगुरु तच्छिष्य पं० देवजी पठनार्थम्।''

इस प्रशस्ति से प्रति के लेखन काल और जिनके लिए प्रति लिखी गयी उन पं० देवजी की गुरुपरम्परा के अतिरिक्त दो बातें खास तौर पर सामने आती हैं, एक ग्रन्थ का नाम अध्यात्मतरंगिणी और दूसरे ग्रन्थकार अमितगति का विशेषण 'वीतराग'। यह विशेषण उन के स्वोक्त '**निःसंगात्मा**' और अमितगति द्वितीयोक्त '**त्यक्तनिःशेषसंगः**' विशेषणों को पुष्ट करता है और उन्हें अमितगति प्रथम ही सिद्ध करता है। रही '**अध्यात्म-तरंगिणी**' नाम की बात, उस की पुष्टि कहीं से नहीं होती। मूलग्रन्थ के दोनों अन्तिम पद्यों में ग्रन्थ का साफऔर स्पष्ट नाम 'योगसार-प्राभृत' दिया है; प्रशस्तिसंग्रह के तीसरे रजिस्टर में शास्त्रभण्डार स्थित ग्रन्थों की जो सूची दी है उस में भी 'योगसार'

नाम दिया है, तब यह 'अध्यात्मतरंगिणी' नाम की कल्पना कैसी ? मुद्रित प्रति की सन्धियों में योगसार' के अनन्तर ब्रेकट के भीतर 'अध्यात्मतरंगिणी' नाम दिया है और इस तरह उसे ग्रन्थ का द्वितीय नाम सूचित किया है; परन्तु इस का कोई आधार व्यक्त नहीं किया। 'अध्यात्मतरंगिणी' तो 'तत्त्वप्रदीपिका' की तरह टीका का नाम हो सकता है और इससे ग्रन्थ की 'अध्यात्मतरंगिणी टीका' की भी कल्पना की जा सकती है, परन्तु वह कहीं उपलब्ध नहीं होती और न उसके रचे जाने का कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख ही पाया जाता है। अस्तु।

इस बम्बई-प्रति की प्राप्ति के लिए मैंने बहुत यत्न किया, डॉ॰ विद्याचन्दजी जैन, हीराबाग बम्बई द्वारा सेठ माणिकचन्दजी के उत्तराधिकारियों को बहुत कुछ प्रेरणा की, स्वयं भी पत्र लिखे; परन्तु कोई भी टस से मस नहीं हुआ और न किसी ने शिष्टाचार के तौर पर उत्तर देना ही उचित समझा, सर्वत्र उपेक्षा का ही वातावरण रहा। अन्त में मैंने भारतीय ज्ञानपीठ के मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्रजी को प्रेरित किया कि वे स्वयं बम्बई लिखकर ग्रन्थ की उक्त प्रति को प्राप्त करके मेरे पास भिजवायें, उत्तर में उन्होंने मुझे साहू श्रेयांसप्रसादजी को लिखने की प्रेरणा की, तदनुसार मैंने साहूजी को लिखा और उन्होंने सेठ माणिकचन्दजी के उत्तराधिकारी एवं शास्त्र-भण्डार के अधिकारी को बुलाकर ग्रन्थ को निकालकर देने आदि की प्रेरणा की। अन्त को नतीजा यही निकला और यही उत्तर मिला कि ग्रन्थ शास्त्रभण्डार की सूची में दर्ज तो है। परन्तु मिल नहीं रहा है। इसलिए मजबूरी है। बड़े परिश्रम एवं खर्च से एकत्र किये हुए सेठ माणिकचन्दजी के शास्त्रभण्डार की ऐसी स्थिति को जानकर बड़ा अफसोस हुआ।

ग्रन्थ का संक्षिप्त विषय-परिचय और महत्त्व

यह ग्रन्थ ९ अधिकारों में विभक्त है जिन के नाम हैं–१ जीवाधिकार, २ अजीवाधिकार, ३ आस्रवाधिकार, ४ बन्धाधिकार, ५ संवराधिकार, ६ निर्जराधिकार, ७ मोक्षाधिकार और ८ चारित्राधिकार। नवमे अधिकार को 'नवाधिकार' तथा 'नवमाधिकार' नाम से ही ग्रन्थ-प्रतियों में उल्लेखित किया है, दूसरे अधिकारों की तरह उसका कोई खास नाम नहीं दिया; जब कि ग्रन्थ-सन्दर्भ की दृष्टि से उस का दिया जाना आवश्यक था। वह अधिकार सातों तत्त्वों तथा सम्यक्चारित्र जैसे आठ अधिकारों के अनन्तर 'चूलिका' रूप में स्थित है आठों अधिकारों के विषय को स्पर्श करता हुआ उनकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख करता है और इसलिए उसे यहाँ 'चूलिकाधिकार' नाम दिया गया है। जैसे किसी मन्दिर भवन की चूलिका चोटी उसके कलशादि के रूप में स्थित होती है उसी प्रकार 'योगसार-प्राभृत' नामक ग्रन्थभवन की चूलिका चोटी के रूप में यह नवमा अधिकार स्थित है अतः इसे 'चूलिकाधिकार कहना समुचित जान पड़ता है। ग्रन्थ के 'परिशिष्ट' अधिकाररूप में भी इसे ग्रहण किया जा सकता है।

इन अधिकारों में योग से सम्बन्ध रखने वाले और योग को समझने के लिए अत्यावश्यक जिन विषयों का प्रतिपादन हुआ है वे अपनी खास विशेषता रखते हैं और उनकी प्रतिपादन शैली बड़ी

ही सुन्दर जान पड़ती है, पढ़ते समय जरा भी मन उकताता नहीं, जिधर से और जहाँ से भी पढ़ो, आनन्द का स्त्रोत बह निकलता है, नयी-नयी अनुभूतियाँ सामने आती हैं, बार-बार पढ़ने को मन होता है और तृप्ति नहीं हो पाती। यही कारण है कि कुछ समय के भीतर मैं इसे सौ से भी अधिक बार पूरा पढ़ गया हूँ। इस ग्रन्थ का मैं क्या परिचय दूँ और क्या महत्त्व ख्यापित करूँ, वह सब तो इस ग्रन्थ को पढ़ने से ही सम्बन्ध रखता है। पढ़ने वाले विज्ञ पाठक स्वयं जान सकेंगे कि यह ग्रन्थ जैनधर्म तथा अपने आत्मा को समझने और उसका उद्धार करने के लिए कितना अधिक उपयोगी है, युक्तियुक्त है और बिना किसी संकोच के सभी जैन-जैनेतर विद्वानों के हाथों में दिये जाने के योग्य है; फिर भी मैं यह बतलाते हुए कि ग्रन्थ की भाषा अच्छी सरल संस्कृत है, कृत्रिमता से रहित प्रायः स्वाभाविक प्रवाह को लिए हुए गम्भीरार्थक है और उसमें उक्तियाँ, उपमाओं तथा उदाहरणों के द्वारा विषय को अच्छा बोधगम्य किया गया है, संक्षेप से अपने पाठकों को इसके अधिकारों का कुछ विषय परिचय करा देना चाहता हूँ और वह अधिकार क्रम से इस प्रकार है–

(१) ग्रन्थ के आदि में 'विविक्त' आदि छह विशेषणों के साथ सिद्धसमूह का स्तवनरूप मंगलाचरण किया गया है और उसका उद्देश्य स्वस्वभाव की उपलब्धि बतलाया है–ग्रन्थ के निर्माण का भी उद्देश्य इसी में सम्मिलित है (१)। स्वस्वभाव की उपलब्धि (जानकारी एवं सम्प्राप्ति) के लिए जीव और अजीव के लक्षणों को जानने की प्रेरणा की है; क्योंकि इन दो प्रकार के (चेतन-अचेतन) पदार्थों से भिन्न संसार में तीसरे प्रकार का कोई पदार्थ नहीं, सभी का इन दो में अन्तर्भाव है (२)। इन दोनों जीव-अजीव को वास्तविकरूप में जान लेने से जीव की अजीव में अनुरक्ति तथा आसक्ति न रहकर उस का परिहार बनता है उसे आत्मद्रव्य से बहिर्भूत समझा जाता है (६)–अजीव के परिहार से जीव की अपने में लीनता घटित होती है, आत्मलीनता से राग-द्वेष का क्षय होता है, राग-द्वेष के क्षय से कर्मों के आश्रय का आस्रव-बन्ध का छेद होता है और कर्माश्रय के छेद से निर्वाण का समागम (मुक्तिलाभ) होता है, यही उक्त दोनों तत्त्वों की वास्तविक जानकारी का फल है (३, ४)। इसके बाद जीव के उपयोग, लक्षण और उसके भेद-प्रभेदों का उल्लेख करके केवलज्ञान और केवलदर्शन नाम के दो उपयोगों का कर्मों के क्षय से और शेष उपयोगों का कर्मों के क्षयोपशम से उदित होना लिखा है तथा क्षय से उदित होने वाले ज्ञान-दर्शन की युगपत् और दूसरे सब ज्ञान दर्शनों की क्रमशः उत्पत्ति बतलायी है (१०, ११)। ज्ञानोपयोग में मिथ्याज्ञान का मिथ्यात्व के और सम्यग्ज्ञान का सम्यक्त्व के समवाय से उदय होना बतलाकर दोनों के स्वरूप तथा भेदों का उल्लेख करते हुए मिथ्यात्व को कर्मरूपी बगीचे के उगाने-बढ़ाने के लिए जलदान के समान लिखा है (१३) और सम्यक्त्व को सिद्धि के साधन में समर्थ निर्दिष्ट किया है (१६)।

आत्मा को ज्ञानप्रमाण, ज्ञान को ज्ञेयप्रमाण सर्वगत और ज्ञेय को लोकालोक प्रमाण बतलाकर ज्ञान को आत्मा से अधिक (बड़ा) मानने आदि पर जो दोषापत्ति घटित होती है उसे तथा

ज्ञान की व्यापकता को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है (२०, २१)। ज्ञानज्ञेय को जानता हुआ कैसे ज्ञेयरूप नहीं हो जाता, कैसे उसमें दूरवर्ती पदार्थों को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति है और कैसे वह स्वपर को जानता है, इन सबको स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि क्षायोपशमिक ज्ञान तो विवक्षित कर्मों का नाश हो जाने पर नाश को प्राप्त हो जाता है परन्तु क्षायिकज्ञान जो केवलज्ञान है वह सदा उदय को प्राप्त रहता है कर्मों के नाश से उसका नाश नहीं होता (२२-२५)। इसके बाद केवलज्ञान को त्रिकालगोचर सभी सत्-असत् विषयों को, जिन के स्वरूप का निर्देश भी साथ में किया गया है, युगपत् जानने वाला बतलाकर यह युक्तिपुरस्सर प्रतिपादन किया गया है कि यदि ऐसा न माना जाये तो वह एक भी पदार्थ का पूर्णज्ञाता नहीं बन सकेगा (२६-३०)। इसके पश्चात् घातिकर्मों के क्षय से उत्पन्न आत्मा के परमरूप की श्रद्धा किसको होती है और उसका क्या फल है इसे बतलाते हुए (३१-३२) आत्मा के परमरूप की अनुभूति के मार्ग का निर्देश किया है और उसमें निरवद्य श्रुतज्ञान को भी शामिल किया है (३३, ३४)।

आत्मा के सम्यक्चारित्र कब बनता है, कब उसके अहिंसादिक व्रतभंग हो जाते हैं और कब हिंसादिक पाप उससे पलायन कर जाते हैं, इन सबको दर्शाते हुए (३५-३७) किस ध्यान से कर्मच्युति बनती है, परद्रव्यरतयोगी की क्या स्थिति होती है और निश्चय तथा व्यवहारचारित्र का क्या स्वरूप है, यह सब बतलाया है (३८-४३) और फिर यह निर्देश करते हुए कि आत्मोपासना से भिन्न दूसरा कोई भी निर्वाण-सुख की प्राप्ति का उपाय नहीं है, आत्मा की अनुभूति के उपाय को और आत्मा के शुद्धस्वरूप को दर्शाया है, जो कि कर्म-नोकर्म से विमुक्त, अजर, अमर, निर्विशेष और सर्व प्रकार के बन्धनों से रहित है। इसी से चेतनात्मा जीव के स्वभाव से वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्दादिक नहीं होते। ये सब शुद्ध स्फटिक में रक्त पुष्पादि के योग की तरह शरीर के योग से कहे जाते हैं (४४-५४) राग-द्वेषादिक भी संसारी जीवों के औदयिक भाव हैं, स्वभाव-भाव नहीं; गुणस्थानादि २० प्ररूपणाएँ और क्षायोपशमिक भावरूप ज्ञानादि भी शुद्ध जीव का कोई लक्षण नहीं हैं (५५-५९) अन्त में मुक्ति को प्राप्त करने वाले जीव का क्या रूप होता है उसे साररूप में देकर (५९) प्रथम अधिकार को समाप्त किया गया है।

(२) दूसरे अधिकार में धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्‌गल इन पाँच द्रव्यों के नाम देकर इन्हें 'अजीव' बतलाया है; क्योंकि वे जीव के उपयोग लक्षण से रहित हैं (१)। ये पाँचों अजीव द्रव्य परस्पर मिलते-जुलते, एक-दूसरे को अपने में अवकाश देते हुए कभी भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते (२)। इनमें पुद्‌गल को छोड़कर शेष सब अमूर्तिक और निष्क्रिय हैं। जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की व्यवस्था को अपने में लिए हुए हो उसे 'मूर्तिक' कहते हैं। सारे पुद्‌गल द्रव्य इस व्यवस्था को अपने में लिए हुए हैं, इसीलिए 'मूर्तिक' कहलाते हैं (३)। 'जीव' सहित ये पाँचों 'द्रव्य' कहलाते हैं, क्योंकि द्रव्य के 'गुणपर्ययवद् द्रव्यं' इस लक्षण से युक्त है (४)। इसके बाद

द्रव्य का निर्युक्तिपरक लक्षण देकर सब द्रव्यों को सत्तात्मक बतलाया है और सत्ता का रूप 'ध्रौव्योत्पादलयालीढा' निर्दिष्ट किया है (५-६)। सम्पूर्ण पदार्थ -समूह पर्याय की अपेक्षा से उत्पन्न तथा नष्ट होता है द्रव्य की अपेक्षा से न कभी कोई पदार्थ उत्पन्न होता है और न नष्ट (७)। गुणपर्याय बिना कोई द्रव्य नहीं और न द्रव्य के बिना कोई गुण-पर्याय कहीं पाये जाते हैं (८)। इसके बाद धर्म-अधर्म और एक जीव के प्रदेशों तथा परमाणु से आकाश द्रव्य कैसे अवरुद्ध है इसे बतलाते हुए परमाणु का लक्षण दिया है (९-१०)। सब द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या और उनकी अवस्थिति का निर्देश किया है (११-१३) और फिर शरीरधारी जीवों के प्रदेश कैसे संकोच-विस्तार को प्राप्त होते हैं इसे दर्शाया है, जो कि कर्मनिर्मित है और इसीलिए सिद्धों के संकोच-विस्तार नहीं होता (१४)। इसके बाद द्रव्यों का एक दूसरे के प्रति उपकार-अपकार का निर्देश करते हुए मुक्त जीवों को उससे रहित बतलाया है (१६)। परमार्थ से कोई भी पदार्थ किसी का उपकार-अपकार नहीं करता (१८)।

तदनन्तर पुद्गल के स्कन्ध, देश, प्रदेश और अणु के भेद से चार भेद बतलाकर लोक उनसे कैसे भरा हुआ है, इसे दर्शाया है (१९-२०)। सब द्रव्यों के मूर्त-अमूर्त के भेद से दो भेद करके उनका स्वरूप दिया है और फिर कौन पुद्गल किस के साथ कर्मभाव को प्राप्त होते हैं, कौन उस में हेतु पड़ते हैं, जीव और कर्म में कौन किस का कैसे कर्ता होता है। उपादानभाव से एक-दूसरे के कर्तृत्व में आपत्ति, देहादिरूप से कर्मजनित जितने विकार हैं वे सब अचेतन हैं। मिथ्यात्वादि १३ गुणस्थान भी पौद्गलिक तथा अचेतन हैं, देह-चेतन को एक मानना मोह का परिणाम, जो इन्द्रियगोचर वह सब आत्मबाह्य, जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीवरूप नहीं होता, कर्मोदयादि-सम्भव सब गुण अचेतन; इन सब बातों के निर्देशानन्तर अधिकार को समाप्त करते हुए लिखा है कि जो लोग अजीव-तत्त्व को यथार्थरूप से नहीं जानते वे चारित्रवान् होते हुए भी उस विविक्तात्मा को प्राप्त नहीं होते जो कि निर्दोष है (५०)।

(३) तीसरे अधिकार में यह बतलाते हुए कि मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ जब शुभ या अशुभ उपयोग से वासित होती हैं तो वे सामान्यतः कर्मास्रव की हेतु बनती हैं (१), मिथ्यादर्शनादि के रूप में आस्रव के विशेष हेतुओं का निर्देश किया है, जिनमें पाँच प्रकार की बुद्धियों का निर्देश खासतौर से ध्यान में लेने योग्य है (२-१७)। उन्हीं का कथन करते हुए निश्चय तथा व्यवहार से आत्मा तथा कर्म के कर्तृत्व-भोक्तृत्वपर प्रकाश डाला है, एक को उपादानरूप से दूसरे का कर्ता मानने तथा एक के कर्मफल का दूसरे को भोक्ता मानने पर जो आपत्ति घटित होती है उसे दर्शाया है और कषायस्रोत से आया हुआ कर्म ही जीव में ठहरता है इसे बतलाते हुए निष्कषाय जीव के कर्मास्रव की मान्यता तथा एक द्रव्य का परिणाम दूसरे द्रव्य को प्राप्त होने की मान्यता को सदोष ठहराया है। इसके बाद कषाय उपयोग से और उपयोग कषाय से तथा मूर्तिक अमूर्तिक से और अमूर्तिक मूर्तिक से उत्पन्न नहीं होते (२१) इसे दर्शाते हुए, कषाय परिणाम किसके होते हैं, और

अपरिणामी जीव कौन होता है उसे स्पष्ट किया है (२२-२३)। साथ ही यह निर्धारित किया है कि परिणाम को छोड़कर जीव तथा कर्म के एक-दूसरे के गुणों का कर्तृत्व नहीं बनता (२४-२५)।

तदनन्तर निरन्तर जो ग्राही जीव का, कर्मसन्तति-हेतु अचारित्र का, अचारित्री तथा स्वचारित्र से भ्रष्ट का स्वरूप देते हुए, इन्द्रियजन्य सुख को दु:खरूप में स्पष्ट किया गया है (२७-३६)। साथ ही कोई वस्तु स्वतः कर्मों के आस्रव-बन्ध का कारण नहीं, वस्तु के निमित्त से उत्पन्न हुए दोष ही बन्ध के कारण होते हैं, इसे बतलाते हुए (३९) अन्त में उस जीव का स्वरूप दिया है जो शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति का अधिकारी होता है (४०)।

(४) चौथे अधिकार में बन्ध का लक्षण देकर और उसे जीव की पराधीनता का कारण बतलाकर (१) उसके प्रकृति, स्थिति आदि चार भेदों और उनके स्वरूप का निर्देश करते हुए, कौन जीव कर्म बाँधता है और कौन नहीं बाँधता उस का सोदाहरण स्पष्टीकरण किया है (२-८)। साथ ही अमूर्त आत्मा का मरणादि करने में यद्यपि कोई समर्थ नहीं फिर भी मारणादि के परिणाम से बन्ध होता है, इसे बतलाते हुए (९-१०) मरण-जीवन के प्रश्नपर कितना ही प्रकाश डाला है और तद्विषयक भ्रान्तियों को दूर किया है। इसके बाद रागी, वीतरागी, ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मबन्ध के होने न होने आदि का निर्देश करते हुए उनकी स्थितियों को कुछ प्रदर्शित किया हैं, ज्ञान और वेदन के स्वरूप-भेद को जतलाया है। ज्ञानी जानता है अज्ञानी वेदता है और इसलिए एक अबन्धक, दूसरा बन्धक होता है। पर-द्रव्यगत-दोष से कोई वीतरागी बन्ध को प्राप्त नहीं होता। कौन रागादिक परिणाम पुण्य-पाप-बन्ध के हेतु हैं और पुण्य-पाप की भेदाभेद दृष्टि, इन सबका निरूपण करते हुए अन्त में निवृत्ति-पात्र-योगी का स्वरूप दिया है (४१)।

(५) पाँचवें अधिकार में संवर का लक्षण देकर द्रव्य-भाव के भेद से उसके दो भेदों का उल्लेख करते हुए उनका स्वरूप दिया है–कषायों के निरोध को 'भावसंवर', और कषायों का निरोध होने पर द्रव्यकर्मों के आस्रव-विच्छेद को 'द्रव्यसंवर', बतलाया है (१, २)। कषाय और द्रव्यकर्म दोनों के अभाव से पूर्ण शुद्धि का होना निर्दिष्ट किया है (३)। कषाय-क्षपण में समर्थ योगी का स्वरूप देते हुए (६, ७) उसकी स्थिरता के लिए कुछ उपयोगी उपदेशात्मक प्रेरणाएँ की गयी हैं, जो काफी महत्त्वपूर्ण हैं और जिन्हें संलग्न विषय-सूची से भले प्रकार जाना जा सकता है (८-४५)। इसके बाद सामायिकादि षट् कर्मों में जो भक्तिसहित प्रवृत्त होता है उसके संवर बनता है, इस का निर्देश करते हुए छहों आवश्यक कर्मों का स्वरूप दिया गया है (४६-५३)।

द्रव्यमात्र से जो निवृत्त-भोगत्यागी-उसके कर्मों का संवर नहीं बनता, भाव से जो निवृत्त वह वास्तविक संवर का अधिकारी होता है, इसी से भाव से निवृत्त होने की विशेष प्रेरणा की गयी है (५७-५८)। इसके सिवा शरीरात्मक लिंग-वेष को मुक्ति का कारण न बतलाते हुए सभी अचेतन पदार्थ-समूह को मुमुक्षु एवं संवरार्थी के लिए त्याज्य ठहराया है, उसमें आसक्ति का निषेध किया

है (५९-६०)। और अन्त में उस योगी का स्वरूप दिया है जो शीघ्र कर्मों का संवर करता है (६१)।

(६) छठा अधिकार निर्जरा तत्त्व से सम्बन्ध रखता है, जिस में निर्जरा का लक्षण देकर उसके 'पाकजा', 'अपाकजा' नाम के दो भेदों का उल्लेख करते हुए उनके स्वरूप का निर्देश किया है (१-३)। तदनन्तर परम-निर्जरा कारक ध्यान-प्रक्रम के अधिकारी साधु का स्वरूप दिया है (४-५), संवर के बिना निर्जरा को अकार्यकारी बतलाया है (६) और किस योगी का कौन ध्यान कर्मों को क्षय करता तथा सारे कर्ममल को धो डालता है, किस का तप कार्य कारी नहीं, किस का संयम क्षीण होता है, कौन शुद्धि को प्राप्त नहीं होता, कौन साधु अन्धे के समान है, विविक्तात्मा को छोड़कर अन्योपासक की स्थिति, निर्मल स्वात्मतीर्थ को छोड़कर अन्य को भजने वालों की स्थिति, स्वात्म-ज्ञानेच्छुक के लिए परीषहों का सहना आवश्यक, आत्मशुद्धि का साधन आत्मज्ञान, परद्रव्य से आत्मा स्पृष्ट तथा शुद्ध नहीं होता, आत्म-द्रव्य को जानने के लिए परद्रव्य का जानना आवश्यक, इत्यादि बातों का निर्देश करते हुए अन्त में योगी का संक्षिप्त कार्यक्रम और उस का फल दिया है (५०)।

(७) सातवें अधिकार में 'मोक्ष' तत्त्व का निरूपण करते हुए उस का स्वरूप दिया है और उसे 'अपुनर्भव' नाम से निर्दिष्ट किया है (१)। तदनन्तर आत्मा में केवलज्ञान का उदय कब होता है, दोषमलिन आत्मा में उस का उदय नहीं बनता, शुद्धात्मा के ध्यान बिना मोहादि दोषों का नाश नहीं होता, ध्यान-वज्र से कर्मग्रन्थि का छेद अतीवानन्दोत्पादक इन बातों को बतलाते हुए (२-६) यह सूचित किया है कि किस केवली की कब धर्मदेशना होती है (७, ८)। केवली प्रतिबन्धक का अभाव हो जाने पर किसी भी ज्ञेय-विषय में अज्ञ नहीं रहता (११), देश कालादि का विप्रकर्ष उसके लिए कोई प्रतिबन्धक नहीं (११, १२), ज्ञानस्वभाव के कारण आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी है (१३-१४), केवली किन कर्मों का कैसे नाश कर निर्वृत्ति को प्राप्त होता है (१५), निर्वृत्ति को प्राप्त सुखीभूत आत्मा फिर संसार में नहीं आता (१८), कर्म का अभाव हो जाने से पुनः शरीर का ग्रहण नहीं बनता (१९), ज्ञान को प्रकृति का धर्म मानना असंगत (२०), ज्ञानादि गुणों के अभाव में जीव की कोई व्यवस्थिति नहीं बनती (२१-२२) और बिना उपाय किये बन्ध को जानने मात्र से कोई मुक्त नहीं होता (२३-२४)।

इसी अधिकार में जीव के शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो भेद कर के कर्म से युक्त संसारी जीव को अशुद्ध और कर्म से रहित मुक्तजीव को शुद्ध बतलाया है (२५-२६), शुद्ध जीव को 'अपुनर्भव' कहने के हेतु का निर्देश किया है (२७)। साथ ही मुक्ति में आत्मा किस रूप में रहता है उसे दर्शाया है (२८-२९) और फिर ध्यान का मुख्य फल परब्रह्म की प्राप्ति को बतलाते हुए उस में वाद-प्रतिवाद को छोड़कर महान् यत्न की प्रेरणा की है, विविक्तात्मा के ध्यान को उस की प्राप्ति का उपाय बतलाया है (३०-३४); ध्यानविधि से कर्मों का उन्मूलन कैसे होता है इसे बतलाते हुए ध्यान की महिमा का कुछ कीर्तन (३५-३७) किया है और अध्यात्म-ध्यान से भिन्न सिद्धि का कोई दूसरा

सदुपाय नहीं (४०) इसे दर्शाते हुए उक्त ध्यान की बाह्य सामग्री का निर्देश किया है (४१)। साथ ही ध्यान-प्राप्ति के लिए बुद्धि का आगम, अनुमान और ध्यानाभ्यास रस से संशोधन आवश्यक बतलाया है (४२), आत्मध्यान रति को विद्वत्ता का परमफल और अशेष शास्त्रों के शास्त्रीपन को 'संसार' घोषित किया है (४६)। मूढ़चित गृहस्थों और अध्यात्मरहित पण्डितों के संसार का रूप भी निर्दिष्ट किया है (४४)। जो कर्मभूमियों में मनुष्यता और उत्कृष्ट ज्ञानबीज को पाकर भी सद्ध्यान की खेती करने में प्रवृत्त नहीं होते उन्हें 'अल्पबुद्धि' बतलाया है। साथ ही ऐसे मोही विद्वानों की स्थिति का कुछ निर्देश भी किया है (४५-४९)। और फिर ध्यान के लिए तत्त्वश्रुति की उपयोगिता बतलाते हुए भोगबुद्धि को त्याज्य और तत्त्वश्रुति को ग्राह्य प्रतिपादित किया है (५०-५१)। अन्त में ध्यान के शत्रु कुतर्क को मुमुक्षुओं के लिए त्याज्य बतलाते हुए (५२-५३) मोक्षतत्त्व का सार दिया है (५४)।

(८) आठवें अधिकार में उस चारित्र का निरूपण है जो मुमुक्षु के लिए आवश्यक है। सात तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जान लेने के अनन्तर जिस के अन्तरात्मा में मोक्षप्राप्ति की सच्ची एवं तीव्र इच्छा जागृत हो उस विवेक-सम्पन्न मुमुक्षु को घर-गृहस्थी का त्याग कर 'जिनलिङ्ग' धारण करना चाहिए (१), यह बात बतलाते हुए जिनलिंग का स्वरूप दिया है, उस को किस गुरु से कैसे प्राप्त कर के श्रमण बनना चाहिए (४-५) इस का निर्देश करते हुए श्रमणों के २८ मूल गुणों के नाम दिये हैं, जिन्हें योगी को निष्प्रमादरूप से पालन करना चाहिए (६), जो उनके पालने में प्रमाद करता है उस योगी को 'छेदोपस्थापक' बतलाया है (८)। साथ ही श्रमणों के दो भेद 'सूरि', 'निर्यापक' का उल्लेख करके उनका स्वरूप दिया है। (९), चारित्र में छेदोत्पत्ति होने अथवा दोष लगने पर उस की प्रतिक्रिया बतलायी है (१०-११)। निराकृतछेद होने पर यति को विहार का पात्र ठहराया है (१२), पूर्ण श्रमणता की प्राप्ति किस को होती है। इसे बतलाते हुए ममतारहित, प्रमादचारी, यत्नाचारी तथा परपीडक ज्ञानी साधुओं की चर्या एवं प्रवृत्तियों का कुछ उल्लेख किया है (१३-१७) और इसके बाद भवाभिनन्दी मुनियों का स्वरूप देकर उनकी कुछ प्रवृत्तियों का उल्लेखादि किया है (१८-२०)।

अयत्नचारी-प्रमादी साधु जीव का घात न होने पर भी हिंसा का भागी और प्रयत्नचारी-अप्रमादी साधु जीव का घात होने पर भी रंचमात्र बन्ध का भागी नहीं (२८-३०), इसे बतलाते हुए दोनों की चर्या पर कुछ प्रकाश डाला गया है (३१-३२) और परिग्रह से ध्रुव बन्ध के होने का निर्देश करके एक भी परिग्रह का त्याग किये बिना चित्तशुद्धि का न होना तथा चित्तशुद्धि के अभाव में कर्मविच्युति का न बन सकना, इन दोनों को दर्शाया है (३४-३५)। तदनन्तर जो साधु 'सूत्रोक्त' कहकर कुछ वस्त्र-पात्रादि का ग्रहण करते हैं उनकी उस चर्या को सदोष ठहराया है (३६-४२)। साथ ही स्त्रियों के जिनलिंग-ग्रहण की योग्यता का अभाव सूचित किया है (४३-५०) और जो पुरुष जिनलिंग को धारण करने के योग्य हैं उनका स्वरूप दिया है तथा उन व्यङ्गों-भङ्गों का स्वरूप

भी दिया है जो जिनलिंग के ग्रहण में बाधक है (५१-५४)। इसके बाद श्रमण का रूप उसे 'सम-मानस' बतलाते हुए दिया है (५५) और श्रमणों में 'अनाहार' तथा 'केवलदेह' श्रमणों का स्वरूप देते हुए (५६-५८) उनकी भिक्षाचर्या का निर्देश किया है, जिस में मधु-मांसादि को युक्तिपुरस्सर वर्जित ठहराया है (५९-६३)। दूसरी भी चर्या-विषयक कुछ विशेषताओं का उल्लेख करके (६४-६७) साधु के आगमज्ञान की विशेषता एवं उपयोगिता को दर्शाया है (६८-७८)।

अनुष्ठान के समान होने पर भी परिणाम के भेद से फल में भेद होता है और वह परिणाम राग-द्वेषादि के भेद से तथा फल का उपभोग करने वाले मनुष्यों की बुद्धि के भेद से बहुधा भेदरूप परिणमता है (७९, ८०) ऐसा निर्देश करते हुए बुद्धि, ज्ञान और असम्मोह के भेद से सारे कर्मों को भेदरूप प्रतिपादित किया है; इन्द्रियाश्रित ज्ञान को बुद्धि' आगमपूर्वक ज्ञान को 'ज्ञान' और वही ज्ञान जब सदनुष्ठान को प्राप्त होता तो उसे 'असम्मोह' बतलाया है (८१-८२)। साथ ही बुद्धयादिपूर्वक कर्मों के फलभेद की दिशा को सूचित करते हुए बुद्धिपूर्वक कार्यों को संसारफल के प्रदाता, ज्ञानपूर्वक कार्यों को मुक्तिहेतुक और असम्मोहपूर्वक कार्यों को निर्वाण-सुख के प्रदाता लिखा है (८३-८६)। इसके बाद भवातीत-मार्गगामियों का स्वरूप देकर उनके मार्ग को सामान्य की तरह एक ही प्रतिपादित किया है, शब्दभेद के होने पर भी निर्वाण-तत्त्व को एक ही निर्दिष्ट किया है तथा उसे तीन विशेषणों से युक्त बतलाया है और यह घोषित किया है कि असम्मोह से ज्ञात निर्वाणतत्त्व में कोई विवाद नहीं होता (८७-९३)। साथ ही निर्वाण-मार्ग की देशना के विचित्र होने का कारण भी निर्दिष्ट किया है। (९४)।

अन्त में इस सब चारित्र को व्यवहार से मुक्ति का हेतु और निश्चय से विविक्त चेतना के ध्यान को मुक्तिहेतुक बतलाते हुए व्यवहारचारित्र के दो भेद किये हैं-एक निर्वृत्ति के अनुकूल और दूसरा संसृति के अनुकूल। जो निर्वृत्ति के अनुकूल है वह जिनभाषित और जो संसृति के अनुकूल है वह पर-भाषित चारित्र है (९५-९७)। जिनभाषित व्यवहारचारित्र निर्वृत्ति के अनुकूल कैसे है, इसे बतलाते हुए यह स्पष्ट घोषणा की है कि इस व्यवहारचारित्र के बिना निश्चय चारित्र नहीं बनता (९८-९९), साथ ही इस चारित्र का अनुष्ठाता योगी कैसे सिद्धि-सदन को प्राप्त होता है उस की स्पष्ट सूचना भी की हैं (१००)।

इस अधिकार में अन्य अधिकारों की अपेक्षा उपमाओं तथा उदाहरणों का अच्छा प्राचुर्य है, जिस से विषय रोचक तथा सहज बोधगम्य बन गया हैं। ग्रन्थ कार की निर्भीकता और स्पष्टवादिता का भी पद-पद पर दर्शन होता है।

(९) नवमे अधिकार में मुक्तात्मा की सदा आनन्दरूप स्थिति का उल्लेख करते हुए यह सहेतुक बतलाया है कि उसके चेतनस्वभाव का कभी नाश नहीं होता और न वह कभी निरर्थक ही होता है (१-८)। इसके बाद योगी के योग का लक्षण देकर (१०) योग से उत्पन्न सुख की विशिष्टता,

सुख-दुःख का संक्षिप्त लक्षण और उस लक्षण की दृष्टि से पुण्य से उत्पन्न होने वाले भोगों को भी दुःख रूप निर्दिष्ट किया है (११-१३)। भोग का स्वरूप दिया है (१५), संसार को आत्मा का महान् रोग बतलाया है और उस रोग से छूट जाने पर मुक्तात्मा की जैसी कुछ स्थिति होती है वह फिर संसार में नहीं आता और न अज्ञता को ही धारण करता है-उसे दर्शाया है (१५-१९)। साथ ही भोग-विषय पर और उसके भोक्ता ज्ञानी तथा मोही जीव की स्थितिपर अच्छा प्रकाश डाला है (२०-२१)। भोग संसार से सच्चा वैराग्य कब बनता है और निर्वाण तत्त्व में परम भक्ति के लिए क्या कुछ कर्तव्य है उसे भी दर्शाया है (२७-२९)। और भी बहुत-सी आवश्यक रोचक एवं उपयोगी बातों का निर्देश किया है, जिन्हें पिछले अधिकारों में यथेष्टरूप से नहीं बतलाया जा सका और जिन्हें संलग्न 'विषयसूची' से, जो अच्छे विस्तृतरूप में दी गयी है, भले प्रकार जाना जा सकता है। अन्त में किनका जन्म और जीवन सफल है उसे बतलाते हुए ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार के अभिप्रेतरूप में प्रशस्ति दी गयी हैं, जिसमें प्रस्तुत ग्रन्थ योगसार-प्राभृत के एकाग्रचित्त से पढ़ने के फल का भी निर्देश है (८२-८४)।

ग्रन्थ का पूर्वानुवाद और उसकी स्थिति

इस ग्रन्थ पर संस्कृत की कोई टीका उपलब्ध नहीं है। कुछ प्रतियों के हाशियों पर जो थोड़े-से टिप्पण पाये जाते हैं वे किसी-किसी शब्द का अर्थ द्योतन करने के लिए कतिपय पाठकों द्वारा अपने-अपने उपयोगार्थ नोट किये हुए जान पड़ते हैं और किसी एक ही विद्वान् की कृति मालूम नहीं होते, इसी से उनमें सर्वत्र एकरूपता नहीं है। इन टिप्पणियों के कितने ही नमूने ग्रन्थ की उन पाद-टिप्पणियों में दिये गये हैं जो पाठान्तरों की सूचना आदि से भिन्न हैं।

हाँ, ग्रन्थ पर अर्थ-भावार्थ के रूप में हिन्दी का एक पूर्वानुवाद जरूर उपलब्ध है, जो मुद्रित प्रति के साथ प्रकाशित हुआ है, इस मुद्रित प्रति का परिचय ग्रन्थ-प्रतियों के परिचय में सबसे पहले दिया जा चुका है। यह अनुवाद पं० गजाधरलालजी न्यायतीर्थकृत है और आज से ५० वर्ष पहले निर्मित होकर सन् १९१८ में मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित हुआ है। इस अनुवाद के प्रस्तुत करने में पण्डितजी ने कितना ही परिश्रम किया जान पड़ता है, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। परन्तु भाषा, लेखन शैली और प्रतिपादन-पद्धति आदि की दृष्टि से वह ग्रन्थ-गौरव के अनुरूप नहीं बन पड़ा। अर्थ की गलतियाँ भी उसमें कितनी ही रही हुई हैं, जिनमें से कुछ तो प्रायः मूलपाठ की अशुद्धियों के कारण हुई जान पड़ती हैं, अनुवादकजी को ग्रन्थ की एक ही प्रति प्राप्त होने से मूल का ठीक संशोधन उससे नहीं बन सका और इसलिए अनुवाद में वैसी गलतियों का होना प्रायः स्वाभाविक रहा। मूलपाठ की ऐसी अशुद्धियों को प्रस्तुत भाष्य में तुलनात्मक टिप्पणियों द्वारा 'मू' अक्षर के अनन्तर दिये हुए पाठान्तरों से जाना जा सकता है तथा उनसे होने वाले अर्थ भेद को समझा जा सकता है। ऐसे अशुद्ध पाठों के कुछ नमूने उदाहरण के तौर पर उनके शुद्धरूप-सहित नीचे दिये

जाते हैं।

अधिकार	पद्य	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
१	३४	केवलेनैव बुध्यते	केवलेनेव बुध्यते
२	१२	एकैकाव्यतिरिक्तास्ते	एकैका व्यवतिष्ठन्ते
३	१८	अचेतनत्वमज्ञत्वात्	अचेतनत्वमज्ञात्वा
३	४०	ज्ञायंते	त्यज्यंते
४	१	जीवस्वातंत्र्यकारणं	जीवाऽस्वातंत्र्यकारणं
४	११	मारणादिकमात्मनः	मरणादिकमात्मनः
७	११	ज्ञानी ज्ञेयो भवत्यज्ञो	ज्ञानी ज्ञेये भवत्यज्ञो
८	२२	मुक्तेरासन्नभावेन	मुक्तेरासन्नभव्येन
८	४८	श्रवणं	स्रावणं
९	४	ज्ञानात्मके न चैतन्यं	ज्ञानात्मकत्वे चैतन्ये
९	८२	शिवमयं	शममयं

दूसरे प्रकार की गलतियाँ अर्थ का ठीक प्रतिभास न होने से सम्बन्ध रखती हैं। उनमें कुछ ऐसी हैं जिनमें कतिपय शब्दों का अर्थ ही छोड़ दिया गया है; जैसे पद्य ७/४७ में 'सांप्रतेक्षणाः' पद का और पद्य ८/९ में 'निर्यापकाः' पद का कोई अर्थ ही नहीं दिया–उन्हें अर्थ में ग्रहण ही नहीं किया। कुछ ऐसी हैं जिनमें शब्दों का गलत अर्थ प्रस्तुत किया गया है; जैसे पद्य नं॰ ३/५० में 'विधिना विभक्तं' शब्दों का अर्थ 'सर्वथा भिन्न', ४।१५ में 'कर्पटं' का अर्थ 'वस्त्र' की जगह 'सुवर्ण', ८।१८ में 'संज्ञावशीकृतः' का अर्थ 'आहारादि चतुर्विध संज्ञाओं के वशीभूत के स्थान पर 'अभिमान के वशीभूत', ९।४५ में 'तज्ज्योतिः परमात्मनः' का अर्थ 'वह आत्मा की परं ज्योति' के स्थान पर 'वह परमात्मा का प्रकाश है और ९।६५ में प्रयुक्त 'स्वार्थव्यावर्तिताक्षः' पद का अर्थ 'जिसकी आत्मा परमार्थ से विमुख हैं' ऐसा दिया है, जबकि वह इन्द्रियों को उनके विषयों से अलग रखने वाला अथवा रखता हुआ होना चाहिए था। इसके सिवा दो पद्यों को उनके गलत तथा समुचित अर्थ के साथ भी नमूने के तौर पर यहाँ दिया जाता है, जिससे अर्थ का ठीक प्रतिभास न होने को और भी अच्छी तरह से समझा जा सकता है। साथ ही अनुवाद की भाषा, लेखन-शैली और प्रतिपादन-पद्धति को भी कुछ समझा जा सकता है–

आत्मना कुरुते कर्म यद्यात्मा निश्चितं तदा।
कथं तस्य फलं भुंक्ते स दत्ते कर्म वा कथम्॥ २-४८॥

(गलत अर्थ) ''यदि यह बात निश्चित है कि आत्मा स्वयं कर्मों का कर्ता है तो वह कर्मों के

फल को क्यों भोगता है ? वा कर्म भी उसे क्यों फल देते हैं ?''

(समुचित अर्थ) ''यदि यह निश्चित रूप से माना जाये कि आत्मा आत्मा के द्वारा अपने ही उपादान से कर्म को करता है तो फिर वह उस कर्म के फल को कैसे भोगता है ? और वह कर्म (आत्मा को) फल कैसे देता है? दोनों के एक ही होने पर फलदान और फलभोग की बात नहीं बन सकती ?''

जायन्ते मोहलोभाद्या दोषा यद्यपि वस्तुतः।
तथापि दोषतो बन्धो दुरितस्य न वस्तुतः॥३-३९॥

(गलत अर्थ) ''यद्यपि मोह-लोभ आदि दोषों की उत्पत्ति निश्चय से होती है तथापि दोषों से जो आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता है वह निश्चय नय से नहीं।''

(समुचित अर्थ) ''यद्यपि वस्तु के-परपदार्थ के-निमित्त से मोह तथा लोभादिक दोष उत्पन्न होते हैं तथापि कर्म का बन्ध उत्पन्न हुए दोष के कारण होता है न कि वस्तु के कारण परपदार्थ बन्ध का कारण नहीं, उसे बन्ध का कारण मानने से किसी का भी बन्ध से छूटना नहीं बन सकता।''

इस प्रकार यह पूर्वानुवाद की स्थिति का कुछ दिग्दर्शन है। अनुवाद की ऐसी त्रुटियों आदि को देखते हुए मुझे वह ग्रन्थ-गौरव के अनुरूप नहीं जँचा और इसलिए ग्रन्थ के महत्त्व को ख्यापित करने तथा लोकहित की दृष्टि से उसे प्रचार में लाने के उद्देश्य से मेरा विचार ग्रन्थ का समुचित भाष्य रचने की ओर हुआ है। मैं उसमें कहाँ तक सफल हो सका हूँ, इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

योगसार नाम के दूसरे ग्रन्थ

'योगसार' नाम के कुछ दूसरे ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, जिनमें एक परमात्मप्रकाश के कर्ता योगीन्दुदेव कृत है, जिसे ग्रन्थ में 'जोगिचन्द' लिखा है। यह अपभ्रंश भाषा के १०८ दोहों में अध्यात्म-विषयक उपदेश को लिए हुए है और परमात्मप्रकाश के साथ डॉ॰ ए॰ एन॰ उपाध्ये एम॰ ए॰, डी॰ लिट्॰ कोल्हापुर द्वारा सम्पादित होकर श्रीमद्राजचन्द जैन शास्त्रमाला में पं॰ जगदीशचन्द्रजी शास्त्री के हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है। दूसरा ग्रन्थ 'योगसार-संग्रह' नाम से उक्त डॉ॰ ए॰ एन॰ उपाध्ये के द्वारा सम्पादित होकर माणिकचन्द दिगम्बर जैन माला में प्रकाशित हुआ है। यह संस्कृत में श्रीगुरुदास की कृति है जो कि श्रीनन्दी गुरु के शिष्य थे। ये श्रीनन्दीगुरु श्रीनन्दनन्दि के शिष्य जान पड़ते हैं, जिनके पूर्व विशेषण रूप में 'श्रीनन्दनन्दिवत्सः' पद दिया हुआ है, जो कि 'श्रीनन्दनन्दिवत्स'-होना चाहिए। इस ग्रन्थ की पद्य संख्या १५८ है, जिनमें योग-विषयक कथन है, ध्यानों का स्वरूप है, मंत्रों के ध्यान की विधि और ध्यान को दृढ़ करने वाली द्वादश भावनाओं आदि का कथन है। तीसरा 'योगसार' नाम का संस्कृत ग्रन्थ अज्ञातकर्तृक है। इसमें पाँच प्रस्ताव और २०६ पद्य हैं। प्रस्तावों के नाम हैं-१. यथावस्थितदेवस्वरूपोपदेशक, २. तत्त्वसारोपदेशक, ३. साम्योपदेशक,

४. सत्त्वोपदेशक, ५ भावशुद्धिजनकोपदेशक, इस तरह यह अध्यात्म-विषय का एक अच्छा औपदेशिक ग्रन्थ है और गुजराती अनुवाद के साथ जैन साहित्य विकास मण्डल बम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

इन तीनों योगसार नामक ग्रन्थों में से एक भी योगसार-प्राभृत के जोड़ का नहीं। योगसार-प्राभृत की पद्य-संख्या भी सब से अधिक ५४० है।

उपसंहार और आभार

प्रस्तावना को समाप्त करते हुए, सबसे पहले, मैं उन ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का आभार मानता हूँ जिनका भाष्य में उपयोग हुआ है अथवा जिनके वाक्यों से भाष्य को समृद्ध करके अधिक उपयोगी बनाया गया है। दूसरे, पं० दीपचन्दजी पांड्या केकड़ी (अजमेर) का आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने दूसरे अधिकार से लेकर अन्त तक के सब पद्यों को प्राय: एक-एक करके कापियों के एक-एक पृष्ठ पर लिख दिया और इससे मुझे उनका अनुवाद करने में बड़ी सुविधा तथा सहायता मिली और वह कोई एक महीने में ही ३१ मई, १९६४ को सम्पन्न हो गया। इसके बाद व्याख्या का कार्य ११ जून, १९६४ को आरम्भ होकर यथावकाश चलता रहा और ३१ जुलाई, १९६५ को पूरा हो गया। भाष्य के पूरा हो जाने पर उसकी प्रेस कापी की चिन्ता खड़ी हुई, दो-एक विद्वानों से पत्र व्यवहार किया गया, उन्होंने आने की स्वीकारता भी दी, परन्तु अन्त को कोई भी नहीं आ सका और इससे प्रेस कापी का कार्य बराबर टलता रहा। यह देखकर और मेरी अस्वस्थतादि को मालूम कर के चिरंजीव डॉ० श्रीचंद ने अनुरोध किया कि प्रेस कापी का काम मुझे दिया जाये, बाद में आप उस का सुधार कर लेवें। उन्होंने सन् १९६७ में प्रेस कापी की (जो २ सितम्बर, १९६७ को प्रेस भेजी गयी) और अच्छी कापी की, जिसमें मुझे सुधार के लिए विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ा, इसलिए वे आभार के पात्र हैं। यद्यपि वे अपने हैं और अपनों का आभार प्रदर्शित करने की जरूरत नहीं होती; फिर भी चूँकि उन्होंने बहुत हिम्मत का काम किया है और मुझे निराकुल बनाया है, इसलिए मैं उनका आभार मानना अपना कर्तव्य समझता हूँ। अन्त में भारतीय ज्ञानपीठ और उसके मंत्री श्री लक्ष्मीचन्दजी का आभार प्रकट किये बिना भी मैं नहीं रह सकता, जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ को अपने यहाँ से प्रकाशित करने की स्वीकारता देकर और प्रकाशित करके मुझे अनुगृहीत किया है।

एटा, आषाढ़ कृ० ५ सं० २०२५ **जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'**

१५ जून, १९६८

अनुक्रमणिका

१.जीवाधिकार

२. अजीवाधिकार

३. आस्रवाधिकार

४. बन्धाधिकार

५. संवराधिकार

६. निर्जराधिकार

७. मोक्षाधिकार

८. चारित्राधिकार

९. चूलिकाधिकार

श्रीमदमितगति-नि:संगयोगिराज-विरचित

योगसार प्राभृत

(परमागमसार अथवा स्वसिद्धि-सुखाधार)

अर्हं

भाष्य का मंगलाचरण

योगानल में जला कर्म-मल, किया जिन्होंने आत्म-विकास,
भव-बन्धन से छूट निराकुल करते जो लोकाग्र-निवास।
उन सिद्धों को सिद्धि-अर्थ मैं वन्दूँ धार हृदय उल्लास,
मंगलकारी ध्यान जिन्हों का, महागुणों के जो आवास ॥१॥

मोह-विघ्न-आवरण नाश जिन, पाया केवलज्ञान अपार,
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का दिया परम उपदेश उदार।
जिनकी दिव्यध्वनि से जग में तीर्थ प्रवर्ता हुआ सुधार,
उन अर्हंतों को प्रणमूँ मैं भक्ति-भाव से बारंबार ॥२॥

योग-सार-प्राभृत है अनुपम, सिद्धि-सौख्य का जो आधार,
तत्त्वों का अनुशासन जिसमें, कहें जिसे 'परमागम-सार'।
योगिराज-नि:संग-अमितगति-रचित जिनागम के अनुसार,
व्याख्या सुगम करूँ मैं उसकी, निज-पर के हित को उर धार ॥३॥

विविक्तात्म-परिज्ञानं योगात् संजायते यतः।
स योगी योगिभिर्गीतो योग-निर्धूत-पातकैः॥

–अमितगति योगिराज

त्वदीयं वस्तु भो योगिन्!
तुभ्यमेव समर्पितम्

हे निःसंग–योगिराज आचार्यवर श्री अमितगति! आपका यह महान् उपकारी ग्रन्थरत्न 'योगसार-प्राभृत' आज से कोई छह वर्ष पहले उस समय मेरे विशेष परिचय में आया जबकि मैं आचार्यश्री रामसेन के तत्त्वानुशासन (ध्यानशास्त्र) पर भाष्य लिख रहा था। इसके गुणों ने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया, जिससे बार–बार पढ़ने की प्रेरणा मिली। इसके साथ हिन्दी का जो पूर्वानुवाद प्राप्त हुआ वह अनेक दृष्टियों से मुझे ग्रन्थ–गौरव के अनुरूप नहीं जँचा और इसलिए हृदय में यह भावना उत्पन्न हुई कि इस पर भी तत्त्वानुशासन की तरह भाष्य लिखा जाना चाहिए, जो कि भाषा की सरलता एवं अर्थगम्भीरता आदि की दृष्टि से तत्त्वानुशासन के समकक्ष हो और विषय की दृष्टि से दोनों एक दूसरे के पूरक हो। तदनुसार ही यह भाष्य रचा गया है। इसमें चूँकि आपके ही विचारों का प्रतिबिम्ब एवं कीर्तन है अतः यह वास्तव में आपकी ही वस्तु है और इसलिए आपको ही सादर समर्पित है।

वि० सं० १६६८

विनीत

जुगलकिशोर

मूल का मंगलाचरण और उद्देश्य

विविक्तमव्ययं सिद्धं स्व-स्वभावोपलब्धये।
स्व-स्वभाव-मयं बुद्धं ध्रुवं स्तौमि विकल्मषम्॥१॥

अर्थ—मैं अपने स्वभाव की उपलब्धि के लिए—जानकारी एवं संप्राप्ति के अर्थ—उस सिद्ध को सिद्धि को प्राप्त सिद्धसमूह को स्तुतिगोचर करता हूँ अपनी उपासना का विषय (उपास्य) बनाता हूँ—जो विविक्त है—शुद्ध है, कषायादि मल से रहित है, बोध को प्राप्त है, अविनाशी है, नित्य है और स्वस्वभावमय है, सदा अपने स्वरूप में स्थित है।

व्याख्या—यह पद्य सिद्धसमूह की स्तुतिरूप है। एकवचनात्मक 'सिद्धं' पद यहाँ सिद्ध समूह का वाचक है; क्योंकि सिद्ध कोई एक नहीं है, अनेकानेक हैं; जैसा कि पूर्वाचार्यों के ''वंदित्तु सव्वसिद्धे[1], सिद्धानुद्धूतकर्मप्रकृतिसमुदयान्[2]'' जैसे बहुवचनान्त—पदों के प्रयोग से जाना जाता है। उस सिद्धसमूह में प्रत्येक सिद्ध उन विशेषणों से विशिष्ट है जिनका 'विविक्तं' आदि छह विशेषण-पदों के द्वारा यहाँ स्मरण किया गया है। इन विशेषणों में 'विविक्त' विशेषण प्रमुख तथा गूढ़—गम्भीर है, सर्व प्रकार के मिश्रण—मिलाव और सम्बन्ध से रहित शुद्ध एवं खालिस आत्मा का द्योतक है। 'विकल्मष' विशेषण राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभादिरूप विकारों मलों के अभाव का सूचक है और इस तरह सिद्धात्मा की उस शुद्धता को स्पष्ट करता है। 'बुद्ध' विशेषण उस मल रहित शुद्ध आत्मा को ज्ञानरूप प्रकट करता है जो कि मल के अभाव का फल है—ज्ञान से भिन्न शुद्ध आत्मा का कोई दूसरारूप नहीं है, इसी से आत्मा को ज्ञान तथा ज्ञान प्रमाण कहा गया है।[3] 'अव्यय' विशेषण अच्युत का वाचक है और इस बात को बतलाता है कि वह सिद्धात्मा अपने इस शुद्ध-बुद्ध स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता, सिद्धपर्याय को छोड़कर भव या अवतार धारणादि के रूप में कभी संसारी नहीं बनता और न उसमें कभी कोई विक्रिया ही उत्पन्न होती है।[4] 'ध्रुव' विशेषण इस बात का व्यंजक है कि सिद्ध का आत्मा सदा स्थिर रहता है, कभी उसका अभाव नहीं होता और 'स्वभावमय' विशेषण सिद्धात्मा के उक्त सबरूप को उसका स्वभाव व्यक्त करता है, जिसका कर्ममल के सम्बन्ध से तिरोभाव हो रहा था और जिसको सिद्ध करके ही यह आत्मा सिद्धि को प्राप्त सिद्धात्मा बनता है। इसी से सिद्धि का लक्षण 'स्वात्मोपलब्धि[5]' कहा गया है। ये सब विशेषण जिसमें घटित नहीं होते, वह सिद्ध या सिद्धसमूह यहाँ विवक्षित नहीं है।

'स्तौमि' पद के द्वारा स्तुति-वन्दना के रूप में जिस उपासना का यहाँ उल्लेख है उसका उद्देश्य भी 'स्वस्वभावोपलब्धये' पद के द्वारा साथ में दे दिया गया है, जो यह व्यक्त करता है कि स्वस्वभाव

१. समयसार १, २. सिद्धभक्ति १, ३. प्रवचनसार ३, ४. जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के इस वाक्य से प्रकट है—काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या। उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः॥ समी॰ धर्म॰ १३३। ५. सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः—सिद्धभक्ति १।

में स्थित सिद्धसमूह की मेरी यह उपासना स्वस्वभाव की आत्मा के वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति के लिए है और यह ठीक ही है, जो आत्मसाधन कर अपने शुद्ध-बुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, उसी की उपासना-आराधना से तद्विषयक सिद्धि की प्राप्ति होती है। इसी भाव को लेकर मोक्षशास्त्र के ''मोक्षमार्गस्य नेतारं'' इत्यादि मंगल-पद्य में ''वन्दे तद्गुणलब्धये'' इस वाक्य की सृष्टि हुई है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि स्वभाव का तो कभी अभाव नहीं होता, वह सदा वस्तु में विद्यमान रहता है; तब यह स्वभाव की उपलब्धि कैसी ? और उसके लिए प्रयत्न कैसा ? इसके उत्तर में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि यह ठीक है कि स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता परन्तु उसका तिरोभाव (आच्छादन) होता तथा हो सकता है और वह उन्हीं जीव-पुद्गल नाम के दो द्रव्यों में होता है, जो वैभाविक परिणमन को लिए हुए होते हैं। आत्मा के वैभाविक परिणमन को सदा के लिए दूरकर उसे उसके शुद्धस्वरूप में स्थित करना ही 'स्वस्वभावोपलब्धि' कहलाता है, जिसके लिए प्रयत्न का होना आवश्यक है।

इस पद्य में ग्रन्थ के निर्माण की कोई प्रतिज्ञा नहीं है, अगले पद्य में भी उसे दिया नहीं गया। फिर भी 'स्वस्वभावोपलब्धये' पद में सिद्धसमूह की उपासना का जो उद्देश्य संनिहित है, वही इस ग्रन्थ के निर्माण का भी लक्ष्यभूत है और वह है आत्मा के शुद्धस्वरूप की ज्ञप्ति (जानकारी) और संप्राप्ति, जिसको प्रदर्शित करने के लिए ग्रन्थ के अन्त तक पूरा प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि जो इस योगसार प्राभृत को एकचित्त हुआ एकाग्रता से पढ़ता है वह अपने स्वरूप को जानकर तथा सम्प्राप्त कर उस परम पद को प्राप्त होता है, जो सांसारिक दोषों से रहित है और इसलिए उक्त उद्देश्यात्मक पद में ग्रन्थ विषय के निर्माण की प्रतिज्ञा भी शामिल है। ग्रन्थ के नाम में, जिसे अन्त के दो पद्यों में व्यक्त किया गया है, जो 'योग' शब्द पड़ा है उसके लक्षण अथवा स्वरूप निर्देश से भी इसका समर्थन होता है, जिसमें बतलाया है कि-''जिस योग से सम्बन्ध विशेषरूप ध्यान से विविक्तात्मा का परिज्ञान होता है, उसे उन योगियों ने 'योग' कहा है, जिन्होंने योग के द्वारा पापों को-कषायादि मल को आत्मा से धो डाला है।[१] और इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके यहाँ योगसार नाम शुद्धात्मरूप समयसार का भी वाचक है।

स्वरूप-जिज्ञासा से जीवाजीव लक्षण को जानने की सहेतुक प्रेरणा

जीवाजीवं द्वयं त्यक्त्वा नापरं विद्यते यतः।
तल्लक्षणं ततो ज्ञेयं स्व-स्वभाव-बुभुत्सया॥२॥

अर्थ-चूँकि (इस संसार में) जीव-अजीव आत्मा-अनात्मा (इन दो मूल तत्त्वों) को छोड़कर

१. विविक्तात्मपरिज्ञानं योगात्संजायते यतः। स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूतपातकैः॥९-१०॥

अन्य कुछ भी विद्यमान नहीं है–सब कुछ इन्हीं के अन्तर्गत है, इन्हीं का विस्तार है–इसीलिए अपने स्वरूप को जानने की इच्छा से इन दोनों का जीव-अजीव का लक्षण जानना चाहिए।

व्याख्या–पहले पद्य में सिद्धसमूह की स्तुति-वन्दनारूप उपासना का और प्रकारान्तर से ग्रन्थ के विषय-प्रतिपादनरूप निर्माण का उद्देश्य स्व-स्वभाव की उपलब्धि बतलाया था। स्वस्वभाव की उपलब्धि का प्रयत्न स्वभाव को जाने-पहचाने बिना नहीं बन सकता। अतः इस पद्य में स्वस्वभाव को जानने के लिए जीव तथा अजीव के लक्षण को जानना चाहिए ऐसा जानने के उपायरूप में निर्देश किया है; क्योंकि जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वों से भिन्न संसार में और कुछ भी विद्यमान नहीं है संसारी सारी वस्तु–व्यवस्था इन्हीं दो मूल तत्त्वों के अन्तर्गत है, इन्हीं दो के भीतर समायी हुई है अथवा इन्हीं का विस्तार है[१], जिन्हें आत्मा-अनात्मा तथा चेतन-अचेतन भी कहा जाता है और अचेतन को 'जड़' नाम से भी निर्दिष्ट किया जाता है।

यहाँ जीव तथा अजीव के गुणों को जानने की बात न कहकर उनके लक्षणों को जानने की जो बात कही गयी है वह अपनी विशेषता रखती है; क्योंकि गुण सामान्य और विशेष दो प्रकार के होते हैं, जिनमें अस्तित्व-वस्तुत्वादि सामान्य गुण ऐसे होते हैं, जो जीव-अजीव दोनों तत्त्वों में समान रूप से पाये जाते हैं, उनको जानने से दोनों की भिन्नता का बोध नहीं होता। विशेष गुण प्रायः बहुत होते हैं, उन सबको जानकर वस्तु तत्त्व का निर्णय करना बहुधा कठिन पड़ता है सहज बोध नहीं हो पाता। विशेष गुणों में जो गुण व्यावर्तक कोटि के होते हैं–परस्पर मिली हुई वस्तुओं में एक दूसरे से भिन्नता का सहज बोध कराने में समर्थ होते हैं, वे ही लक्षण[२] कहे जाते हैं, उन्हीं के जानने की ओर यहाँ 'लक्षण' शब्द के प्रयोग द्वारा संकेत किया गया है।

जीवाजीव–स्वरूप को वस्तुतः जानने का फल

यो जीवाजीवयोर्वेत्ति स्वरूपं परमार्थतः।
सोऽजीव-परिहारेण[३] जीवतत्त्वे निलीयते॥३॥
जीव-तत्त्व-निलीनस्य[४] राग-द्वेष-परिक्षयः।
ततः कर्माश्रयच्छेदस्ततो निर्वाण-संगमः॥४॥

अर्थ–जो वस्तुतः जीव और अजीव दोनों के स्वरूप को–लक्षणात्मक गुणों को जानता है वह अजीव के परिहार द्वारा अजीव तत्त्व को छोड़कर–जीव तत्त्व में निलीन (निमग्न) होता है ॥३॥

---

१. जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः। यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥५०॥ इष्टोपदेश

२. व्युत्कीर्णवस्तु-व्यावृत्ति-हेतुर्लक्षणम्। परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्। (राजवार्तिक)।

३. जो परियाणइ अप्प-परु सो परु चयइ णिभंतु, (योगसार ८२)।

४. मु विलीनस्य।

जो जीव तत्त्व में निलीन होता है उसके राग-द्वेष का नाश होता है; राग-द्वेष के नाश से कर्म-आस्रव का-आस्रव और बन्ध का-विच्छेद (विध्वंस) होता है; कर्म-आस्रव के (आस्रव और बंध के) विच्छेद से निर्वाण का संगम-मोक्ष का समागम (मिलाप) होता है।

व्याख्या—इन दो पद्यों में जीव और अजीव तत्त्वों के लक्षणों को जानने से, उस 'स्वस्वभावोपलब्धि' रूप उद्देश्य की सिद्धि कैसे होती है, इसे संक्षेप में दर्शाया है और इस तरह उक्त दोनों तत्त्वों के पृथक्-पृथक् लक्षण को जानने की उपयोगिता का निर्देश किया है। 'लक्षणं' पद के स्थान पर यहाँ 'स्वरूपं' पद का जो प्रयोग किया गया है वह लक्षण के 'आत्मभूत' और 'अनात्मभूत' ऐसे दो भेदों में से प्रथम भेद का द्योतक है, जिसका वस्तु के स्वभाव के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध होता है।

प्रथम पद्य में प्रयुक्त 'परमार्थतः' पद शुद्ध-द्रव्यार्थिक अथवा शुद्ध-निश्चयनय की दृष्टि का वाचक है। उस दृष्टि से जो जीव तथा अजीव के स्वरूप को जानता है वह अजीव तत्त्व से भिन्न अपने को जीवरूप में अनुभव करता है और उसकी अजीव-तत्त्व में आत्मबुद्धि नहीं रहती, आत्मबुद्धि के न रहने से पर पदार्थ अजीव के प्रति उसकी उत्सुकता तथा आसक्ति मिट जाती है, यही उसका परिहार अथवा परित्याग है, जिससे आत्मलीनता घटित होती है। आत्मलीनता के घटित होने से राग-द्वेष नहीं बनते, राग-द्वेष के अभाव में कर्मों का आश्रय-आधार विघटित हो जाता है, जो कि कर्मों के आने और ठहरने रूप आस्रव-बन्ध की व्यवस्था को लिए हुए होता है। कर्माश्रय के विघटित हो जाने पर-आस्रव तथा बन्ध के न रहने पर-निर्वाण की प्राप्ति होती है, जिसे मोक्ष, मुक्ति तथा निवृत्ति भी कहते हैं, और यही स्वस्वभाव की उपलब्धि है।

स्वरूप को परद्रव्य—बहिर्भूत जानने का परिणाम

पर-द्रव्य-बहिर्भूतं स्व-स्वभावमवैति यः।
पर-द्रव्ये स कुत्रापि न च द्वेष्टि न रज्यति॥५॥

अर्थ—जो अपने स्वभाव को परद्रव्य से बहिर्भूत रूप में जानता है-समस्त परद्रव्य-समूह से अपने को भिन्न अनुभव करता है-वह परद्रव्यों में कहीं भी-परद्रव्य की किसी अवस्था में भी-राग नहीं करता और न द्वेष करता है।

व्याख्या—पूर्व पद्य में यह कहा गया है कि जो जीव-तत्त्व में निलीन होता है उसके राग-द्वेष का क्षय हो जाता है, उसी बात को इस पद्य में स्पष्ट किया गया है-यह दर्शाया गया है कि जो आत्मलीन हुआ अपने स्वभाव को परद्रव्यों से बहिर्भूतरूप में जानता है-यह अनुभव करता है कि पर मुझ रूप नहीं, मैं पररूप नहीं, पर मुझमें नहीं, मैं पर में नहीं; पर मेरा नहीं और न मैं पर का हूँ, इस तरह पर को अपने साथ असम्बद्धरूप में देखता है-तो वह परद्रव्य की किसी भी अवस्था में

राग नहीं करता और न द्वेष करता है; क्योंकि पर-द्रव्य के सम्बन्ध से और उसे इष्ट-अनिष्ट मानकर ही राग-द्वेष की प्रवृत्ति होती है।

जीव का लक्षण, उपयोग और उसके दर्शन-ज्ञान दो भेद

उपयोगो[१] विनिर्दिष्टस्तत्र लक्षणमात्मनः।
द्वि-विधो दर्शन-ज्ञान-प्रभेदेन जिनाधिपैः॥६॥

अर्थ—उन दो मूल-तत्त्वों में आत्मा का लक्षण जिनेन्द्रदेव ने 'उपयोग' निर्दिष्ट किया है और उस उपयोग को दर्शन-ज्ञान के प्रभेद से दो प्रकार का बतलाया है।

व्याख्या—यहाँ 'आत्मनः' पद के द्वारा जीव को 'आत्मा' शब्द से उल्लिखित किया है और इससे यह जाना जाता है कि आत्मा जीव का नामान्तर अथवा पर्याय नाम है। जीव के जिस लक्षण को जानने की बात पहले कही गयी है वह लक्षण 'उपयोग' है जो कि आत्मा का चैतन्यानुविधायी परिणाम है, जिसके मूल विभाग दर्शन और ज्ञान के भेद से दो प्रकार के हैं और इन भेदों की दृष्टि से देखने तथा जानने रूप चैतन्यानुविधायी परिणाम को 'उपयोग' समझना चाहिए[२], जिसमें यह परिणमन वस्तुतः लक्षित होता है वही लक्ष्यभूत 'जीव' तत्त्व है; क्योंकि यह जीव का सदा काल अनन्यभूत परिणाम है, जो जीव से पृथक् अन्यत्र कहीं कभी लक्षित नहीं होता; जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के निम्न वाक्य से भी जाना जाता है—

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि॥ **(पंचा.४०)**

दर्शनके चार भेद और उसका लक्षण

चतुर्धा दर्शनं तत्र चक्षुषोऽचक्षुषोऽवधेः।
केवलस्य च विज्ञेयं वस्तु-सामान्य-वेदकम्॥७॥

अर्थ—उस उपयोग लक्षण में दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन-अचक्षुदर्शन-अवधि-दर्शन-केवल-दर्शनरूप चार प्रकार का है और उसे वस्तु सामान्य का वेदक-वस्तु के अस्तित्व जैसे सामान्यरूप का ज्ञाता-जानना चाहिए-यही उसका लक्षण है, जो उसके चारों भेदों में व्याप्त है।

व्याख्या—उपयोग के जिन दो भेदों का पिछले पद्य से उल्लेख है उनमें-से दर्शनोपयोग को यहाँ १. चक्षुदर्शन, २. अचक्षुदर्शन, ३. अवधिदर्शन, ४. केवलदर्शनरूप चार प्रकार का बतलाया है और उसका लक्षण 'वस्तुसामान्यवेदक' दिया है, जिसे आकारादि-विषयक किसी विशेष पृथक् व

---

१. सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं। (समयसार२४); उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो। जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि। (पंचास्ति ४०); उपयोगो लक्षणम्॥८॥ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः॥९॥ (मोक्षशास्त्र अ.२)। २. आत्मनश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः (अमृतचन्द्रसूरिः)।

भेद कल्पना के बिना वस्तु के सामान्यरूप का ग्राहक समझना चाहिए। इसी से सर्वार्थसिद्धि कार श्री पूज्यपादाचार्य ने दर्शन को 'निराकार' और ज्ञान को साकार लिखा है[१]।

नेत्र इन्द्रिय के द्वारा वस्तु के सामान्य अवलोकन को चक्षुदर्शन, अन्य इन्द्रियों तथा मन के द्वारा वस्तु के सामान्य अवलोकन को अचक्षुदर्शन; अवधिज्ञान के पूर्व होने वाले सामान्य अवलोकन को 'अवधिदर्शन' और केवलज्ञान के साथ होने वाले सामान्य अवलोकन को 'केवलदर्शन' कहते हैं।

ज्ञान का लक्षण और उसके आठ भेद

[२]मतिः श्रुतावधी ज्ञाने [३]मनःपर्यय-केवले।
सज्ज्ञानं[४] पञ्चधावाचि विशेषाकारवेदनम्॥८॥
मत्यज्ञान - श्रुताज्ञान - विभङ्गज्ञान - भेदतः।
मिथ्याज्ञानं त्रिधेत्येवमष्टधा ज्ञानमुच्यते॥९॥

अर्थ—(ज्ञानोपयोग में) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान यह पाँच प्रकार का ज्ञान (जिनेन्द्रदेव के द्वारा) सम्यग्ज्ञान कहा गया है और वह वस्तु के विशेषाकार वेदनरूप है—यही उसका लक्षण है, जो उसके पाँचों भेदों में व्याप्त है॥८॥ मति–अज्ञान, श्रुत–अज्ञान, विभंग–ज्ञान के भेद से मिथ्याज्ञान तीन प्रकार का है। इस तरह ज्ञानोपयोग (पाँच सम्यग्ज्ञान और तीन मिथ्या ज्ञान रूप) आठ प्रकार का कहा जाता है।

व्याख्या—इन दोनों पद्यों में ज्ञानोपयोग को अष्टभेदरूप बतलाते हुए उसके मुख्य दो भेद किये हैं—एक सम्यग्ज्ञान, दूसरा मिथ्याज्ञान। सम्यग्ज्ञान के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ऐसे पाँच भेद दर्शायें हैं और मिथ्याज्ञान को मति–अज्ञान, श्रुत–अज्ञान और विभंगज्ञान के भेद से त्रिभेदरूप प्रकट किया है। साथ ही, ज्ञानोपयोग का लक्षण वस्तु के विशेषाकार–वेदन को सूचित किया है, जो कि वस्तुमात्र सामान्य–ग्रहण का प्रतिपक्षी है।

मतिज्ञान को अभिनिबोधिक, मति–अज्ञान को कुमति और श्रुत–अज्ञान को कुश्रुत भी कहते हैं; जैसा कि पूर्वोद्धृत पंचास्तिकाय की गाथा ४१ से जाना जाता है। विभंगज्ञान को आमतौर पर कुअवधिज्ञान भी कहा जाता है। आत्मा जो स्वभाव से सर्वात्म प्रदेशव्यापी शुद्ध ज्ञानस्वरूप है वह अनादिकाल से ज्ञानावरणाच्छादित प्रदेश हो रहा है और उस आवरण के मति–ज्ञानावरणादि पाँच मुख्यभेद हैं। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रादुर्भूत स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों में–से किसी इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन–सहयोग से युक्त जिस ज्ञान–द्वारा कुछ मूर्त–अमूर्त द्रव्य को विशेषरूप से जाना जाता है उसे 'मतिज्ञान' तथा 'अभिनिबोधिक ज्ञान' कहते हैं। श्रुतज्ञानावरण कर्म

१. साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। (२–९)। २. आभिणिसुदेधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि। कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते॥४१॥–पंचास्तिकाय। ३. ब्या त्रिधेत्येवं केवले। ४. ब्या सज्ञानं।

के क्षयोपशम से उद्भूत और अनिन्द्रिय मन के अवलम्बन–सहयोग से युक्त जिस ज्ञान के द्वारा कुछ मूर्त–अमूर्त द्रव्य को विशेषरूप से जाना जाता है उसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं। अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उद्भूत जिस ज्ञान–द्वारा कुछ मूर्त द्रव्यों को विशेषरूप से साक्षात् जाना जाता है उसका नाम 'अवधिज्ञान' है। मनःपर्यय ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से उद्भूत जिस ज्ञान के द्वारा पर मनोगत कुछ मूर्त द्रव्यों को विशेषरूप से साक्षात् जाना जाता है उसे 'मनःपर्ययज्ञान' कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के सम्पूर्ण आवरण के अत्यन्त क्षय से प्रादुर्भूत हुए जिस ज्ञान से सम्पूर्ण मूर्त–अमूर्तरूप द्रव्य समूह को विशेषरूप से जाना जाता है उसे 'केवलज्ञान' कहा जाता है और वह स्वाभाविक होता है ! मिथ्यादर्शन के उदय को साथ में लिए हुए जो अभिनिबोधिक ज्ञान है उसे ही 'कुमतिज्ञान' जो श्रुतज्ञान है उसे ही 'कुश्रुत ज्ञान' और जो अवधिज्ञान है उसे ही 'विभंगज्ञान' कहते हैं।

केवलज्ञान दर्शनादि के उदय में कारण

उदेति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम्।
कर्मणः क्षयतः सर्वं क्षयोपशमतः परम्॥१०॥

अर्थ—केवलज्ञान तथा केवलदर्शन कर्म के क्षय से–ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण अथवा विवक्षित कर्मसमूह के विनाश से–उदय को प्राप्त होता है–पूर्णरूप से विकसित होता है। शेष सब ज्ञान तथा दर्शन उक्त आवरणों अथवा विवक्षित कर्म समूह के क्षयोपशम से–क्षय उपशमरूप मिली–जुली अवस्था से–उदय को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—पूर्व के दो पद्यों में उपयोग के जिन बारह भेदों का नामोल्लेख है उनमें–से केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग अपने–अपने प्रतिपक्षी कर्म के क्षय से आत्मा में उदित, आविर्भूत अथवा विकसित होते हैं। केवलज्ञान को आवृत–आच्छादित करने वाला प्रतिपक्षी कर्म केवलज्ञानावरण और केवलदर्शन को आवृत–आच्छादित करने वाला प्रतिपक्षी कर्म केवलदर्शनावरण है। इन दोनों आवरणों का क्षय मोहकर्म का क्षय हुए बिना नहीं बनता और आवश्यक कर्मों के क्षय के साथ अन्तराय कर्म का क्षय भी अविनाभावी है, अतः मोह और अन्तराय कर्म का क्षय भी यहाँ 'कर्मणः क्षयतः' पदों के द्वारा विवक्षित है। इसी से मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) में 'मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलं इस सूत्र के द्वारा मोह के क्षयपूर्वक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान तथा केवलदर्शन का आविर्भाव निर्दिष्ट किया है। शेष चक्षुदर्शनादि दश उपयोगों का जिन्हें 'परं सर्व' पद्यों के द्वारा उल्लेखित किया है, आत्मा में आविर्भाव विवक्षित कर्म के क्षयोपशम से होता है। वे विवक्षित कर्म चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण हैं। इस तरह 'कर्मणः' पद यहाँ उपयोगों के विपक्षीभूत बारह कर्मों के अलग–अलग वाचक अनेक अर्थों को निर्विरोधरूप से लिए हुए है। यह सब निर्माण की खूबी (विशेष) है जो एक ही पद में इतने अर्थों का

संकलन एवं समावेश किया गया है। 'परं सर्व' पदों में भी दस उपयोगों का समावेश किया गया है।

जिस प्रकार केवलज्ञानावरणादि के क्षय के साथ मोह तथा अन्तराय कर्म का क्षय भी विवक्षित है उसी तरह चक्षुदर्शनादि के क्षयोपशम के साथ भी मोह तथा अन्तराय कर्म का क्षयोपशम विवक्षित है। कर्मों के क्षय से उदित होने वाले ज्ञान–दर्शन 'क्षायिक ज्ञान–दर्शन' और कर्मों के क्षयोपशम से उदित होने वाले ज्ञान–दर्शन 'क्षायोपशमिक ज्ञान–दर्शन' कहे जाते हैं।

केवलज्ञान–दर्शन की युगपत् और शेष की क्रमशः उत्पत्ति

यौगपद्येन जायेते केवल-ज्ञान-दर्शने।
क्रमेण दर्शनं ज्ञानं परं नि:शेषमात्मन:॥११॥

अर्थ–आत्मा के केवलज्ञान और केवलदर्शन (ये दो उपयोग) युगपत्–एक साथ–उदित होते हैं। शेष सब दर्शन और ज्ञान–चक्षु–अचक्षु–अवधिरूप तीन दर्शन, मति–श्रुत–अवधि–मन:पर्ययरूप चार सम्यग्ज्ञान और कुमति–कुश्रुति तथा कुअवधिरूप तीन मिथ्याज्ञान–क्रम से उदय को प्राप्त होते हैं। इनमें-से कोई भी दर्शन विवक्षित ज्ञान के साथ युगपत् प्रवृत्त नहीं होता, सदा दर्शनपूर्वक ज्ञान हुआ करता है।

व्याख्या–पूर्व पद्य में विवक्षित कर्मों के क्षय-क्षयोपशम से जिन उपयोगों के उदय की बात कही गयी है उनके उदय की कालक्रम-व्यवस्था को इस पद्य में दर्शाते हुए बतलाया है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग तो युगपत्–कालभेद रहित एक साथ–उदय को प्राप्त होते हैं, शेष सब ज्ञानोपयोगों तथा दर्शनोपयोगों का उदय आत्मा में क्रम से होता है एक साथ नहीं बनता–ज्ञान के पहले दर्शन हुआ करता है।

मिथ्याज्ञान–सम्यग्ज्ञान के कारणों का निर्देश

मिथ्याज्ञानं मतं तत्र मिथ्यात्वसमवायत:[१]।
सम्यग्ज्ञानं पुनर्जैनै: सम्यक्त्वसमवायत:॥१२॥

अर्थ–ज्ञानोपयोग में, मिथ्याज्ञान को जैनों के द्वारा मिथ्यात्व के समवाय से–सम्बन्ध से–और सम्यग्ज्ञान को सम्यक्त्व के समवाय से उदय को प्राप्त होना माना गया है।

व्याख्या–पूर्व के दो पद्य सं० ८,९ में ज्ञानोपयोग के आठ भेदों में पाँच को 'सम्यग्ज्ञान' और तीन को 'मिथ्याज्ञान' बतलाया गया है। इस पद्य में वैसा बतलाने के कारणों को सूचित करते हुए लिखा है कि 'मिथ्यात्व के समवाय से–सम्बन्ध से–मिथ्याज्ञान और सम्यक्त्व के समवाय से सम्यग्ज्ञान होता है, ऐसी जैनियों की मान्यता है। जैनियों की मान्यता के अनुसार 'समवाय' शब्द

१. मतिः श्रुतावधी चैव मिथ्यात्व–समवायिनः। मिथ्याज्ञानानि कथ्यन्ते न तु तेषां प्रमाणता॥ –तत्त्वार्थसार २

सम्बन्ध का वाचक है, वैशेषिकों की मान्यतानुसार उस पदार्थ-विशेष का वाचक नहीं जो एक है और सर्वथा भिन्न पदार्थों का स्वयं अलग-अलग रहकर, सम्बन्ध कराता है। 'समवाय' शब्द के प्रयोग से यहाँ विवक्षित सम्बन्ध को कोई वैशेषिक मतानुसार समवाय-पदार्थ के सहयोग से होने वाले मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व के सम्बन्ध को न समझ ले, इसी से 'जैनैः मतं'-जैनियों के द्वारा माना गया है-इस स्पष्ट करणात्मक वाक्य का प्रयोग किया गया है। मिथ्यात्व के सम्बन्ध को प्राप्त होने वाले ज्ञान तीन हैं-मति, श्रुत और अवधि; जो प्रमाण नहीं होते।

मिथ्यात्व का स्वरूप और उसकी लीला का निर्देश

वस्त्वन्यथा परिच्छेदो ज्ञाने संपद्यते यतः।
तन्मिथ्यात्वं मतं सद्भिः कर्मारामोदयोदकम्॥१३॥

अर्थ-जिसके कारण ज्ञान में वस्तु का अन्यथा परिच्छेद-विपरीतादिरूप से जानना-बनता है उसको सत्पुरुषों ने मिथ्यात्व माना है, जो कि कर्मरूपी बगीचे को उगाने-बढ़ाने के लिए जल-सिंचन के समान है।

व्याख्या-यहाँ पूर्व पद्य में उल्लिखित उस मिथ्यात्व के स्वरूप का निर्देश किया गया है जिसके सम्बन्ध से ज्ञान मिथ्याज्ञान हो जाता है जो वस्तु जिस रूप में स्थित है उसका उस रूप में ज्ञान न होकर विपरीतादि के रूप में ज्ञान का होना जिसके सम्बन्ध से होता है उसे 'मिथ्यात्व' कहते हैं। यह मिथ्यात्व सारे कर्मरूप बगीचे को उगाने-बढ़ाने के लिए जलदान के समान है। मिथ्यात्व का यह विशेषण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और उसकी सारी लीला के संकेत को लिए हुए है।

दर्शनमोह के उदयजन्य मिथ्यात्व के तीन भेद

[१]उदये दृष्टिमोहस्य गृहीतमगृहीतकम्।
जातं सांशयिकं चेति मिथ्यात्वं तत् त्रिधा विदुः॥१४॥

अर्थ-दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होने पर उत्पन्न हुआ वह मिथ्यात्व गृहीत, अगृहीत और सांशयिक ऐसे तीन प्रकार का कहा गया है।

व्याख्या-जिस मिथ्यात्व का स्वरूप पिछले पद्य में दिया है उसके सम्बन्ध में यहाँ बतलाया है कि वह दर्शनमोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होता है और इसलिए उसे दृष्टि विकार से युक्त तत्त्वों तथा पदार्थों के अश्रद्धानरूप समझना चाहिए। वस्तु के यथार्थरूप में अपनी इस अश्रद्धा के कारण ही ज्ञान को वह मिथ्याज्ञान बनाता है। उस मिथ्यात्व के गृहीत, अगृहीत और सांशयिक (संशयरूप) ऐसे तीन भेदों का यहाँ उल्लेख किया गया है अगृहीत को नैसर्गिक' और गृहीत को 'परोपदेशिक' भी

---

१. तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं। संसइयमभिगहियं अणभिगहियं च तं तिविहं॥५८॥
–भगवती आराधना, अध्याय१

कहते हैं। जो बिना परोपदेश के मिथ्यात्वकर्म के उदयवश तत्त्वों के अश्रद्धानरूप होता है उसे 'नैसर्गिक' (अगृहीत) मिथ्यात्व कहते हैं और जो परोपदेश के निमित्त से तत्त्वों के अश्रद्धानरूप होता है उसे 'परोपदेशिक' अथवा गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं[१]। वस्तु–तत्त्व के यथार्थ श्रद्धान में विरुद्ध अनेक कोटियों को स्पर्श करने वाले और किसी का भी निश्चय न करने वाले श्रद्धान को 'संशय मिथ्यात्व' कहते हैं जैसे मोक्षमार्ग दर्शनज्ञानचारित्ररूप है या कि नहीं, इस प्रकार किसी एक पक्ष को स्वीकार न करने का सन्देह बनाये रखना।

सर्वार्थसिद्धि आदि दूसरे ग्रन्थों में मिथ्यात्व के पाँच भेदों का भी उल्लेख है जिनके नाम हैं– एकान्तमिथ्यादर्शन, विपरीतमिथ्यादर्शन, वैनयिकमिथ्यादर्शन, आज्ञानिकमिथ्यादर्शन और संशयमिथ्यादर्शन[२]। जिनमें प्रथम चार को यहाँ गृहीत मिथ्यात्व के अन्तर्गत समझना चाहिए। इनके विस्तार पूर्वक स्वरूप को दूसरे ग्रन्थों से जानना चाहिए।

मिथ्यात्व भावित जीव की मान्यता

अतत्त्वं मन्यते तत्त्वं जीवो मिथ्यात्वभावितः।
अस्वर्णमीक्षते स्वर्णं न किं कनकमोहितः॥१५॥

अर्थ–मिथ्यात्व से प्रभावित हुआ जीव अतत्त्व को तत्त्व मानता है। (ठीक है) धतूरे से मोहित प्राणी क्या अस्वर्ण को स्वर्णरूप में नहीं देखता? देखता ही है।

व्याख्या–मिथ्यात्व से संस्कारित अथवा मिथ्यात्व की भावना से भावित जीव अतत्त्व को तत्त्वरूप उसी प्रकार मानता है जिस प्रकार कि धतूरा खाकर मोहित हुआ प्राणी उस सारे पदार्थ समूह को स्वर्णरूप में देखता है जो वस्तुतः स्वर्णरूप नहीं है।

सम्यक्त्व का स्वरूप और उसकी क्षमता

यथा वस्तु तथा ज्ञानं संभवत्यात्मनो यतः।
जिनैरभाणि सम्यक्त्वं तत्क्षमं सिद्धिसाधने॥१६॥

अर्थ–जिसके कारण आत्मा का ज्ञान जिस रूप वस्तु में स्थित है उसी रूप भले प्रकार होता है उसे जिनेन्द्रदेव ने 'सम्यक्त्व' कहा है जो सिद्धि के (स्वात्मोपलब्धि के) साधन में समर्थ है।

व्याख्या–यहाँ१२वें पद्य में उल्लिखित उस सम्यक्त्व का लक्षण दिया गया है जिसके सम्बन्ध से ज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप परिणत होता है। वह लक्षण यह है–जो वस्तु जिस रूप में स्थित है उसका उसी रूप में आत्मा को ज्ञान जिसके कारण होता है उसको 'सम्यक्त्व' कहते हैं। यहाँ सम्यक्त्व को स्वात्मोपलब्धि के साधन में समर्थ बतलाया है और इससे सम्यक्त्व का महत्त्व ख्यापित होता है, जो

---

१. सर्वार्थसिद्धि अध्याय ८ सूत्र१

२. ऐकान्तिकं सांशयिकं विपरीतं तथैव च। आज्ञानिकं च मिथ्यात्वं तथा वैनयिकं भवेत्॥–तत्त्वार्थसार

कि सारे आत्मविकास का मूल आधार है।

सम्यक्त्व के क्षायिकादि भेद और उनमें साध्य-साधनता

मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्व-संयोजन-चतुष्टये।
क्षयं शमं[1] द्वयं प्राप्ते सप्तधा मोहकर्मणि॥१७॥
क्षायिकं शामिकं[2] ज्ञेयं क्षायोपशमिकं त्रिधा।
तत्रापि क्षायिकं साध्यं साधनं द्वितयं परम्॥१८॥

अर्थ—(वह सम्यक्त्व) मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व और संयोजन चतुष्टय–अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान–माया–लोभ–इन सात भेदरूप मोहकर्म के क्षयको प्राप्त होने पर क्षायिक, उपशम को प्राप्त होने पर औपशमिक, क्षयोपशम को प्राप्त होने पर क्षायोपशमिक, इस तरह तीन प्रकार का होता है। उन तीनों सम्यक्त्वों में भी क्षायिक सम्यक्त्व साध्य है और शेष दो उसके साधन हैं।

व्याख्या—जिस सम्यक्त्व के स्वरूप का पिछले पद्य में उल्लेख है उसके तीन भेदों का उनके कारणों–सहित इन पद्यों में निर्देश है। सम्यक्त्व के वे तीन भेद क्षायिक, औपशमिक, और क्षायोपशमिक हैं। दर्शनमोह की तीन–मिथ्यात्व, मिश्र तथा सम्यक्प्रकृति और चारित्रमोह की चार–अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान–माया–लोभ, इस प्रकार मोहकर्म की सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक, उपशम से औपशमिक और क्षयोपशम से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का उदय होता है। इन तीनों में क्षायिक सम्यक्त्व मुख्य है, स्थायी हैं और इसलिए साध्य एवं आराध्य है। शेष दोनों सम्यक्त्व साधन की कोटि में स्थित हैं, उनके सहारे क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त किया जाता है।

आत्मा और ज्ञान का प्रमाण तथा ज्ञान का सर्वगतत्त्व

[3]ज्ञानप्रमाणमात्मानं ज्ञानं ज्ञेयप्रमं विदुः।
लोकालोकं यतो ज्ञेयं ज्ञानं सर्वगतं ततः॥१९॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव आत्मा को ज्ञान प्रमाण–ज्ञान जितना और ज्ञान को ज्ञेयप्रमाण–ज्ञेय जितना बतलाते हैं। ज्ञेय चूँकि लोक–अलोकरूप है अतः ज्ञान सर्वगत है–सारे विश्व में व्याप्त होने के स्वभाव को लिए हुए है।

व्याख्या—'सम–गुण–पर्यायं द्रव्यम्' इस सूत्र के अनुसार द्रव्यगुण तथा पर्याय के समान होता है। पर्यायदृष्टि से आत्मा जिस प्रकार स्वदेह–परिमाण है, गुण–दृष्टि से उसी प्रकार स्वज्ञान परिमाण

---

१. ब्या समं। २. ब्या सामिकं।

३. आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं। णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥२३॥–प्रवचनसार

है। ज्ञान को यहाँ बिना किसी विशेषण के प्रयुक्त किया है और इसलिए ज्ञान यदि क्षायिक है तो आत्मा क्षायिकज्ञान–परिमाण है, ज्ञान यदि क्षायोपशमिक है तो आत्मा को उस क्षायोपशमिकज्ञान–परिमाण समझना चाहिए। परन्तु यहाँ 'ज्ञानं' पद के द्वारा मुख्यतः वह ज्ञान विवक्षित है जो पूर्णतः विकसित अथवा क्षायिक केवलज्ञान है, तभी वह लोकालोक को अपना साक्षात् विषय करने वाला 'ज्ञेय प्रमाण' हो सकता है। असाक्षात् (परोक्ष) रूप में लोकालोक को विषय करने की दृष्टि से स्याद्वादनय संस्कृत श्रुतज्ञान को भी ग्रहण किया जा सकता है। आत्मा को ज्ञान–प्रमाण कहा है, ज्ञान से बड़ा या छोटा आत्मा नहीं होता और यह ठीक ही है; क्योंकि ज्ञान से आत्मा को बड़ा मानने पर आत्मा का वह बढ़ा हुआ अंश ज्ञानशून्य जड़ ठहरेगा और तब यह कहना नहीं बन सकेगा कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है अथवा ज्ञान आत्मा का गुण हैं, जो कि गुणी (आत्मा) में व्यापक होना चाहिए और ज्ञान से आत्मा को छोटा मानने पर आत्मप्रदेशों से बाहर स्थित (बढ़ा हुआ) ज्ञानगुण गुणी (द्रव्य) के आश्रय बिना ठहरेगा और गुण गुणी (द्रव्य) के आश्रय बिना कहीं रहता नहीं; जैसा कि 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' गुण के इस तत्त्वार्थसूत्र वर्णित लक्षण से प्रकट हैं। अतः आत्मा ज्ञान से बड़ा या छोटा न होकर ज्ञान–प्रमाण है इसमें आपत्ति के लिए तनिक भी स्थान नहीं है।

'लोक' उसे कहते हैं जो अनन्त आकाश के बहुमध्य–भाग में स्थित और अन्त में तीन महावातवलयों से वेष्टित जीवादि षड् द्रव्यों का समूह है अथवा जहाँ जीव–पुद्गलादि छह प्रकार के द्रव्य'[1] अवलोकन किये जायें–देखे–पाये जायें–वह सब लोक है, और उसके ऊर्ध्व, मध्य, अधःलोक के भेद से तीन भेद हैं, जिनकी 'त्रिलोक' संज्ञा है। इस त्रिभागरूप लोक से बाहर का जो क्षेत्र है और जिसमें सब ओर अनन्त आकाश के सिवा दूसरा कोई द्रव्य नहीं है उसे 'अलोक' कहते हैं। लोक–अलोक में सम्पूर्ण ज्ञेय तत्त्वों का समावेश हो जाने से उन्हीं में ज्ञेय–तत्त्व की परिसमाप्ति की गयी है। अर्थात् यह प्रतिपादन किया गया है कि 'ज्ञेयतत्त्व लोक–अलोक है'–लोक–अलोक से भिन्न अथवा बाहर दूसरा कोई 'ज्ञेय पदार्थ है ही नहीं। साथ ही ज्ञेय ज्ञान का विषय होने से और ज्ञान की सीमा के बाहर ज्ञेय का कोई अस्तित्व न बन सकने से यह भी प्रतिपादन किया गया है कि 'ज्ञान ज्ञेय–प्रमाण है। जब ज्ञेय लोक अलोक प्रमाण हैं तब ज्ञान भी लोक–अलोक प्रमाण ठहरा, और इसलिए ज्ञान को लोक–अलोक की तरह सर्वगत (व्यापक) होना चाहिए। इसी से पुरातनाचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी प्रवचनसार की '**आदा णाणपमाणं**' गाथा में '**तम्हा णाणं तु सव्वगयं**' इस वाक्य के द्वारा ज्ञान को 'सर्वगत' बतलाया है।

---

१. जैनविज्ञान के अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छह द्रव्य हैं। इनके अतिरिक्त दूसरा कोई द्रव्य नहीं है। दूसरे जिन द्रव्यों की लोक में कल्पना की जाती है उन सबका समावेश इन्हीं में हो जाता है। ये नित्य और अवस्थित हैं–अपनी छह की संख्या का कभी परित्याग नहीं करते। इनमें पुद्गलको छोड़कर शेष सब द्रव्य अरूपी हैं और इन सबकी चर्चा से प्रायः सभी जैन सिद्धान्त ग्रन्थ भरे पड़े हैं।

जब आत्मा ज्ञान–प्रमाण हैं और ज्ञान ज्ञेय–प्रमाण होने से लोकालोक–प्रमाण तथा सर्वगत है तब आत्मा भी सर्वगत हुआ। और इससे यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा अपने ज्ञान–गुण सहित सर्वगत (सर्वव्यापक) होकर लोकालोक को जानता है, और इसलिए लोकालोक के ज्ञाता जो–जो सर्वज्ञ अथवा केवलज्ञानी (केवली) हैं वे सर्वगत होकर ही लोकाऽलोक को जानते हैं। परन्तु आत्मा सदा स्वात्मप्रदेशों में स्थित रहता है संसारावस्था में आत्मा का कोई प्रदेश मूलोत्तर इस आत्मदेह से बाहर नहीं जाता और मुक्तावस्था में शरीर का सम्बन्ध सदा के लिए छूट जाने पर आत्मा के प्रदेश प्रायः चरम देह के आकार को लिए हुए लोक के अग्रभाग में जाकर स्थित हो जाते हैं, वहाँ से फिर कोई भी प्रदेश किसी समय स्वात्मा से बाहर निकलकर अन्य पदार्थों में नहीं जाता। इसी से ऐसे शुद्धात्माओं अथवा मुक्तात्माओं को 'स्वात्मस्थित' कहा गया है और प्रदेशों की अपेक्षा सर्व व्यापक नहीं माना गया; साथ ही 'सर्वगत' भी कहा गया है; जैसा कि '**स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसंगः**[१]' जैसे वाक्यों से प्रकट है। तब उनके इस सर्वगतत्त्व का क्या रहस्य है और उनका ज्ञान कैसे एक जगह स्थित होकर सब जगत् के पदार्थों को युगपत् जानता है ? यह एक मर्मकी बात हैं, जिसे स्वामी समन्तभद्र ने समीचीन–धर्मशास्त्र के मंगलपद्य में श्री वर्द्धमान स्वामी के लिए प्रयुक्त निम्न विशेषण वाक्य के द्वारा थोड़े में ही व्यक्त कर दिया है–

सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।

इस वाक्य में ज्ञान को दर्पण बतलाकर अथवा दर्पण की उपमा देकर यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार दर्पण अपने स्थान से उठकर पदार्थों के पास नहीं जाता, न उनमें प्रविष्ट होता है और न पदार्थ ही अपने स्थान से चलकर दर्पण के पास आते तथा उसमें प्रविष्ट होते हैं; फिर भी पदार्थ दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर प्रविष्ट से जान पड़ते हैं और दर्पण भी उन पदार्थों को अपने में प्रतिबिम्बित करता हुआ तद्गत तथा उन पदार्थों के आकाररूप परिणत मालूम होता है, और यह सब दर्पण तथा पदार्थ की इच्छा के बिना ही वस्तु–स्वभाव से होता है। उसी प्रकार वस्तु–स्वभाव से ही शुद्धात्मा केवली के केवलज्ञानरूप दर्पण में अलोक सहित सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं और इस दृष्टि से उनका वह निर्मल ज्ञान आत्मप्रदेशों की अपेक्षा सर्वगत न होता हुआ भी 'सर्वगत' कहलाता है और तदनुरूप वे केवली भी स्वात्मस्थित होते हुए 'सर्वगत' कहे जाते हैं। इसमें विरोध की कोई बात नहीं है। इस प्रकार का कथन विरोधालंकार का एक प्रकार है, जो वास्तव में विरोध को लिए हुए न होकर विरोध–सा जान पड़ता है, और इसी से 'विरोधाभास' कहा जाता है। अतः केवलज्ञानी के प्रदेशापेक्षा सर्वव्यापक न होते हुए भी, स्वात्मस्थित होकर सर्व पदार्थ को जानने–प्रतिभासित करने में कोई बाधा नहीं आती।

---

१. देखो, श्रीधनंजय–कृत विषापहार–स्तोत्र।

अब यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि दर्पण तो वर्तमान में अपने सम्मुख तथा कुछ तिर्यक् स्थित पदार्थ को ही प्रतिबिम्बित करता है पीछे के अथवा अधिक अगल-बगल के पदार्थ को वह प्रतिबिम्बित नहीं करता और सम्मुखादिरूप से स्थित पदार्थ में भी जो सूक्ष्म हैं, दूरवर्ती हैं, किसी प्रकार के व्यवधान अथवा आवरण से युक्त हैं, अमूर्तीक हैं, भूतकाल में सम्मुख उपस्थित थे, भविष्यकाल में सम्मुख उपस्थित होंगे किन्तु वर्तमान में सम्मुख उपस्थित नहीं हैं उनमें से किसी को भी वर्तमान समय में प्रतिबिम्बित नहीं करता है, जब ज्ञान दर्पण के समान है तब केवली भगवान् के ज्ञान-दर्पण में अलोक सहित तीनों लोकों के सब पदार्थ युगपत् कैसे प्रतिभासित हो सकते हैं ? और यदि युगपत् प्रतिभासित नहीं हो सकते तो सर्वज्ञता कैसे बन सकती है ? और कैसे 'सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते' यह विशेषण श्री वर्धमान स्वामी के साथ संगत बैठ सकता है ?

इसके उत्तर में मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि उपमा और उदाहरण (दृष्टान्त) प्रायः एकदेश होते हैं-सर्वदेश नहीं, और इसलिए सर्वापेक्षा से उनके साथ तुलना नहीं की जा सकती। उनसे किसी विषय को समझने में मदद मिलती है, यही उनके प्रयोग का लक्ष्य होता है। जैसे किसी के मुख को चन्द्रमा की उपमा दी जाती है, तो उसका इतना ही अभिप्राय होता है कि वह अतीव गौरवर्ण है, यह अभिप्राय नहीं होता कि उसका और चन्द्रमा का वर्ण बिलकुल एक है अथवा वह सर्वथा चन्द्र धातु का ही बना हुआ है और चन्द्रमा की तरह गोलाकार भी है। इसी तरह दर्पण और ज्ञान के उपमान-उपमेय-भाव को समझना चाहिए। यहाँ ज्ञान (उपमेय) को दर्पण (उपमान) की जो उपमा दी गयी है उसका लक्ष्य प्रायः इतना ही है कि जिस प्रकार पदार्थ अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हुए भी निर्मल-दर्पण में ज्यों के त्यों झलकते और तद्गत मालूम होते हैं और अपने इस प्रतिबिम्बित होने में उनकी कोई इच्छा नहीं होती और न दर्पण ही उन्हें अपने में प्रतिबिम्बित करने-कराने की कोई इच्छा रखता है-सब कुछ वस्तु स्वभाव से होता है; उसी तरह निर्मल ज्ञान में भी पदार्थ ज्यों के त्यों प्रतिभासित होते तथा तद्वत मालूम होते हैं और इस कार्य में किसी की भी कोई इच्छा चरितार्थ नहीं होती-वस्तुस्वभाव ही सर्वत्र अपना कार्य करता हुआ जान पड़ता है। इससे अधिक उसका यह आशय कदापि नहीं लिया जा सकता कि ज्ञान भी साधारण दर्पण की तरह जड़ है, दर्पण धातु का बना हुआ है, दर्पण के समान एक पार्श्व (Side) ही उसका प्रकाशित है और वह उस पार्श्व के सामने निरावरण अथवा व्यवधान रहित अवस्था में स्थित तात्कालिक मूर्तिक पदार्थ को ही प्रतिबिम्बित करता है। ऐसा आशय लेना उपमान-उपमेय-भाव तथा वस्तु-स्वभाव को न समझने जैसा होगा।

इसके सिवाय दर्पण भी तरह-तरह के होते हैं। एक सर्व साधारण दर्पण जो शरीर के ऊपरी भाग को ही प्रतिबिम्बित करता है, चर्म-मांस के भीतर स्थित हाड़ों आदि को नहीं; परन्तु दूसरा ऐक्स-रे दर्पण जो चर्म-मांस के व्यवधान में स्थित हाड़ों आदि को भी प्रतिबिम्बित करता है। एक

प्रकार का दर्पण समीप अथवा कुछ ही दूर के पदार्थ को प्रतिबिम्बित करता है, दूसरा दर्पण (रेडियो, टेलीविजन आदि के द्वारा) बहुत दूर के पदार्थ को भी अपने में प्रतिबिम्बित कर लेता है। और यह बात तो साधारण दर्पणों तथा फोटो-दर्पणों में भी पायी जाती है कि वे बहुत से पदार्थ को अपने में युगपत् प्रतिबिम्बित कर लेते हैं और उसमें कितने ही निकट तथा दूरवर्ती पदार्थों का पारस्परिक अन्तराल भी लुप्त-गुप्त-सा हो जाता है, जो विधिपूर्वक देखने से स्पष्ट जाना जाता है। इसके अलावा स्मृति ज्ञान-दर्पण में हजारों मील दूर की और बीसियों वर्ष पहले की देखी हुई घटनाएँ तथा शक्लें (आकृतियाँ) साफ झलक आती हैं और जातिस्मरण का दर्पण तो उससे भी बढ़ा-चढ़ा होता है, जिसमें पूर्व जन्म अथवा जन्मों की सैकड़ों वर्ष पूर्व और हजारों मील दूर तक की भूतकालीन घटनाएँ साफ झलक आती हैं। इसी तरह निमित्तादि श्रुतज्ञान द्वारा चन्द्र-सूर्य ग्रहणादि जैसी भविष्य की घटनाओं का भी सच्चा प्रतिभास हुआ करती है। जब लौकिक दर्पणों और स्मृति आदि क्षायोपशमिक ज्ञान दर्पणों का ऐसा हाल है तब केवलज्ञान जैसे अलौकिक दर्पण की तो बात ही क्या है? उस सर्वातिशायि-ज्ञान दर्पण में अलोक सहित तीनों लोकों के वे सभी पदार्थ प्रतिभासित होते हैं जो 'ज्ञेय' कहलाते हैं, चाहे वे वर्तमान हों या अवर्तमान। क्योंकि ज्ञेय वही कहलाता है जो ज्ञान का विषय होता है-ज्ञान जिसे जानता है। ज्ञान में लोक-अलोक के सभी ज्ञेय पदार्थ को जानने की शक्ति है, वह तभी तक उन्हें अपने पूर्णरूप में नहीं जान पाता जब-तक उस पर पड़े हुए आवरणादि प्रतिबन्ध सर्वथा दूर होकर वह शक्ति पूर्णतः विकसित नहीं हो जाती। ज्ञानशक्ति के पूर्णविकसित और चरितार्थ होने में बाधक कारण हैं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नाम के चार घातियाकर्म। इन चारों घातिया कर्मों की सत्ता जब आत्मा में नहीं रहती तब उसमें उस अप्रतिहतशक्ति-ज्ञानज्योतिका उदय होता है जिसे लोक-अलोक के सभी ज्ञेय पदार्थ को अपना विषय करने से फिर कोई रोक नहीं सकता।

जिस प्रकार यह नहीं हो सकता कि दाहक स्वभाव अग्नि मौजूद हो, दाह्य-इन्धन भी मौजूद हो, उसे दहन करने में अग्नि के लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध भी न हो और फिर भी वह अग्नि उस दाह्य की दाहक न हो, उसी प्रकार यह भी नहीं हो सकता कि उक्त अप्रतिहत-ज्ञानज्योति का धारक कोई केवलज्ञानी हो और वह किसी भी ज्ञेय के विषय में अज्ञानी रह सके। इसी आशय को श्री विद्यानन्दस्वामी ने अपनी अष्टसहस्त्री में, जो कि समन्तभद्र कृत आप्तमीमांसा की अपूर्व टीका है, निम्न पुरातन वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है-

''ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने॥''

अतः केवलज्ञानी श्रीवर्द्धमान स्वामी के ज्ञानदर्पण में अलोक-सहित तीनों लोकों के प्रतिभासित होने में बाधा के लिए कोई स्थान नहीं है; जब कि वे घातिकर्म मल को दूर करके निर्धूतकलिलात्मा

होते हैं।

आत्मा से ज्ञान ज्ञेय को अधिक मानने पर दोषापत्ति

यद्यात्मनोऽधिकं ज्ञानं ज्ञेयं वापि प्रजायते।
लक्ष्य-लक्षणभावोऽस्ति तदानीं कथमेतयो:॥२०॥

अर्थ—यदि आत्मा से ज्ञान अथवा ज्ञेय भी अधिक होता है (ऐसा माना जाये) तो इन दोनों में आत्मा और ज्ञान में लक्ष्य-लक्षण भाव कैसे बन सकता है ? नहीं बन सकता।

व्याख्या—यहाँ आत्मा से ज्ञान के तथा ज्ञेय के भी अधिक होने पर दोनों में लक्ष्य-लक्षणभाव के घटित न होने की बात कही गयी है। जिसे लक्षित किया जाये अनेक मिले-जुले पदार्थों में से पृथक् बोध का विषय बनाया जाये, उसे 'लक्ष्य' कहते हैं और जिसके द्वारा लक्षित किया जाये उस व्यावर्तक (भिन्नता-बोधक) हेतु को 'लक्षण' कहते हैं। लक्षण को अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीन दोषों से रहित होना चाहिए; तभी वह लक्ष्य का ठीक तौर से बोध करा सकेगा, अन्यथा नहीं। लक्ष्य के एक देश में रहने वाला लक्षण अव्याप्ति दोष से, लक्ष्य से बाहर अलक्ष्य में भी पाया जाने वाला लक्षण अतिव्याप्ति दोष से और लक्ष्य में जिसका रहना बाधित है वह असंभव दोष से दूषित कहलाता है। यहाँ ज्ञान आत्मा का लक्षण है जो सामान्य वेदन तथा विशेष वेदन के रूप में दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के नाम से इसी अधिकार के ७ वें-८ वें पद्यों में निर्दिष्ट हुआ है। आत्मा (लक्ष्य) से, ज्ञान (लक्षण) अधिक होने पर ज्ञान-लक्षण 'अतिव्याप्ति' दोष से दूषित होता है और इसलिए उसमें लक्षण-भाव घटित नहीं होता। ज्ञानस्वरूप आत्मा से ज्ञेय के अधिक होने पर ज्ञान, ज्ञेय प्रमाण न होकर ज्ञेय से छोटा पड़ा और इसलिए 'अव्याप्ति' दोष से दूषित रहा; क्योंकि आत्मा भी ज्ञेय है। इसके सिवाय ज्ञेय हो और ज्ञान न हो यह बात असंगत जान पड़ती है; क्योंकि जो ज्ञान का विषय हो उसी को 'ज्ञेय' कहते हैं। ज्ञान के बिना ज्ञेय का अस्तित्व नहीं बनता, वह बाधित ठहरता है।

ज्ञेय-क्षिप्त ज्ञान को व्यापकता का स्पष्टीकरण

[१]क्षीरक्षिप्तं यथा क्षीरमिन्द्रनीलं स्वतेजसा।
ज्ञेयक्षिप्तं तथा ज्ञानं ज्ञेयं[२] व्याप्नोति सर्वत:॥२१॥

अर्थ—जैसे दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनीलमणि अपने तेज से अपनी प्रभा से दूध को सब ओर से व्याप्त कर लेता है अपनी प्रभा जैसा नीला बना लेता है उसी प्रकार ज्ञेय के मध्यस्थित ज्ञान अपने

---

१. रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसितं जहा सभासाए। अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥३०॥ (प्रवचनसार) जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं। तह देही देहत्थो सुदेहं सदेहं संपभासयदि पभासयदि॥ पञ्चास्तिकाय ३३, २. मु ज्ञेयं ज्ञानं।

प्रकाश से ज्ञेय समूह को पूर्णतः व्याप्त कर उसे प्रकाशित करता है, अपना विषय बना लेता है।

व्याख्या—यहाँ 'इन्द्रनीलं पद उस सातिशय महानील रत्न का वाचक है जो बड़ा तेजवान् होता है। उसे जब किसी दूध से भरे बड़े कड़ाहे या देरा जैसे बर्तन में डाला जाता है तो वह दुग्ध के वर्तमानरूप का तिरस्कार कर उसे सब ओर से अपनी प्रभा–द्वारा नीला बना लेता है। उसी प्रकार ज्ञेयों के मध्य में स्थित हुआ केवलज्ञान भी अपने तेज से अज्ञान अन्धकार को दूर कर समस्त ज्ञेयों में ज्ञेयाकाररूप से व्याप्त हुआ उन्हें प्रकाशित करता है।

दूध से भरे जिस बड़े पात्र में इन्द्रनील रत्न पड़ा होता है उसके थोड़े से ही देश में यद्यपि वह स्थित होता है और उसका कोई भी परमाणु उससे निकलकर अन्यत्र नहीं जाता; फिर भी उसकी प्रभा में ऐसा वैचित्र्य है कि वह सारे दूध को अपने रंग में रंग लेता है और दूध का कोई भी परमाणु वस्तुतः नीला नहीं हो पाता नीलमणि को यदि दूध से निकाल लिया जाये तो दूध ज्यों का त्यों अपने स्वाभाविक रंग में स्थित नजर आता है, नील रत्न की प्रभा के संसर्ग से कहीं भी उसमें कोई विकार लक्षित नहीं होता। ऐसी ही अवस्था ज्ञान तथा ज्ञेयों की है, ज्ञेयों के मध्य में स्थित हुआ केवलज्ञान यद्यपि वस्तुतः अपने आत्मप्रदेशों में ही स्थित होता है और आत्मा का कोई भी प्रदेश आत्मा से अलग होकर बाह्य पदार्थों में नहीं जाता; फिर भी उसके केवलज्ञान में तेज का ऐसा माहात्म्य है कि वह सारे पदार्थों को अपनी प्रभा से ज्ञेयाकाररूप में व्याप्त कर उन पदार्थों में अपने प्रदेशों के साथ तादात्म्य को प्राप्त जैसा प्रतिभासित होता है; जबकि दर्पण में उसकी स्वच्छता के वश प्रतिबिम्बित पदार्थ की तरह वैसा कुछ भी नहीं है। अतः व्यवहारनय की दृष्टि से ज्ञान का ज्ञेयों में और ज्ञेयों (पदार्थों) का ज्ञान में अस्तित्व कहा जाता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस बात को और स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार में लिखा है–

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं णा होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा॥३१॥

अर्थ—यदि वे पदार्थ केवलज्ञान में अस्तित्व न रखते हों न झलकते हों तो केवलज्ञान को सर्वगत नहीं कहा जा सकता और ज्ञान यदि सर्वगत है तो पदार्थों को ज्ञान में स्थित कैसे नहीं कहा जायेगा? कहना ही होगा।

इस प्रकार यह ज्ञान में ज्ञेयों की और ज्ञयों में ज्ञान की स्थिति व्यवहार नय की दृष्टि से है। निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञान अपने में और ज्ञेय अपने में स्थित हैं। दर्पण में प्रतिबिम्ब और प्रतिबिम्ब में दर्पण की तरह एक के अस्तित्व का दूसरे में व्यवहार किया जाता है।

ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञान ज्ञेयरूप नही होता

[१]चक्षुर्गृह्णद्यथारूपं रूपरूपं न जायते।
ज्ञानं जानन्तथा ज्ञेयं ज्ञेयरूपं न जायते॥२२॥

अर्थ—जिस प्रकार आँखरूप को ग्रहण करती हुई रूपमय नहीं हो जाती उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेयरूप नहीं हो जाता।

व्याख्या—यहाँ आँख के उदाहरण–द्वारा इस बात को स्पष्ट किया गया है कि जिस पदार्थ को ज्ञान जानता है उस पदार्थ के रूप नहीं हो जाता; जैसे कि आँख जिस रंगरूप को देखती है उस रूप स्वयं नहीं हो जाती। सारांश यह कि देखने और जानने का काम तद्रूपपरिणमन का नहीं है।

ज्ञान स्वभाव से दूरवर्ती पदार्थों को भी जानता है

दवीयांसमपि ज्ञानमर्थं वेत्ति निसर्गतः।
अयस्कान्तः[२] स्थितं दूरे नाकर्षति किमायसम्[३]॥२३॥

अर्थ—ज्ञान दूरवर्ती पदार्थ को–क्षेत्र–कालादिकी दृष्टि से दूरस्थित पदार्थ–समूह को–भी स्वभाव से जानता है। क्या कान्तलोह–चुम्बकपाषाण–दूरीपर स्थित लोहे को अपनी ओर नहीं खींचता ? खींचता ही है।

व्याख्या—यहाँ चुम्बक लोह पाषाण के उदाहरण–द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार चुम्बक–पाषाण दूरस्थित दूसरे लोहे को स्वभाव से अपनी ओर खींच लेता है उसी प्रकार केवलज्ञान भी क्षेत्र की अपेक्षा तथा काल की अपेक्षा दूरवर्ती पदार्थ को अपनी ओर आकर्षित कर उन्हें निकट–स्थित वर्तमान की तरह जानता है, यह उसका स्वभाव है। इस पर कोई यह शंका कर सकता है कि चुम्बक की शक्ति तो सीमित है, उसकी शक्ति–सीमा के भीतर जब लोहा स्थित होता है तभी वह उसको खींचकर अपने से चिपटा लेता है, जब लोहा सीमा के बाहर होता है तब उसे नहीं खींच पाता; तब क्या केवलज्ञान भी सीमित क्षेत्रकाल के पदार्थों को ही अपना विषय बनाता है ? इसका समाधान इतना ही है कि दृष्टान्त केवल समझने के लिए एकदेशी होता है, सर्वदेशी नहीं अतः चुम्बक की तरह ज्ञान की सीमित शक्ति न समझ लेना चाहिए उसमें प्रतिबन्धक का अभाव हो जाने से दूरवर्ती तथा अन्तरित ही नहीं किन्तु सूक्ष्म पदार्थ को अपनी ओर आकर्षित करने की, अपना विषय बनाने की अनन्तानन्त शक्ति है उसके बाहर कोई भी पदार्थों बिना जाने अज्ञेयरूप में नहीं रहता। इसी से ज्ञान को 'सर्वगत' कहा है। वह अपने आत्मप्रदेशों की अपेक्षा नहीं किन्तु प्रकाश की अपेक्षा सर्वगत है।

---

१. णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स। रूवाणि व चक्खणं णेवाण्णोण्णेसु वट्टंति॥२८॥ –प्रवचनसार

२. आ अयः स्कांतः। ३. ब्या किमायसां।

ज्ञान स्वभाव से स्व—परको जानता है

ज्ञानमात्मानमर्थं च परिच्छित्ते स्वभावतः।
दीप उद्योतयत्यर्थं स्वस्मिन्नान्यमपेक्षते॥२४॥

अर्थ—ज्ञान आत्मा को और पदार्थ-समूह को स्वभाव से ही जानता है। जैसे दीपक स्वभाव से अन्य पदार्थ-समूह को प्रकाशित करता है वैसे अपने प्रकाशन में अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता अपने को भी प्रकाशित करता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में यह बतलाया गया है कि केवलज्ञान दूरवर्ती पदार्थ को भी जानता है, चाहे वह दूरी क्षेत्र सम्बन्धी हो या काल-सम्बन्धी, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि ज्ञान पर को ही स्वभाव से जानता है या अपने को भी जानता है ? इस पद्य में दीपक के उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार दीपक पर पदार्थों का उद्योतन करता है उसी प्रकार अपना भी उद्योतन करता है अपने उद्योतन में किसी प्रकार परकी अपेक्षा नहीं रखता उसी प्रकार ज्ञान भी अपने को तथा पर पदार्थ समूह को स्वभाव से ही जानता है अपने को अथवा आत्मा को जानने में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता।

क्षायिक-क्षायोपशमिक ज्ञानों की स्थिति

क्षायोपशमिकं ज्ञानं कर्मापाये निवर्तते।
प्रादुर्भवति जीवस्य नित्यं क्षायिकमुज्ज्वलम्॥२५॥

अर्थ—आत्मा का क्षायोपशमिक ज्ञान कर्मों के—ज्ञानावरणादि विवक्षित कर्म प्रकृतियों के नाश होने पर नाश को प्राप्त हो जाता है और जो निर्मल क्षायिकज्ञान केवलज्ञान है वह सदा उदय को प्राप्त रहता है, सारे कर्म का नाश हो जाने पर भी उसका कभी नाश नहीं होता।

व्याख्या—यहाँ क्षायिक और क्षायोपशमिक दोनों प्रकार के ज्ञानों के उदय-अस्त के नियम को कुछ दर्शाया है, लिखा है कि—क्षायोपशमिक ज्ञान तो जिन कर्म—प्रकृतियोंके क्षय-उपशमादिरूप निमित्त को पाकर उदित होता है उन कर्मप्रकृतियों के नाश होने पर अस्त को प्राप्त हो जाता है; परन्तु केवलज्ञान एक बार उदय होकर फिर कभी अस्त को प्राप्त नहीं होता, सदा उदित ही बना रहता है, यह दोनों में भारी अन्तर है। क्षायोपशमिक ज्ञान की स्थिति निमित्तभूत कर्मों की स्थिति के बदलने से बदलती रहती है परन्तु केवलज्ञान की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता वह त्रिकाल, त्रिलोक-विषयक समस्त ज्ञेयों को युगपत् जानता रहता है।

केवलज्ञान की त्रिकालगोचर सभी सत्–असत् पदार्थों को युगपत् जानने में प्रवृत्ति

[१]सन्तमर्थमसन्तं च काल-त्रितय-गोचरम्।
अवैति युगपज्ज्ञानमव्याघातमनुत्तमम्॥२६॥

अर्थ–(क्षायिक) ज्ञान, जो कि अव्याघाती है–अपने विषय में किसी भी पर–पदार्थ से बाधित या रुद्ध नहीं होता और अनुत्तम है, जिससे अधिक श्रेष्ठ दूसरी कोई वस्तु अथवा ज्ञान नहीं–वह त्रिकालविषयक सत्–असत् सभी पदार्थ को युगपत् एक साथ जानता है।

व्याख्या–यहाँ जिस ज्ञान को अव्याबाध और अनुत्तम बतलाया गया है वह वही क्षायिक ज्ञान है जिसे पिछले पद्य में उज्ज्वल (परम निर्मल) और कभी अस्त न होकर सदा उदित रहने वाला तथा२८ वें पद्य में केवलज्ञान' व्यक्त किया है। इसी ज्ञान की यह महिमा अथवा विशेषता है कि यह त्रिकाल–गोचर सारे विद्यमान तथा अविद्यमान पदार्थ को युगपत्–एक साथ अपना विषय बनाता है, अपने अव्याबाध गुण के कारण सदा अबाधित विषय रहता है–कोई भी परपदार्थ उसको उसके त्रिकाल–गोचर सत्–असत् पदार्थ के जानने में कभी बाधक नहीं होता है।

सत् और असत् पदार्थ कौन ?

[२]असन्तस्ते मता दक्षैरतीता भाविनश्च ये।
वर्तमानाः पुनः सन्तस्त्रैलोक्योदरवर्तिनः॥२७॥

अर्थ–त्रिलोक के मध्यवर्ती जो पदार्थ अतीत हैं–भूतकाल में तत्कालीन पर्यायदृष्टि से जिनका अस्तित्व था और जो भावी है–भविष्यकाल में तत्कालीन पर्यायदृष्टि से जिनका अस्तित्व होगा, वे दक्षों–विवेक–निपुणों के द्वारा असत्–अविद्यमान माने गये हैं और जो वर्तमान हैं–अपनी वर्तमान समयसम्बन्धी पर्याय में स्थित हैं, उन्हें सत्–विद्यमान माना गया है।

व्याख्या–पिछले पद्य में जिन सत् (विद्यमान) तथा असत् पदार्थ को युगपत् जानने की बात कही गयी है, उन्हें इस पद्य में स्पष्ट किया गया है, असत् उन्हें बतलाया गया है जो अतीत (भूत) तथा अनागत (भविष्य) काल के विषय हैं और सत् वे हैं जो वर्तमान काल के विषय हैं। तीनों ही कालों के ये विषय तीनों लोकों के उदर में रहने वाले हैं, कोई भी लोक ऐसा नहीं जहाँ भूत–भविष्यत्–वर्तमानरूप से पदार्थों का अस्तित्व न हो।

---

१. तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं। वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं॥३७॥ प्रवचनसार

२. जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीयपज्जाया। ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा॥३८॥ प्रवचनसार

भूत-भावी पदार्थ को जानने का रूप

अतीता भाविनश्चार्थाः स्वे स्वे काले यथाखिलाः।
वर्तमानास्ततस्तद्वद्वेत्ति तानपि केवलम्॥२८॥

अर्थ—अतः–सत्–असत् की उक्त लक्षण दृष्टि से–सम्पूर्ण अतीत और अनागत पदार्थ अपने अपने काल में जिस रूप में वर्तते हैं उनको भी केवलज्ञान उसी रूप में जानता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिन अतीत–अनागत पदार्थ को युगपत् जानने की बात कही गयी है उन्हें केवलज्ञान किस रूप से जानता है उसे इस पद्य में स्पष्ट किया गया है, लिखा है कि–अतीत–अनागत पदार्थ अपने–अपने काल में जिस प्रकार से वर्तमान होते हैं उन्हें भी केवलज्ञान उनके तत्कालीन वर्तमानरूप की तरह जानता है, न कि केवल वर्तमान काल के पदार्थ को वर्तमान की तरह। जो आज भूत है वह कल वर्तमान था और जो आज वर्तमान है वह कल को भूत हो जायेगा। भूत को स्मृति के द्वारा और भविष्य को किसी निमित्त की सहायता से केवलज्ञान नहीं जानता, उसके सामने द्रव्यों की सब पर्यायें वर्तमान की तरह स्पष्ट खुली हुई होती हैं, तभी वह उनका युगपत् जानने वाला हो सकता है।

ज्ञान के सब पदार्थ में युगपत् प्रवृत्त न होने से दोषापत्ति

[२]सर्वेषु यदि न ज्ञानं यौगपद्येन वर्तते।
तदैकमपि जानाति पदार्थं न कदाचन ॥२९॥
एकत्रापि यतोऽनन्ताः पर्यायाः सन्ति वस्तुनि।
क्रमेण जानता सर्वे ज्ञायन्ते कथ्यतां कदा ॥३०॥

अर्थ—यदि (केवल) ज्ञान सब पदार्थों में युगपत्–रूप से नहीं वर्तता है सबको एक साथ नहीं जानता है–तो वह एक भी वस्तु को कभी नहीं जानता; क्योंकि एक वस्तु में भी अनन्त पर्यायें होती हैं, क्रम से जानते हुए वे सब पर्यायें कब जानी जाती हैं सो बतलाओ ? पर्यायों के ज्ञान का अन्त न आने से कभी भी एक वस्तु का पूरा जानना नहीं बन सकता।

व्याख्या—पिछले पद्यों में त्रिलोक–स्थित त्रिकालगत सर्व पदार्थों को युगपत् जानने की बात कही गयी है। इन पद्यों में यह बतलाया गया है कि यदि केवलज्ञान उन सब पदार्थों को युगपत् नहीं जानता है तो यह कहना होगा कि वह एक पदार्थ को भी पूरा नहीं जानता है; क्योंकि एक पदार्थ में

---

१. जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स। ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति॥३९॥–प्रवचनसार

२. जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे। णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा॥४८॥ दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि। ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि॥४९॥–प्रवचनसार

भी अनन्त पर्यायें होती हैं, क्रमशः उन्हें जानते हुए कब उन सब पर्यायों को जान पायेगा ? कभी भी नहीं। जब इस तरह एक द्रव्य की अनन्त पर्यायें कभी भी पूरी जानने में नहीं आ सकेंगी तब एक द्रव्य का पूरा जानना कैसे कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता। और यह एक बड़ा दोष उपस्थित होगा। यदि एक द्रव्य की पर्यायों को क्रमशः जानते हुए उनके जानने का अन्त माना जायेगा तो तदनन्तर द्रव्य को पर्यायशून्य मानना होगा और पर्यायशून्य मानने का अर्थ होगा द्रव्य का अभावः क्योंकि '**गुणपर्ययवद् द्रव्यम्**' इस सूत्र वाक्य के अनुसार गुण–पर्यायवान् को द्रव्य' कहते हैं, गुण और पर्याय दोनों में से कोई नहीं तो द्रव्य नहीं। और द्रव्य चूँकि सत् लक्षण[1] होता है अतः उसका कभी अभाव नहीं हो सकता[2]–भले ही पर्यायें जल–कल्लोलों की तरह समय–समयपर पलटती–बदलती रहें। ऐसी स्थिति में केवलज्ञान का युगपत् सब पदार्थ को जानना ही ठीक बैठता है, क्रमशः जानना नहीं। समस्त बाधक कारणों का अभाव हो जाने से केवलज्ञान जानने की अनन्तानन्त–शक्ति से सम्पन्न है, उसमें सब द्रव्य अपनी–अपनी अनन्त पर्यायों के साथ ऐसे झलकते हैं जैसे दर्पण में पदार्थ समूह झलका करते हैं।[3]

जो ज्ञान पदार्थों को क्रम से जानता है वह न तो नित्य होता है, न क्षायिक और न सर्वगत; जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार की निम्न गाथा में व्यक्त किया है

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
तं णे व हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं॥५०॥

वह क्रमवर्ती ज्ञान नित्य इसलिए नहीं कि एक पदार्थ का अवलम्बन लेकर उत्पन्न होता है दूसरे पदार्थ के ग्रहणपर नष्ट हो जाता है; क्षायिक इसलिए नहीं कि वह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमाधीन प्रवर्तता है और सर्वगत इसलिए नहीं कि वह अनन्त द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव को युगपत् जानने में असमर्थ है। अतः ऐसे क्रमवर्ती पराधीन ज्ञान का धनी आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

आत्मा के घातिकर्मक्षयोत्पन्न परमरूप की श्रद्धा का पात्र

[4]घातिकर्मक्षयोत्पन्नं यद्रूपं परमात्मनः।
श्रद्धत्ते भक्तितो भव्यो नाभव्यो भववर्धकः॥३१॥

अर्थ–घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुआ आत्मा का जो परमरूप है उसको भव्यात्मा भक्ति से श्रद्धान करता है, अभव्य जीव नहीं; क्योंकि वह भववर्धक होता है–स्वभाव से संसार पर्यायों को बढ़ाता रहता है और इसलिए आत्मा के उस परमरूप की श्रद्धा से सदा विमुख रहता है।

---

१. सद्द्रव्यलक्षणम्। –त. सूत्र ५–२९। २. नैवासतो जन्म सतो न नाशो।–(समन्तभद्र) ३. तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः। दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥१॥–अमृतचन्द्र (पुरु० सि०) ४. जो ण विजाणदि सव्वं पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि। इदि तं जाणदि भविओ अभव्वसत्तो ण सद्दहदि॥१६३॥–पञ्चास्तिकाय।

व्याख्या—ग्रन्थ के १० वें पद्य में यह बतलाया था कि केवलज्ञान तथा केवलदर्शन कर्म के क्षय से उदय को प्राप्त होते हैं। वे कर्म कौन-से हैं ? यहाँ उनको 'घाति' विशेषण के द्वारा स्पष्ट किया गया है। घातिया कर्म चार हैं—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ मोहनीय और ४ अन्तराय। अतः केवलज्ञान और केवलदर्शन, केवलज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के क्षय से ही उत्पन्न नहीं होते किन्तु मोहनीय और अन्तराय कर्मों के क्षय की भी साथ में अपेक्षा रखते हैं। इन चारों कर्मों के मूलतः विनष्ट होने पर ही आत्मा का वह परमरूप विकास को प्राप्त होता है जो अनन्त-दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य चतुष्ट्यात्मक सर्वज्ञ का रूप है।[1] इस रूप के प्रति भव्यजीव की बड़े भक्ति-भाव से श्रद्धा होती है; क्योंकि वह अपना भी यह रूप समझता है और जब भी अवसर मिलता है उसके विकास का यत्न करता है। परन्तु अभव्य जीव उसकी श्रद्धा नहीं करता; क्योंकि स्वभाव से ही भववर्द्धक—संसार चक्र को बढ़ाने वाला भवाऽभिनन्दी—होता है।

आत्मा के परम रूप श्रद्धानी को अव्यय पद की प्राप्ति

यत्सर्वार्थवरिष्ठं यत्क्रमातीतमतीन्द्रियम्।
श्रद्दधात्यात्मनो रूपं[2] स याति पद्मव्ययम्॥३२॥

अर्थ—जो सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ है, जो क्रमातीत है—क्रमवर्ती नहीं अथवा आदि मध्य अन्त से रहित है—तथा अतीन्द्रिय है—इन्द्रियज्ञानगोचर नहीं—उस आत्मा के (परम) रूप को जो श्रद्धान करता है वह अविनाशी पद—मोक्ष को प्राप्त होता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में आत्मा के घातिकर्म क्षयोत्पन्न जिस परमरूप का श्रद्धान करने वाले भव्यजीव का उल्लेख है उसके विषय में यहाँ इतना और स्पष्ट किया गया है कि वह आत्मा के रूप को सर्व पदार्थों में श्रेष्ठतम, क्रम रहित और अतीन्द्रिय श्रद्धान करता है और ऐसा श्रद्धान करने वाला अव्ययपद जो मोक्षपद है उसको प्राप्त होता है।

आत्मा के परमरूप की अनुभूति का मार्ग

निर्व्यापारीकृताक्षस्य यत्क्षणं भाति पश्यतः।
तद्रूपमात्मनो ज्ञेयं शुद्धं संवेदनात्मकम्॥३३॥

अर्थ—इन्द्रियों के व्यापार को रोककर क्षण-भर अन्तर्मुख होकर देखने वाले योगी को जो रूप दिखलाई पड़ता है उसे आत्मा का शुद्ध संवेदनात्मक (ज्ञानात्मक) रूप जानना चाहिए।

व्याख्या—इस पद्य में आत्मा को साक्षात्रूप से अनुभव करने की प्रक्रिया का उल्लेख है और वह यह कि सब इन्द्रियों को व्यापार रहित करके इन्द्रियों की अपने विषयों में प्रवृत्ति को रोककर

---

१. अस्ति वास्तवसर्वज्ञः सर्वगीर्वाणवन्दितः। घातिकर्मक्षयोत्पन्नं स्पष्टानन्तचतुष्टयः।— रामसेन, तत्त्वानुशासन। २. म श्रद्दधत्यात्मनो। ३. सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना। यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः॥३०॥—समाधितन्त्र।

साथ ही मन को भी निर्विकल्प करके जो कुछ क्षणमात्र के लिए अन्तरंग में दिखलाई पड़ता है वह आत्मा का रूप है, जो कि शुद्ध ज्ञायक स्वरूप है। यहाँ मन को निर्विकल्प करने की बात यद्यपि मूल में नहीं है परन्तु उपलक्षण से फलित होती है; क्योंकि मन इन्द्रियों की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में समर्थ होता है। [1]मन सविकल्प अथवा चंचल रहे और इन्द्रियाँ अपने व्यापार से निवृत्त हो जायें यह प्रायः नहीं बनता। श्री पूज्यपादाचार्य ने भी समाधितन्त्र में 'स्तिामतेनान्तरात्मना' और इष्टोपदेश में 'एकाग्रत्वेन चेतसः' पद के द्वारा इसी बात को व्यक्त किया है। इतना ही नहीं, प्रकृत ग्रन्थ में भी उसका आगे स्पष्ट उल्लेख किया है–

निषिध्य स्वार्थतोऽक्षाणि विकल्पातीतचेतसः।
तद्रूपं स्पष्टमाभाति कृताभ्यासस्य तत्त्वतः॥४५॥

इस पद्य में 'कृताभ्यासस्य' पद के द्वारा एक बात खास तौर से और कही गयी है और वह यह कि यह आत्मदर्शन (यूँ ही सहज–साध्य नहीं) अभ्यास के द्वारा सिद्ध होता है अतः इन्द्रियों को व्यापार रहित और मन को निर्विकल्प करने के अभ्यास को बराबर बढ़ाते रहना चाहिए। मन तभी निर्विकल्प (स्थिर) होता है जबकि उसमें राग–द्वेषादिकी–काम–क्रोधमान–माया–लोभ–मोह–शोक–भयादि की–लहरें न उठे, और ऐसा स्थिर मन वाला योगी साधक ही आत्मतत्त्व के दर्शन का अधिकारी होता है–दूसरा कोई नहीं। जैसा कि पूज्यपादाचार्य के समाधितन्त्र गत निम्न वाक्य से जाना जाता है–

राग–द्वेषादि–कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः॥३५॥

श्रुत के द्वारा भी केवल–सम आत्मबोध की प्राप्ति–

आत्मा स्वात्मविचारज्ञैर्नीरागी भूतचेतनैः।
[2]निरवद्यश्रुतेनापि केवलेनेव बुध्यते॥३४॥

अर्थ–अपने आत्मा के विचार में निपुण राग–रहित जीवों के द्वारा निर्दोष श्रुतज्ञान से भी आत्मा केवलज्ञान के समान जाना जाता है।

व्याख्या–यहाँ आत्मा एक दूसरे मार्ग से भी अपने शुद्धस्वरूप में जाना जाता है। इसका निर्देश है। वह मार्ग है निर्दोष श्रुतज्ञान का और उस मार्ग से जानने के अधिकारी हैं वे आत्म विचार में निपुण विज्ञजन जिनका आत्मा प्रायः रागादि से रहित हो गया है। यहाँ भी आत्मा का साक्षात् अनुभव करने वाले के लिए राग–द्वेषादि से रहित होने की बात मुख्यता से कही गयी है। यदि मन

---

१. इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभु। मन एवं जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः॥७६॥ रामसेन,तत्त्वानुशासन।
२. आ निरवद्यं।

राग-द्वेषादि से आकुलित है तो कितना भी श्रुताभ्यास किये जाओ उसके द्वारा आत्मदर्शन नहीं बन सकेगा। आत्मदर्शन की पात्रता के लिए राग-द्वेषादि से रहित होना आवश्यक है मार्ग कोई भी हो सकता है, इन्द्रिय मन के व्यापार को रोककर देखना अथवा निर्मल भावश्रुतज्ञान के द्वारा देखना।

जो भाव श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा के केवल शुद्ध स्वरूप का अनुभव करते हैं उन्हें 'श्रुतकेवली' कहा जाता है, जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के निम्न वाक्य से प्रकट है-

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा॥९॥

-समयसार।

इस गाथा में जिसे केवल 'शुद्ध' कहा गया है प्रवचनसार की ३३ वीं गाथा में उसे ही 'ज्ञायकस्वभाव' रूप बतलाया है।[१]

जिनेन्द्र भगवान् के जिस श्रुत का-सूत्ररूप आगम का-यहाँ निर्देश किया है वह पौद्गलिक वचनों के द्वारा निर्दिष्ट होने से 'द्रव्य श्रुत' है स्वत: ज्ञानरूप न होकर पुद्गल के रूप में है, उसकी जो ज्ञप्ति-जानकारी वह 'भाव-श्रुतज्ञान' कहलाती है। भाव श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में कारण पड़ने से उस द्रव्यश्रुत को भी उपचार से व्यवहारनय से श्रुतज्ञान कहा जाता है। सूत्र तो उपाधिरूप में होने से छूट जाता है, ज्ञप्ति ही अवशिष्ट रह जाती है। वह ज्ञप्ति केवलज्ञानी की और श्रुतकेवली की आत्मा के सम्यक् अनुभवन में समान ही होती है, वस्तुत: ज्ञान का श्रुतोपाधिरूप भेद नहीं है। ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार की ३४वीं [२]गाथा की टीका में व्यक्त किया है-

''अथ सूत्रमुपाधित्वान्नाद्रियते ज्ञप्तिरेवावशिष्यते। सा च केवलिन: श्रुतकेवलिनश्चात्मसंचेतने तुल्यैवेति नास्ति ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेद:।''

स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों के सर्वतत्त्व-प्रकाशन में साक्षात्-असाक्षात् का प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद है जीवाजीवादि तत्त्वों के यथार्थरूप से जानने में कोई अन्तर नहीं है; जैसा कि देवागम की निम्न कारिका से प्रकट है-

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेद: साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥१०५॥

---

१. जो हि सुदेण विजाणदि अप्पप्पाणं जाणगं सहावेण। तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा॥३३॥ -प्रवचनसार।

२. सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणे हिं। तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया॥३४॥

आत्मा के सम्यक्चारित्र कब होता है

रागद्वेषापराधीनं यदा ज्ञानं प्रवर्तते।
तदाभ्यधायि चारित्रमात्मनो मलसूदनम्॥३५॥

अर्थ—जब ज्ञान राग-द्वेष की पराधीनता से रहित हुआ प्रवर्तता है तब आत्मा के वह चारित्र होता है जो कि मल का कर्म कालिमा का नाशक है।

व्याख्या—जिस समय ज्ञान राग-द्वेष के अधीन नहीं प्रवर्तता जिस ज्ञेय को जानता है, उसमें राग-द्वेष रूप से प्रवृत्त न होकर मध्यस्थभाव बनाये रखता है उस समय सम्यक् चारित्र की प्रादुर्भूति आत्मा में स्वतः हो जाती है, उसके लिए किसी प्रयत्न विशेष की जरूरत नहीं रहती और यह सच्चरित्र ही आत्मा में लगे कर्ममल को धो डालने में समर्थ होता है कर्ममल इस चारित्र के प्रभाव से स्वतः घुल जाता है, उसको आत्मा से पृथक् होना ही पड़ता है। इससे सार यह निकला कि यदि अपने आत्मा को निर्मल करना अथवा रखना है तो अपने ज्ञान को राग-द्वेषरूप कषाय के अधीन नहीं होने देना चाहिए। मोहजनित राग-द्वेष में सभी कषायों का समावेश है। राग में माया, लोभ इन दो कषायों और हास्य, रति तथा काम (वेद) इन तीन नोकषायों का समावेश है और द्वेष में क्रोध, मान इन दो कषायों का तथा अरति शोक, भय, जुगुप्सा इन चार नोकषायों का अन्तर्भाव है। जो राग मिथ्यादर्शन से युक्त होता है उसे 'मोह' कहते हैं।[1]

ज्ञान के कषायवश होने पर अहिंसादि कोई व्रत नहीं ठहरता

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्म सङ्गविवर्जनम्।
कषाय-विकले ज्ञाने समस्तं[2] नैव तिष्ठति॥३६॥

अर्थ—ज्ञान के कषाय से विकल—विह्वल अथवा स्वभावच्युत—होने पर अहिंसा, सत्य,अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह यह सब (व्रत-समूह) स्थिर नहीं रहता इसमें से कोई भी व्रत नहीं बनता ?

व्याख्या—इस पद्य में चारित्र के प्रसिद्ध अंगभूत अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप से जिन पाँच महाव्रतों का उल्लेख है उनके विषय में एक बड़ी ही महत्त्व की बात सुझायी है और वह यह कि ज्ञान के कषाय से राग-द्वेष से व्याकुल एवं दूषित होने की अवस्था में एक भी महाव्रत स्थिर रहने नहीं पाता सब आत्मा से कूच कर जाते हैं। अतः जो महाव्रती हैं जिन्होंने मुनिदीक्षा धारण करते समय पंच महाव्रतों के पालन की प्रतिज्ञा ली है तथा जो उनका पालन कर रहे हैं उन्हें समझना चाहिए कि जिस किसी समय भी हम अपने ज्ञान को कषाय से आकुलित होने देंगे उसी समय हमारे पाँचों महाव्रत भंग हो जायेंगे और उस वक्त तक भंग रहेंगे जब तक ज्ञान में कषाय

---

१. रागः प्रेम रतिर्माया लोभं हास्यं च पञ्चधा। मिथ्यात्वभेदयुक् सोऽपि मोहो द्वेषः क्रुधादिषट्॥ –अध्यात्मरहस्य २७।
२. आ समस्ते नैव तिष्ठते।

की वह उद्विग्रता अथवा राग-द्वेष की वह परिणति स्थिर रहेगी और इसलिए व्रतभंग से भयभीत मुनियों तथा योगीजनों को बहुत ही सावधानी से वर्तना चाहिए, यों ही अपने को हर समय महाव्रती न समझ लेना चाहिए। जो ज्ञानी जिस समय भी कषाय के वश होता है वह उसी समय असंयत हो जाता है, जैसा कि रयणसार और परमात्मप्रकाश के निम्न वाक्यों से प्रकट है–

णाणी कसायवसगो असंजदो होदि सो ताव॥७१॥ रयणसार
जावइ णाणिउ उवसमइ तामइ संजदु होइ।
होइ कसायहं वसि गयउ जीउ असंजदु सोइ॥ परमात्मप्रकाश २–४१

ज्ञान के आत्मरूपरत होने पर हिंसादिक पापों का पलायन

हिंसत्वं वितथं स्तेयं मैथुनं सङ्गसंग्रहः।
आत्मरूपगते ज्ञाने निःशेषं प्रपलायते॥३७॥

अर्थ–ज्ञान के आत्मरूप में परिणत होने पर हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह (यह) सब (पाप समूह) भाग जाता है इनमें से कोई भी पाप नहीं बनता।

व्याख्या–इस पद्य में भी पूर्वपद्य जैसी ही महत्त्व की बात सुझायी है। इसमें हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह नाम के पाँचों पापों का उल्लेख करके लिखा है कि–जब ज्ञान आत्मरूप में रत हुआ उसका चिन्तन करता है तब ये पाँचों पाप स्वतः भाग जाते हैं कोई भी पाप पास फटकने नहीं पाता। इससे आत्माकी शुद्धि स्वतः बनी रहती है उसको शुद्ध करने तथा शुद्ध रखने का दूसरा कोई खास प्रयत्न करने की जरूरत नहीं रहती। यह सब आत्मध्यान की महिमा है।

आत्मा के निर्मल ज्ञानादिरूप-ध्यान से कर्मच्युति

चारित्रं दर्शनं ज्ञानमात्मरूपं निरञ्जनम्।
कर्मभिर्मुच्यते योगी ध्यायमानो न संशयः॥३८॥

अर्थ–निर्मल दर्शन–ज्ञान–चारित्र (यह) आत्मा का स्वरूप है। इस आत्मरूप को ध्याता हुआ योगी कर्मों से छूट जाता है, इसमें सन्देह की कोई बात नहीं है।

व्याख्या–जिस आत्मरूप की पिछले पद्य में सूचना की गयी है उसे इस पद्य में निर्मल दर्शन, ज्ञान तथा चारित्ररूप निर्दिष्ट किया है। साथ ही यह बतलाया है कि इस (रत्नत्रय) रूप का ध्यान करता हुआ योगी कर्मों से अवश्य ही छुटकारा पाता है, ध्यान में जितनी–जितनी एकाग्रता होती है उतने–उतने ही कर्म के बन्धन टूटते जाते हैं। अतः इससे कर्मबन्धनों से छुटकारा पाना अपने अधीन है, पराधीन कुछ भी नहीं। अपने आत्मध्यान की शक्ति को बढ़ाना चाहिए।

पर-द्रव्य-रत-योगी की स्थिति

यः करोति पर-द्रव्ये रागमात्म-पराङ्मुखः।
रत्नत्रय-मयो नासौ न चारित्र-चरो यतिः॥३९॥

अर्थ—जो योगी आत्मा से पराङ्मुख हुआ पर-द्रव्य में राग करता है वह योगी न तो रत्नत्रयमय है और न (शुद्ध) चारित्र पर चलने वाला है।

व्याख्या—पिछले पद्य में यह बतलाया है कि आत्मस्वरूप का ध्यान करता हुआ योगी कर्मबन्धन से छूटता है। इस पद्य में उस योगी का उल्लेख है जो आत्मध्यान से मुख मोड़े हुए परद्रव्य में राग रखता है। उसके विषय में लिखा है कि वह न तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय का धारक है और न (शुद्ध) चारित्र पर ही चलने वाला है। वस्तुतः परद्रव्य में आसक्त वही होता है जो आत्मस्वरूप से विमुख होता है और जो आत्मस्वरूप से विमुख है उसके रत्नत्रय की बात तो दूर, शुद्ध चारित्र का आचरण भी नहीं बनता।

निश्चय-चारित्र का स्वरूप

अभिन्नमात्मनः शुद्धं ज्ञानदृष्टिमयं स्फुटम्।
चारित्रं चर्यते शश्वच्चारु-चारित्रवेदिभिः॥४०॥

अर्थ—जो सम्यक् चारित्र के अनुभवी हैं वे आत्मा से अभिन्न स्पष्ट शुद्ध दर्शनज्ञानमय चारित्र का सदा आचरण करते हैं।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिस चारित्र का उल्लेख है उसके दो भेद हैं : एक निश्चय और दूसरा व्यवहार। इस पद्य में निश्चय चारित्र के स्वरूप का उल्लेख है और उसे आत्मा से अभिन्न शुद्ध स्पष्ट ज्ञानदर्शनमय बतलाया है अर्थात् अपने आत्मा के शुद्ध स्पष्ट ज्ञान-दर्शन को लिए हुए जो आत्म चर्या है आत्मा में रमण है उसे निश्चयचारित्र निर्दिष्ट किया है। और साथ ही यह सूचित किया है कि जो सम्यक चारित्र के मर्मज्ञ हैं वे सदा इस निश्चयचारित्र पर चलते हैं, अपनी परिणति को सदा शुद्ध ज्ञानदर्शनरूप बनाये रखते हैं।

व्यवहार सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का रूप

[१]आचार-वेदनं ज्ञानं सम्यक्त्वं तत्त्व-रोचनम्।
चारित्रं च तपश्चर्या व्यवहारेण गद्यते॥४१॥

अर्थ—व्यवहार से व्यवहारनय की अपेक्षा से तत्त्व रुचि को सम्यग्दर्शन, आचार वेदन को आचारांगादि श्रुत के जानने को अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य के भेदरूप पाँच प्रकार का

---

१. धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं। चेट्ठा तवं म्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति॥१६०॥ पञ्चास्तिकाय।

जो आचार है उसके अधिगम को सम्यग्ज्ञान और तपरूप प्रवृत्ति को सम्यक्चारित्र कहा जाता है।

व्याख्या—इस पद्य में व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निर्देश है, तत्त्वों पदार्थों की रुचि-प्रतीति अथवा श्रद्धा को सम्यग्दर्शन बतलाया है और उसके लिए कुन्दकुन्दाचार्य के पंचास्तिकाय (गा०१०७) तथा समयसार (गा०१५५) ग्रन्थों की तरह 'सम्यक्त्व' शब्द का प्रयोग किया है, जो कि सम्यग्दर्शन का पर्यायवाची नाम है और जिसे समयसार की २७६ वीं गाथा में 'दंसण' शब्द से भी उल्लिखित किया है[1]। आचार-वेदन (ज्ञान)को सम्यग्ज्ञान के रूप में निर्दिष्ट किया है। इस 'आचार-वेदनं' पद में 'आचार' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है एक तो द्वादशांग-श्रुत के प्रथम अंग आचारांग के अर्थ में। इस अर्थ में इसे ग्रहण करने से शेष अंगों के ज्ञान को भी उपलक्षण से साथ में ग्रहण करना होगा। इसी से कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार की २७६ वीं गाथा में 'आयारादीणाणं' इस वाक्य में आयार (आचार) के साथ 'आदि' शब्द को जोड़ा है और पंचास्तिकाय की१६०वीं गाथा में "**णाणमंगपुव्वगदं**" वाक्य के द्वारा स्पष्ट ही अंगों तथा पूर्वो के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान बतलाया है। दूसरा अर्थ मूलाचारवर्णित दर्शनाचारादिरूप पाँच प्रकार के आचार ज्ञान से सम्बन्ध रखता है, जिसमें प्रकारान्तर से सारे श्रुतज्ञान का समावेश हो जाता है। 'तपश्चर्या' का नाम यहाँ 'सम्यक्चारित्र' बतलाया है, जो कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के "**चेट्ठा तवं म्हि चरिया**" इस वाक्य के समकक्ष है और जिसका आशय समभाव (समता) अथवा रागादिक के परित्याग से है।[2]

स्वभाव-परिणत आत्मा ही वस्तुतः मुक्तिमार्ग

सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र-स्वभावः परमार्थतः।
आत्मा राग-विनिर्मुक्तो मुक्ति-मार्गो विनिर्मलः॥४२॥

अर्थ—परमार्थ से निश्चय नय की अपेक्षा से रागरहित विगत कर्ममल एवं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव में स्थित आत्मा मोक्षमार्ग है।

व्याख्या—पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप स्वभाव को लिए हुए है। इस स्वभाव को ही "**वत्थुसहावो धम्मो**" इस सूत्र के अनुसार 'धर्म' कहा जाता है; जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के "**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः**" इस वाक्य से जाना जाता है। यह स्वभाव जब विभाव परिणमन में कारणभूत कर्ममल के दूर होने से निर्मलताको प्राप्त होता है तब

---

१. सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं। चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं॥१०७॥ जीवादीसद्दहणं सम्मतं तेसिमधिगमो णाणं। रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो॥१५५॥ आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं। छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो॥२७६॥

२. चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं –पञ्चास्ति०१०७। रायादी परिहरणं चरणं–समयसारं१५५। चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो। मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।–प्रवचनसार ७

आत्मा स्वयं रागसे विमुक्त हुआ मुक्तिमार्गरूप परिणत होता है।[1]

मुक्ति का मार्ग या कारण आत्मा से भिन्न कोई परपदार्थ नहीं है। आत्म का स्वभाव यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र बतलाया है और इसी को ''**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**'' इत्यादि आगम वाक्यों के द्वारा मोक्षमार्ग निर्दिष्ट किया गया है। इससे दोनों अभिन्न हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। आत्मा अपनी मुक्ति स्वयं न करके कोई दूसरा उसे करने आयेगा, यह धारणा बिल्कुल गलत और भ्रान्त है। अतः मुमुक्षु आत्मा अपने बन्धन की स्थिति को भली प्रकार जानकर उससे छूटने का स्वयं उपाय करता है। यह छूटने का उपाय जिसे 'मोक्षमार्ग' कहते हैं, अपने आत्मस्वरूप में स्थिति के सिवाय और कुछ नहीं है। जिस समय यह स्वरूपस्थिति पूर्णता को प्राप्त होती है उसके उत्तरक्षण में ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

जिस कर्ममल के निमित्त से आत्मा का अपनी वैभाविकी शक्ति के कारण विभाव परिणमन होता है वह मुख्यतः द्रव्य और भाव मल के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणत होकर आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुए जो पुद्गल परमाणु हैं उन्हें 'द्रव्यकर्ममल' कहते हैं। और द्रव्यकर्ममल के उदय का निमित्त पाकर जो राग-द्वेष-मोहादिरूप विकारभाव उत्पन्न होते तथा नवीन कर्मबन्ध का कारण बनते हैं उन्हें 'भावकर्ममल' समझना चाहिए।

निश्चय से आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप

[2]यश्चरत्यात्मनात्मानमात्मा जानाति पश्यति।
निश्चयेन स चारित्रं ज्ञानं दर्शनमुच्यते॥४३॥

अर्थ—जो आत्मा को निश्चय से निश्चयनय की दृष्टि से देखता, जानता और आचरता (स्वरूप में प्रवृत्त करता) है वह आत्मा ही (स्वयं) दर्शनरूप (स्वयं) ज्ञानरूप और (स्वयं) चारित्ररूप कहा जाता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में मुक्तिमार्ग को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप त्रितयात्मक निर्दिष्ट किया है; इस पद्य में बतलाया है कि ये तीन रूप तीन भिन्न वस्तुओं का कोई समुदाय नहीं है, निश्चयनय की दृष्टि से ये दर्शन-ज्ञान और चारित्र तीनों एक ही आत्मा के रूप हैं; क्योंकि निश्चय नय अभिन्न कर्तृ-कर्मादि विषयक होता है[3] जो आत्मा जिसको देखता, जानता अथवा जिस रूप आचरण करता है वह निश्चयनय की अपेक्षा स्व से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं होती।

---

१. निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्यः समाहितो भिक्षुः। नैवादत्ते किंचिन्न मुञ्चति मोक्षहेतुरसौ॥ –तत्त्वानु. ३१। सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाण। ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा॥–द्रव्यसंग्रह ३९॥ २. जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं। सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि॥१६२॥–पञ्चास्तिकाय॥ ३. अभिन्नकर्तृ-कर्मादिविषयो निश्चयो नयः। व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः॥ –तत्त्वानु.२९॥

आत्मोपासना से भिन्न शिवसुख प्राप्ति का कोई उपाय नहीं

तस्मात्सेव्यः परिज्ञाय श्रद्धयात्मा मुमुक्षुभिः।
लब्ध्युपायः परो नास्ति यस्मान्निर्वाणशर्मणः॥४४॥

अर्थ—अतः मुमुक्षुओं को उक्त प्रकार से आत्मा को जानकर श्रद्धा के साथ उसका सेवन करना चाहिए, क्योंकि मोक्षसुख की प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

व्याख्या—जिस दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मुक्तिमार्ग कहा गया है वह जब पूर्व पद्यानुसार स्वात्मा से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है तब मुमुक्षुओं को, मुक्ति प्राप्ति के इच्छुकों को, स्वात्मा को उसके शुद्ध स्वरूप में भले प्रकार जानकर श्रद्धा के साथ उसका सेवन करना चाहिए; क्योंकि शुद्ध-स्वात्मा का सेवन छोड़कर मुक्तिसुख की प्राप्ति का दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। मुक्ति की प्राप्ति मुक्ति सुख के लिए ही चाही जाती है, जो सर्व प्रकार से निराकुल, अबाधित एवं परतन्त्रता से रहित होता है। यदि वह सुख लक्ष्य में नहीं तो मुक्ति प्राप्ति की इच्छा का कोई अर्थ ही नहीं।

आत्मस्वरूप की अनुभूतिका उपाय

[1]निषिध्य[2]स्वार्थतोऽक्षाणि विकल्पातीत-चेतसः।
तद्रूपं स्पष्टमाभाति कृताभ्यासस्य तत्त्वतः॥४५॥

अर्थ—इन्द्रियों को अपने विषयों से रोककर आत्मध्यान का अभ्यास करने वाले निर्विकल्प-चित्त ध्याता को आत्मा का वह रूप वस्तुतः स्पष्ट प्रतिभासित होता है साक्षात् अनुभव में आता है।

व्याख्या—यहाँ आत्मा के उस शुद्धस्वरूप का अनुभव कैसे किया जाये इसके उपाय की वह सूचना और स्पष्ट रूप से की गयी है जिसे आचार्य महोदय ग्रन्थ के ३३ वें पद्य में बतला आये हैं और इसलिए उसे उक्त पद्य की व्याख्या से जानना चाहिए। इस पद्य में "**तद्रूपं स्पष्टमाभाति**" इस वाक्य के द्वारा यह खास घोषणा की गयी है कि उक्त उपाय से अच्छे अभ्यासी को आत्मा का वह शुद्ध स्वरूप स्पष्ट-साक्षात् प्रतिभासित होता है उसमें कुछ परोक्ष नहीं रहता, भले ही वह एक क्षण के लिए ही क्यों न हो?

आचार्य देवसेन ने तो आराधनासार में इस विषय को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'मन मन्दिर के उजाड़ होने पर उसमें किसी भी संकल्प-विकल्प का वास न रहने पर और समस्त इन्द्रियों का व्यापार नष्ट हो जाने पर आत्मा का स्वभाव अवश्य आविर्भूत होता है और उस स्वभाव के आविर्भूत होने पर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है–

---

१. सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना। यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः॥३०॥–समाधितन्त्र।

२. आ निषिध्यः, ब्या निषिव्यः।

उव्वसिए मणगेहे णट्ठे णिस्सेस-करण-वावारे।
विस्फुरिए ससहावे अप्पा परमप्पओ हवदि॥८५॥

विवक्षित केवलज्ञान से भिन्न आत्मा का कोई परमरूप नहीं

[1]स्वसंविदितमत्यक्षमव्यभिचारि केवलम्।
नास्ति ज्ञानं परित्यज्य रूपं चेतयितु:[2] परम्॥४६॥

अर्थ—जो अतीन्द्रिय है इन्द्रियों की सहायता से रहित है, अव्यभिचारी है, जिसका कभी भी संशय विपर्ययादिरूप अन्यथा परिणमन नहीं होता और स्वतः संविदित है स्वयं अपने द्वारा आपको जानता है, उस केवलज्ञान को छोड़कर आत्मा का दूसरा कोई परमरूप नहीं।

व्याख्या—यहाँ आत्मा के उस परमरूप के विषय में यह घोषणा की गयी है कि वह केवलज्ञान को छोड़कर दूसरा और कुछ नहीं है। साथ ही केवलज्ञान को स्पष्ट करने के लिए उसके तीन विशेषण दिये गये हैं–१. अत्यक्ष, २. अव्यभिचारी, ३. स्वसंविदित। अत्यक्ष अतीन्द्रिय को कहते हैं, जो ज्ञान स्पर्शनादि किसी भी इन्द्रिय की सहायता के बिना जानता है वह 'अत्यक्ष' (अतीन्द्रिय) ज्ञान कहलाता है। जिस ज्ञान में कभी भी अन्यथा परिणामरूप व्यभिचार-दोष नहीं आता उसे 'अव्यभिचारी' समझना चाहिए और जो ज्ञान स्वयं अपने ही द्वारा सम्यक् ज्ञात होता है, भानु मण्डल की तरह पर के द्वारा अप्रकाशित होता है, उसे 'स्वसंविदित' कहा जाता है।

परवस्तु में अणुमात्र भी राग रखने का परिणाम

यस्य रागोऽणुमात्रेण विद्यतेऽन्यत्र वस्तुनि।
आत्मतत्त्व-परिज्ञानी[3] बध्यते[4] कलिलैरपि॥४७॥

अर्थ—जिसके पर वस्तु में अणुमात्र–सूक्ष्म से सूक्ष्म भी राग विद्यमान है वह आत्म-तत्त्व का ज्ञाता होने पर भी पापों से कर्म प्रकृतियों से बँधता है।

व्याख्या—पीछे ३९ वें पद्य में यह बतला आये हैं कि जो योगी आत्मज्ञान से विमुख हुआ परद्रव्य में राग करता है वह न तो रत्नत्रयरूप है और न चारित्र पर चलने वाला ही है। इस पद्य में यह बतलाया है कि जो योगी आत्मतत्त्व से विमुख न होकर उसका परिज्ञाता तो है परन्तु परवस्तु में बहुत थोड़ा-सा राग भी यदि रखता है तो वह कर्मबन्धन से अवश्य बन्ध को प्राप्त होता है, मात्र सम्यग्ज्ञान का होना कर्मबन्ध को रोकने में समर्थ नहीं है। उसके लिए राग-द्वेष के अभावरूप सम्यक्चारित्र का होना भी जरूरी है।

---

१. आ स्वसंवेद्यतमत्यक्ष। २. ब्या नयतु। ३. मु परिज्ञानो; ब्या परिज्ञा नो। ४. आ वध्यते।

परमेष्ठिरूप की उपासना परमपुण्य-बन्ध का हेतु

[1]यो विहायात्मनो रूपं सेवते परमेष्ठिनः।
स बध्नाति परं पुण्यं न कर्मक्षयमश्नुते॥४८॥

अर्थ—जो आत्मा के रूप को छोड़कर परमेष्ठी की सेवा करता है अरहन्तादि परमेष्ठियों के रूप को ध्याता है वह उत्कृष्ट पुण्य को बाँधता है, किन्तु कर्मक्षय को पूर्णतः प्राप्त नहीं होता, आत्मा में शुभकर्मों का आगमन (आस्रव-बन्ध) बना रहता है।

व्याख्या—४४ वें पद्य में मुमुक्षु के लिए मुक्तिप्राप्ति के अर्थ एकमात्र आत्म-सेवा की बात कही गयी है और यहाँ तक लिखा है कि दूसरा कोई भी उपाय मुक्ति की प्राप्ति का नहीं है। इस पर यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या अर्हन्तादि परमेष्ठियों की सेवा भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती? इसके उत्तर में ही इस पद्य का अवतार हुआ जान पड़ता है। इसमें बतलाया है। कि जो आत्मरूप को छोड़कर परमेष्ठिरूप की उपासना करता है वह उत्कृष्ट पुण्य का बन्ध करता है और इसीलिए कर्म का सर्वथा क्षय नहीं कर पाता। कर्मों का सर्वथा क्षय हुए बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। मुक्ति की प्राप्ति के लिए उसे अहन्तादि के प्रति भक्ति राग को भी छोड़ना पड़ेगा। यद्यपि यह राग शुभ होता है, इसमें अशुभ कर्म के बन्ध को अवसर नहीं, प्रत्युत इसके पूर्व बँधा हुआ अशुभ कर्म छूट जाता है; फिर भी यह राग नये पुण्य बन्ध का कारण तो है ही, जिसके फलस्वरूप भक्त को देवलोक की, स्वर्गादि की प्राप्ति होती है; जैसा कि पंचास्तिकाय की निम्न गाथा से प्रकट है—

अरहंत-सिद्ध-चेदिय-पवयण-भत्तो परेण णियमेण।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगे समादियदि॥१७१॥

इसमें बतलाया गया है कि जो अर्हन्त, सिद्ध, चैत्य तथा प्रवचन का भक्त हुआ उत्कृष्ट (भक्ति) रूप से तपश्चरण करता है वह नियम से देवलोक को प्राप्त करता है।

कर्मास्रव को रोकने का अनन्य उपाय

नागच्छच्छक्यते कर्म रोद्धुं केनापि निश्चितम्।
निराकृत्य[2] परद्रव्याण्यात्मतत्त्वरतिं विना॥४९॥

अर्थ—परद्रव्यों को छोड़कर आत्मतत्त्व में रति-लीनता किये बिना आते हुए कर्म को आत्मा में प्रविष्ट एवं संश्लिष्ट (आस्रव-बन्ध को प्राप्त) होते हुए कर्म समूह को किसी भी उपाय से रोकना सम्भव नहीं; यह निश्चित है।

व्याख्या—इस पद्य में परद्रव्यों की उपासना छोड़ने की बात को और दृढ़ किया गया है। लिखा

---

१. अरहंत-सिद्ध-चेदिय-पवयण-गण-णाण-भत्तिसंपण्णो। बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि॥१६६॥ पञ्चास्तिकाय। २. आ, ब्या निराकृतापरद्रव्यामात्मतत्त्वरतिं।

है कि–परद्रव्यों को परद्रव्यों में रति को छोड़कर आत्मतत्त्व में रति किये बिना दूसरे किसी भी उपाय से आत्मा में कर्मों के आगमन को आस्रव को रोका नहीं जा सकता, यह असन्दिग्ध है। अत: मोक्ष प्राप्ति के अभिलाषियों को कर्मों के आस्रव-बन्ध से छूटने के लिए परद्रव्यों की उपासना को छोड़कर आत्मध्यान में रति को अपनाना चाहिए।

परद्रव्योपासक-मुमुक्षुओं की स्थिति

ये मूढा लिप्सवो मोक्षं परद्रव्यमुपासते।
ते यान्ति सागरं मन्ये हिमवन्तं यियासव:॥५०॥

अर्थ—जो मोक्ष की लालसा रखते हुए परद्रव्य की उपासना करते हैं–पर-द्रव्यों के भक्त एवं सेवक बने हुए उन्हीं के पीछे डोलते हैं, वे मूढ़जन हिमवान पर्वत पर चढ़ने के इच्छुक होते हुए समुद्र की ओर चले जाते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

व्याख्या—यहाँ उन लोगों को मूढ़–महामूर्ख मिथ्यादृष्टि बतलाया गया है जो लालसा तो रखते हैं मोक्ष की और उपासना करते हैं पर पदार्थ की, पर-पदार्थ के बन्धन से सर्वथा छूटने का नाम ही तो मोक्ष' है, जब पर-पदार्थों में अनुराग रखा जाता है तब उनके बन्धन से छूटना कैसा ? ऐसे लोगों की स्थिति उन यात्रियों जैसी है जो जाना तो चाहते हैं हिमालय पर्वत पर और चले जा रहे हैं समुद्र की तरफ।

परद्रव्य-विचिन्तक और विविक्तात्म-विचिन्तक की स्थिति

परद्रव्यीभवत्यात्मा परद्रव्यविचिन्तक:।
क्षिप्र[१]मात्मत्वमायाति विविक्तात्मविचिन्तक:॥५१॥

अर्थ—पर-द्रव्यों की चिन्ता में मग्न रहने वाला आत्मा परद्रव्य जैसा हो जाता है और शुद्ध आत्मा के ध्यान में मग्न आत्मा शीघ्र आत्मतत्त्व को अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—इस पद्य में परपदार्थों की चिन्ता के दोष को और स्वात्मचिन्ता के गुण को दर्शाया है। लिखा है कि जो निरन्तर परद्रव्यों की चिन्ता में रत रहता है वह परद्रव्य जैसा हो जाता है और जो शुद्ध आत्मा के चिन्तन में लीन रहता है वह शीघ्र ही अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है परद्रव्यरूप अथवा बहिरात्मा नहीं रहता।

विविक्तात्मा का स्वरूप

कर्म - नोकर्म - निर्मुक्तममूर्तमजरामरम्।
[२]निर्विशेषमसंबद्धमात्मानं योगिनो विदु:॥५२॥

---

१. आ क्षिप्रमात्मात्व। २. जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं। अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि॥१४॥–समयसार।

अर्थ—योगीजन आत्मा को कर्म-नोकर्म से विमुक्त ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों, रागद्वेषादि भावकर्मों और शरीरादि नोकर्म से रहित, अमूर्तिक, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण विहीन, अजर-अमर जन्म-जरा-मरण से अतिक्रान्त निर्विशेष, विशेष अथवा गुण-भेद से शून्य सामान्य स्वरूप और असम्बद्ध–सब प्रकार के सम्बन्धों एवं बन्धनों से रहित स्वतन्त्र (स्वाधीन) बतलाते हैं।

व्याख्या—जिस शुद्धात्मा के चिन्तन का पिछले पद्य में उल्लेख है उसे यहाँ एक दूसरे ही ढंग से स्पष्ट किया गया है यह बतलाया गया है कि वह आत्मा (द्रव्यभावरूप) कर्मों से, (शरीरादि रूप) नोकर्मों से विमुक्त है, (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण की व्यवस्थारूप, मूर्ति से रहित) अमूर्तिक है (कभी जरा से व्याप्त न होने वाला) अजर है, (कभी मरण को प्राप्त न होने वाला) अमर है, सब विशेषों से रहित अविशेष और सब प्रकार के बन्धनों से रहित असम्बद्ध है। योगिजनों ने इसी रूप में शुद्धात्मा का अनुभव करके उसका निर्देश किया है।

आत्मा के स्वभाव से वर्ण-गन्धादि का अभाव

[1]वर्ण - गन्ध - रस - स्पर्श - शब्द - देहेन्द्रियादयः।
चेतनस्य न विद्यन्ते निसर्गेण कदाचन॥५३॥

अर्थ—चेतन-आत्मा के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, देह, इन्द्रियाँ आदिक स्वभाव से किसी समय भी विद्यमान नहीं होते।

व्याख्या—पिछले पद्य में शुद्धात्मा के जो 'कर्मनोकर्मनिर्मुक्त' और 'अमूर्त' विशेषण दिये गये हैं उनके विषय को यहाँ स्पष्ट किया गया है। लिखा है कि–वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, देह और इन्द्रियादिक ये सब कभी भी स्वभाव से चेतनात्मा के रूप नहीं होते, क्योंकि ये सब पुद्‍गलद्रव्य के परिणाम हैं। 'आदि' शब्द से रूप, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, मार्गणा, तथा कर्मवर्गणादि गुणस्थानपर्यन्त उन सब भावों का ग्रहण है जिनका समयसार में (गाथा ५० से ५५ तक) उल्लेख है। यह सब कथन निश्चयनय की दृष्टि से है, जिसका सूचन 'निसर्गेण' पद से होता है, जो स्वभाव का वाचक है –विभाव का नहीं। पुद्‍गल द्रव्य के सम्बन्ध से जो कुछ परिणाम आत्मा में होता है वह सब विभाव परिणाम है और इसलिए जीव के वर्णादिक का होना, यह सब व्यवहारनय की दृष्टि से है, निश्चयनय की दृष्टि से नहीं; जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार की निम्न गाथा में प्रकट किया है–

---

१. जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो। णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ष संहणणं॥५०॥ जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो। णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि॥५१॥ जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्डया केई। णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभाय ठाणा वा॥५२॥ जीवस्स णत्थि केईजोग्गणा ण बंधठाणा वा। णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई॥५३॥ णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा। णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धि-ठाणा वा॥५४॥ णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स। जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा॥५५॥–समयसार।

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमाईया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स॥५६॥

शरीर-योग से वर्णादि की स्थिति का स्पष्टीकरण

शरीर-योगतः सन्ति वर्ण-गन्ध-रसादयः।
स्फटिकस्येव शुद्धस्य रक्त-पुष्पादि-योगतः॥५४॥

अर्थ—शुद्ध आत्मा के वर्ण गन्ध रस आदिक शरीर के सम्बन्ध से होते हैं; जैसे शुद्ध-श्वेत स्फटिक के लाल-पीले-हरे आदि पुष्पों के योग से लाल-पीले-हरे आदि वर्ण (रंग) होते हैं।

व्याख्या—इस पद्य में आत्मा का वर्णादिक विकाररूप विभाव परिणमन निश्चय से नहीं होता। किन्तु व्यवहार से कहा जाता है, इस बात को एक उदाहरण द्वारा दर्शाया गया है। लिखा है कि—जिस प्रकार लाल-पीले-हरे आदि पुष्पों के योग से शुद्ध स्फटिक को लाल-पीले-हरे आदि रंग का कहा जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा को शरीर के योग से वर्ण, गन्ध, रसादिरूप कहा जाता है वास्तव में ये उसके रूप नहीं, रक्त-पुष्पादि जैसी शरीर की उपाधि से सम्बन्ध रखते हैं।

रागादिक औदयिक भावों को आत्मा के स्वभाव मानने पर आपत्ति

राग- द्वेष - मद - क्रोध - लोभ - मोह - पुरस्सराः।
भवन्त्यौदयिका दोषाः सर्वे संसारिणः सतः॥५५॥
यदि चेतयितुः सन्ति स्वभावेन क्रुधादयः।
भवन्तस्ते विमुक्तस्य निवार्यन्ते तदा कथम्॥५६॥

अर्थ—संसारी जीव के जो रागद्वेष, मद, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोष होते हैं, वे सब औदयिक हैं, कर्मों के उदयवश होते हैं (स्वभाव से नहीं होते)। यदि चेतन आत्मा के क्रोधादिक दोषों का होना स्वभाव से माना जाये तो उन दोषों का मुक्त-आत्मा के होने का निषेध कैसे किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता।

व्याख्या—कर्मों के उदय के निमित्त से सब संसारी आत्माओं में जो दोष विकार उत्पन्न होते हैं उन्हें औदयिक भाव कहते हैं और वे मुख्यतः २१ प्रकार के माने गये हैं।[१] उनमें से यहाँ प्रथम पद्य में राग, द्वेष, मद (मान), क्रोध, लोभ, मोह (मिथ्यादर्शन) इन नामों से छह का तो उल्लेख किया है, शेष सबका आदि अर्थवाचक 'पुरस्सराः' पद के द्वारा संग्रह किया गया है, जिनमें नर, नारक, तिर्यक, देव ऐसे चार गतियों के भाव का, माया कषाय का, पुरुष, स्त्री, नपुंसक भावरूप तीन लिंगों (वेदों) का, कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्लरूप छह भाव लेश्याओं का, एक अज्ञान, एक असंयम और

---

१. गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध-लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकषड्भेदाः।-त० सूत्र२-६

एक असिद्ध-भाव का समावेश है। इस तरह संख्या २१ के स्थान पर २३ हो जाती है, जिसका कारण राग और द्वेष को प्रसिद्धि के कारण अलग से गिनने का है, जबकि वे कषाय-नोकषाय में आ जाते हैं; क्योंकि राग लोभ, माया, हास्य, रति, काम इन पाँच रूप और द्वेष, क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छह रूप होता है।[1] दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि राग, द्वेष और मोह में यद्यपि सारा मोहनीयकर्म आ जाता है फिर भी क्रोध, मान और लोभादिक का जो यहाँ अलग से ग्रहण किया है उसे स्पष्टता की दृष्टि से समझना चाहिए। औदयिकभाव सब विभाव होते हैं स्वभाव नहीं; इसी से उन्हें 'दोष' पद के द्वारा उल्लिखित किया है, जो कि विकार वाचक है।

दूसरे पद्य में यह बतलाया है कि यदि चेतनात्मा के इन क्रोधादिक औदयिक भावों का चेतनात्मा के स्वभाव से होना माना जाये तो मुक्तात्मा के उनके होने का निषेध कैसे किया जा सकता है ? नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्वभाव का तो कभी अभाव नहीं होता, अतः संसारावस्था से मुक्ति अवस्था के प्राप्त होने पर भी उनका अस्तित्व बना रहना चाहिए; जब कि वैसा नहीं है। वैसा मानने पर संसारी और मुक्त जीवों में फिर कोई भेद नहीं रहता और 'संसारिणो मुक्ताश्च' (जीवाः)' इस सूत्र का विरोध घटित होता है।

जीव के गुणस्थानादि २० प्ररूपणाओं की स्थिति

[2]गुणजीवादयः सन्ति विंशतिर्याः प्ररूपणाः।
कर्मसंबन्धनिष्पन्नास्ता जीवस्य न लक्षणम्॥५७॥

अर्थ—गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणास्थान आदि जो बीस प्ररूपणाएँ हैं वे जीव के कर्म सम्बन्ध से निष्पन्न होती हैं; जीव के लक्षणरूप नहीं हैं।

व्याख्या—यहाँ 'जीवस्य' पद उसी शुद्ध स्वभावस्थ जीवात्मा का वाचक है जिसका कथन पहले से चला आ रहा है और जिसके लिए अगले पद्य में 'विशुद्धस्य' इस विशेषण पद का प्रयोग किया गया है और जो कर्मों के सम्बन्ध से रहित विविक्त (विमुक्त) निष्कल परमात्मा होता है। उसी को यहाँ यह कहकर और स्पष्ट किया गया है कि गुणस्थान, जीवसमास आदि जो बीस प्ररूपणाएँ हैं वे भी उसका कोई लक्षण नहीं हैं। उन बीस प्ररूपणाओं के नाम हैं—१.गुणस्थान, २.जीवसमास, ३. पर्याप्ति, ४. प्राण, ५. संज्ञा, ६. गति, ७. इन्द्रिय, ८. काय, ९. योग, १०. वेद, ११. कषाय, १२. ज्ञान, १३. संयम, १४. दर्शन, १५. लेश्या, १६. भव्यत्व, १७. सम्यक्त्व, १८. संज्ञित्व, १९. आहार नाम की १४ मार्गणाएँ, २० उपयोग; जैसा कि आगम-प्रसिद्ध इन दो गाथाओं से जाना जाता है—

गुण-जीवा-पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो विसभेदे बीसं तु परूवणा भणिया॥

---

१. रागः प्रेम रतिर्माया लोभं हास्यं च पञ्चधा। मिथ्यात्वभेदयुक् सोऽपि मोहो द्वेषः क्रुधादिषट्॥—अध्यात्म रहस्य२७।
२. णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्य। जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा॥५५॥—समयसार।

गइ इंदिये य काये जोए वेये कसायणाणे य।
संजम-दंसण-लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥

इन सबके अवान्तर भेदों और उनके स्वरूप को षट्खण्डागम, गोम्मटसार, पंचसंग्रहादि सिद्धान्त ग्रन्थों से जाना जा सकता है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कह दिया है कि जो कोई भी जीव-विषयक प्ररूपणा किसी भी कर्म के अस्तित्व से सम्बन्ध रखती है वह शुद्ध (मुक्त) जीव की प्ररूपणा नहीं है और इसीलिए उसे संसारी जीव की प्ररूपणा समझना चाहिए।

क्षायोपशमिकभाव भी शुद्धजीव के रूप नहीं

क्षायोपशमिकाः सन्ति भावा ज्ञानादयोऽपि ये।
स्वरूपं तेऽपि जीवस्य विशुद्धस्य न तत्त्वतः॥५८॥

अर्थ—जो ज्ञान आदि के भी रूप में क्षायोपशमिक भाव हैं वे भी तत्त्व-दृष्टि से विशुद्ध जीव का स्वरूप नहीं हैं।

व्याख्या—शुद्धात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए जिस प्रकार पिछले पद्यों में यह बतला आये हैं कि गुणस्थानादिरूप बीस प्ररूपणाएँ और जितने भी औदयिक भाव हैं वे सब कर्मजन्य तथा कर्म के सम्बन्ध से निष्पन्न होने के कारण आत्मा के निजभाव अथवा स्वभाव न होकर विभाव-भाव हैं, उसी प्रकार इस पद्य में क्षायोपशमिक भावों के विषय में भी लिखा है कि वे भी तात्त्विक दृष्टि से विशुद्धात्मा के भाव नहीं हैं; क्योंकि उनकी उत्पत्ति में भी कर्मों के क्षयोपशम का सम्बन्ध है देशघाति स्पर्द्धकों (कर्मवर्गणा-समूहों) का उदय रहते सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय और उन्हीं का (आगामी काल में उदय आने की अपेक्षा) सदवस्थारूप उपशम होने से क्षायोपशमिक भाव होता है।[१] क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद[२] हैं– मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्ययरूप चार ज्ञान; कुमति-कुश्रुत-कुअवधिरूप तीन अज्ञान, चक्षु-अचक्षु-अवधिरूप तीन दर्शन; दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यरूप पाँच लब्धियाँ; एक सम्यक्त्व, जिसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं, एक चारित्र (संयम) और एक संयमासंयम। इन १८ भेदों में ज्ञान, अज्ञान, दर्शन और लब्धियों रूप भाव अपने-अपने आवरण और वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से होते हैं ?[३]

यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानादिक को शुद्धात्मा का स्वरूप न बतलाने से यह स्पष्ट जाना जाता है कि वे आत्मा के स्वभाव न होकर विभाव हैं। ज्ञान-दर्शन दोनों उपयोग स्वभाव-विभाव के भेद से दो-दो भेदरूप हैं। स्वभाव ज्ञान-दर्शन केवलज्ञान और केवलदर्शन है, जो इन्द्रिय-रहित और पर की सहायता से शून्य असहाय होते हैं। शेष सब ज्ञान-दर्शन विभावरूप है; जैसा कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य

---

१. सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावो भवति।–सर्वार्थसिद्धि।

२. ज्ञानाज्ञान-दर्शन-लब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्व-चारित्रसंयमासंयमाश्च। –त. सूत्र२-५।

३. तत्र ज्ञानादीनां वृत्तिः स्वावरणान्तराय-क्षयोपशमाद्व्याख्यातव्या। –सर्वार्थसिद्धि।

की निम्न दो गाथाओं से प्रकट है–

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥
तहं दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥१३॥

–नियमसार

कौन योगी कब किसका कैसे चिन्तन करता हुआ मुक्ति को प्राप्त होता है?

गलित - निखिल - राग - द्वेष - मोहादि - दोषः
सततमिति विभक्तं चिन्तयन्नात्मतत्त्वम्।
गतमलमविकारं ज्ञान-दृष्टि-स्वभावं
जनन-मरण-मुक्तं मुक्तिमाप्नोति योगी॥५९॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते जीवाधिकारः॥१॥

अर्थ–जो गतमल हैं, ज्ञानावरणादि कर्ममल से रहित है, अविकार है, रागादि विकारभावों से शून्य है, जन्म-मरण से मुक्त है और ज्ञान-दर्शन-स्वभावमय है, ऐसे विभक्त पर पदार्थ से भिन्न आत्मतत्त्व को निरन्तर ध्याता हुआ, जो योगी पूर्णतः राग-द्वेष-मोह आदि दोषों से रहित हो जाता है, वह मुक्ति को प्राप्त करता है।

व्याख्या–यह प्रथम अधिकार का उपसंहारात्मक पद्य है, जिसमें सारे अधिकार का सार खींचकर रखा गया है। इसमें बतलाया है–जिससे द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरूप मलविकार दूर हो गया है और इसलिए जो निर्विकार निर्दोष है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-स्वभावरूप है, जन्म-मरण से रहित-मुक्त है, उस शरीरादि परपदार्थों से विभिन्न हुए शुद्ध आत्मतत्त्व का जो योगी निरन्तर ध्यान करता हुआ अपने सब राग-द्वेष मोहादि-दोषों को गला देता है सुवर्ण में लगे किट्टकालिमा की तरह भस्म कर अपने आत्मा से अलग कर देता है, वह स्वात्मोपलब्धि रूप मुक्ति को प्राप्त होता है।

इसमें मुक्ति प्राप्ति का अति संक्षेप से बड़ा ही सुन्दर कार्यक्रम सूचित किया गया है।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित योगसारप्राभृत में जीवाधिकार नाम का प्रथम अधिकार समाप्त हुआ॥१॥

२

अजीवाधिकार

अजीव-द्रव्यों के नाम

[1]धर्माधर्म-नभः-काल-पुद्‌गलाः परिकीर्तिताः।
अजीवा जीवतत्त्वज्ञैर्जीवलक्षणवर्जिताः॥१॥

अर्थ—जीव तत्त्व के ज्ञाताओं (आत्मज्ञों) द्वारा धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्‌गल ये अजीव कहे गये हैं; क्योंकि ये जीव लक्षण से रहित हैं।

व्याख्या—अजीवाधिकार के इस प्रथम पद्य में अजीव तत्त्व के भेदरूप पाँच मूल नाम दिये हैं धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्‌गल। इन्हें 'अजीव' इसलिए कहा है कि ये जीव के उक्त लक्षण से रहित हैं जो कि पिछले अधिकार में उपयोगो विनिर्दिष्टस्तत्र लक्षणमात्मनः' (६) इत्यादि वाक्यों के द्वारा निर्दिष्ट है। यहाँ धर्म और अधर्म ये दो शब्द गुणवाचक अथवा पुण्य-पाप के वाचक न होकर द्रव्यवाचक हैं और उनकी जैनसिद्धान्त मान्य छह द्रव्यों में गणना है। इनका स्वरूपादि ग्रन्थ में आगे दिया है।

पाँचों अजीव-द्रव्यों की सदा स्वस्वभाव में स्थिति

[2]अवकाशं प्रयच्छन्तः प्रविशन्तः परस्परम्।
मिलन्तश्च[3] न मुञ्चन्ति स्व-स्वभावं कदाचन॥२॥

अर्थ—(ये अजीव) एक दूसरे को अवकाश-अवगाह प्रदान करते हुए, एक दूसरे में प्रवेश करते हुए और एक दूसरे के साथ मिलते हुए भी अपने निजस्वभाव को कभी नहीं छोड़ते हैं।

व्याख्या—यहाँ उक्त पाँचों अजीवों की स्थिति का निर्देश किया है। लिखा है कि-ये पाँचों परस्पर में मिलते-जुलते, एक दूसरे में प्रवेश करते और एक दूसरे को अवकाश देते हुए भी अपने-अपने स्वभाव को कभी भी नहीं छोड़ते। धर्म अधर्म का, अधर्म धर्म का, धर्म-अधर्म-आकाश का और आकाश धर्म-अधर्म का, धर्म-अधर्म-आकाश काल का, काल धर्म-अधर्म आकाश का, धर्म-अधर्म-आकाश-काल पुद्‌गल का और पुद्‌गल धर्म-अधर्म-आकाश-काल का रूप कभी नहीं ग्रहण करता।

१.धर्माधर्मावथाकाशं तथा कालश्च पुद्‌गलाः। अजीवाः खलु पञ्चैते निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः॥२॥-तत्त्वार्थसार। अजीवकायाधर्माधर्माकाशपुद्‌गलाः॥१॥ द्रव्याणि॥२॥ कालश्च॥३९॥-त. सूत्र। एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा। लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं॥१०२॥ आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा। तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा॥१२४॥-पञ्चास्तिकाय। २.अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स। मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण वि जहंति॥७॥ -पञ्चास्तिकाय। ३. आ, ब्या मीलंतश्च।

अजीवों में कौन अमूर्तिक, कौन मूर्तिक और मूर्ति लक्षण

अमूर्ता निष्क्रियाः[1] सर्वे मूर्तिमन्तोऽत्र पुद्गलाः[2]।
रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-व्यवस्था मूर्तिरुच्यते॥३॥

अर्थ—इन अजीवों में पुद्गल मूर्तिक है। शेष सब अमूर्तिक–मूर्तिरहित–और निष्क्रिय–क्रिया विहीन हैं। रूप (वर्ण) रस-गन्ध-स्पर्श की व्यवस्था (तरतीब Arrangement) को 'मूर्ति' कहते हैं।

व्याख्या—इस पद्य में उक्त पाँचों अजीवों की स्थिति को और स्पष्ट किया गया है–लिखा है कि पुद्गल को छोड़कर शेष धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चारों अजीव तत्त्व अमूर्तिक तथा निष्क्रिय हैं, केवल पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है और वह सक्रिय भी है। साथ ही मूर्ति का लक्षण भी दिया है जो अपने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की व्यवस्था को लिए हुए उसे 'मूर्ति' बतलाया है। वर्ण के पाँच–रक्त, पीत, कृष्ण, नील, शुक्ल; गन्ध के दो–सुगन्ध, दुर्गन्ध; रस के पाँच–तिक्त (चर्परा), कटु, अम्ल, मधुर, कषैला; और स्पर्श के आठ–कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष ये आठ मूल भेद होते हैं। पुद्गल के इन बीस मूल गुणों में से मूर्ति में कोई एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और शीत-स्निग्ध, शीत-रूक्ष, उष्ण-स्निग्ध, उष्ण-रूक्ष इन चार युगलों में-से कोई 'एक युगलरूप दो स्पर्श कम से कम होने ही चाहिए। इसी से पंचास्तिकाय में परमाणु का, जो सबसे सूक्ष्म पुद्गल है, स्वरूप बतलाते हुए 'एयरसवण्णगंधं दो फासं' (गाथा ८१) के द्वारा उसमें अनिवार्यरूप से पाँच गुणों का होना बतलाया है। साथ ही पुद्गलद्रव्य को समझने, पहचानने के लिए उसके कुछ भेदात्मक स्वरूप का भी निम्न गाथा द्वारा संसूचन किया है–

उवभोज्जमिंदिएहि य इंदिय काया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ॥ ८२॥ पञ्चास्तिकाय

इसमें बतलाया गया है कि जो स्पर्शनादि इन्द्रियों में-से किसी के भी द्वारा भोगा जाता है–स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा शब्दरूप परिणत विषय (स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्ररूप) पाँचों द्रव्येन्द्रियाँ, (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस तथा कार्मणरूप पाँच प्रकार के) शरीर, द्रव्यमन, द्रव्यकर्म, नोकर्मरूप कर्म और अन्य जो कोई भी मूर्तिक पदार्थ है वह सब पुद्गल है। अन्य मूर्तिक पदार्थों में उन सब पदार्थों का समावेश है जो अमूर्तिक के लक्षण से विपरीत हैं और नाना प्रकार की पर्यायों की उत्पत्ति में कारणभूत जो असंख्यात संख्यात अणुओं के भेद से अनन्तानन्त अणु-वर्गणाएँ द्व्यणुक स्कन्ध पर्यन्त हैं और जो परमाणुरूप हैं वे सब पुद्गल हैं।

---

१. आ निःक्रियाः। २. आगास-काल-जीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा। मुत्तं पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु॥ – पञ्चास्तिकाय ९७।

मूर्तिक–अमूर्तिक का एक लक्षण यह भी किया जाता है कि जो विषय–पदार्थ जीव से इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य हैं वे सब मूर्तिक और शेष सब अमूर्तिक हैं।[१] इसमें 'ग्रहण किये जाने की योग्यता के रूप में जो बात कही गयी है वह खास तौर से ध्यान में रखने के योग्य है; क्योंकि संख्यात–असंख्यात अणुओं के सूक्ष्म परिणमन को लिए हुए कितनी ही वस्तुएँ तथा पुद्‌गल वर्गणाएँ ऐसी होती हैं जो वर्तमानकाल में इन्द्रियगोचर नहीं हो पाती; परन्तु कालान्तर में स्थूल परिणमन के अवसर पर इन्द्रियगोचर होती हैं अतः इन्द्रियगोचर होने की योग्यता के सद्भाव के कारण उन्हें इन्द्रियगोचर न होने के अवसर पर भी मूर्तिक ही समझना चाहिए। परमाणु भी अपने शुद्धरूप में अति सूक्ष्मता के कारण इन्द्रियगोचर नहीं होते; परन्तु स्कन्धरूप में परिणत होकर जब स्थूलरूप धारण करते हैं तब इन्द्रियों के ग्रहण में आते हैं, इसलिए वे भी मूर्तिक हैं। इसी से 'मूर्तिमन्तोऽत्र पुद्‌गलाः' इस सूत्र के द्वारा पुद्‌गलमात्र को 'मूर्तिक' कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्र में भी 'रूपिणः पुद्‌गलाः' इस सूत्र के द्वारा उन्हें रूपी मूर्तिक निर्दिष्ट किया गया है, चाहे वे सूक्ष्म–स्थूल किसी भी अवस्था में क्यों न हों।

यहाँ एक बात और भी जान लेने की है और वह यह कि मूर्तिक में रूप, गन्ध, रस, स्पर्श की व्यवस्था का जो उल्लेख किया गया है, जो क्रमशः चक्षु–घ्राण–रसना–स्पर्शन इन चार इन्द्रियों के विषय हैं; परन्तु पाँचवीं श्रोत्रइन्द्रिय का विषय जो शब्द है उसका कोई उल्लेख नहीं किया गया, इसका कारण यह है कि शब्द पुद्‌गल का कोई गुण–स्वभाव नहीं है, जो स्थायीरूप से उसमें पाया जाय। चार इन्द्रियों के विषय स्पर्श–रस–गन्ध–वर्ण के रूप में हैं वे ही शब्दरूप परिणत होकर श्रोत्रइन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं।[२] इसी से शुद्ध पुद्‌गलरूप में जो जो परमाणु है उसे 'अशब्द' शब्दरहित कहा गया है, एक प्रदेशी होने के कारण उसमें शब्द पर्यायरूप परिणति वृत्ति का अभाव है; परन्तु शब्द में स्कन्धरूप परिणत–शक्ति का सद्भाव होने से वह शब्द का कारण होता है।[३]

जीवसहित पाँचों अजीवों की द्रव्य–संज्ञा

[४]जीवेन सह पञ्चापि द्रव्याण्येते निवेदिताः।
गुण–पर्ययवद्द्रव्यमिति लक्षण–योगतः॥४॥

अर्थ—ये पाँच अजीव जीवसहित 'द्रव्य' कहे गये हैं; क्योंकि ये 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' इस द्रव्य लक्षण को लिए हुए हैं।

व्याख्या—पूर्वोक्त पाँचों अजीव, जीव सहित 'द्रव्य' कहे जाते हैं; और इसलिए द्रव्यों की मूल

१. जे खलु इंदियगेज्झा विसया जीवेहिं हुंति ते मुत्ता। सेसं हवदि अमुत्तं चित्तं उभयं समादियदि। – पञ्चास्तिकाय ९९॥
२.श्रोत्रेन्द्रियेण तु त एव तद्विषयहेतुभूतशब्दाकारपरिणता गृह्यन्ते।–पञ्चास्तिकाय टीका, अमृतचन्द्राचार्य। ३.परमाणुः शब्दस्कन्ध–परिणति–शक्ति–स्वभावात् शब्दकारणं एकप्रदेशत्वेन शब्दपरिणतिवृत्त्यभावादशब्दः।–अमृतचन्द्राचार्य, पञ्चास्तिकाय ८१ टीका।
४. अजीव काया धर्माधर्माकाशपुद्‌गलाः ५–१। द्रव्याणि ५–२, जीवाश्च ५–३, कालश्च ५–३९ –त. सूत्र।

संख्या छह है छह प्रकार के द्रव्य हैं, जिनकी यह छह की संख्या कभी घट-बढ़ नहीं होती ये छहों गुण पर्यायवान हैं, इसी से 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इस सूत्र के अनुसार इन्हें द्रव्य कहा जाता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में द्रव्य का निरूपण तीन प्रकार से किया है-एक सल्लाक्षणिक, दूसरा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त और तीसरा गुण-पर्यायाश्रय (गुण-पर्यायों का आधारभूत); जैसा कि उसकी निम्न गाथा से जाना जाता है-

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥

इनमें से तीसरा लक्षण तत्त्वार्थसूत्र के 'गुण-पर्ययवद्-द्रव्यं' सूत्र के साथ तथा पहला लक्षण 'सद्द्रव्यलक्षणं' सूत्र के साथ एकता रखता है और दूसरे लक्षण के लिए तत्त्वार्थसूत्र में 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' इस सूत्र की सृष्टि की गयी है, जो कि सत् का लक्षण है। सत् द्रव्य का लक्षण होने से सत् का जो लक्षण वह भी द्रव्य का लक्षण हो जाता है। इन तीनों लक्षणों में सामान्यतः भेद का कुछ दर्शन होते हुए भी विशेषतः कोई भेद नहीं है तीनों एक ही आशय के द्योतक हैं, यह बात ग्रन्थ के अगले पद्यों से स्पष्ट हो जाती है।

द्रव्य का व्युत्पत्तिपरक लक्षण और सदा सत्तामय स्वरूप

[1]द्रूयते गुणपर्यायैर्यद्यद् द्रवति तानथ।
तद् द्रव्यं भण्यते षोढा सत्तामयमनश्वरम् ॥५॥

अर्थ-जो गुण-पर्यायों के द्वारा द्रवित होता है अथवा उन गुण-पर्यायों को द्रवित करता है वह 'द्रव्य' कहा जाता है (यह द्रव्य का निर्युक्ति-परक लक्षण है)। वह द्रव्य (उक्त जीवादि) छह भेदरूप है, सत्तामय है, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से युक्त है और अविनश्वर है, कभी नष्ट न होने वाला है।

व्याख्या-इस पद्य में 'द्रव्य' शब्द की व्याकरणसम्मत निर्युक्ति द्वारा द्रव्य के पूर्व पद्य वर्णित लक्षण का स्पष्टीकरण किया गया है। लिखा है कि-जो गुण पर्यायों के द्वारा द्रवित होता है अथवा गुण पर्यायों को द्रवित करता है, प्राप्त होता है-उसे 'द्रव्य' कहा जाता है और वह छह भेदरूप है। यह छह भेद रूप द्रव्य सत्तामय है, इसी से 'सद् द्रव्यलक्षणं' इस सूत्र के अनुसार द्रव्य का लक्षण सत् भी है और इस सत् तथा सत् लक्षण के कारण द्रव्य को 'अनश्वर' कभी नाश न होने वाला कहा जाता है।

१. दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं। दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो॥९॥-पञ्चास्तिकाय।

सर्वपदार्थगत-सत्ता का स्वरूप

[1]ध्रौव्योत्पादलयालीढा सत्ता सर्वपदार्थगा।
एकशोऽनन्तपर्याया प्रतिपक्षसमन्विता ॥६॥

अर्थ—सत्ता ध्रौव्योत्पत्ति-व्ययात्मिका, एक से लेकर सब पदार्थों में व्यापने वाली, अनन्त-पर्यायों की धारिका और प्रतिपक्ष-समन्विता-असत्ता आदि के साथ विरोध न रखने वाली होती है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिस सत्ता का उल्लेख है उसका इस पद्य में लक्षण दिया है और उसे ध्रौव्योत्पत्ति-व्ययात्मक बतलाया है तथा सर्व पदार्थों में व्याप्त लिखा है कोई भी पदार्थ चाहे वह उत्पादरूप, व्ययरूप या ध्रौव्यरूप हो सत्ता से शून्य नहीं है और उस सत्ता की एक से लेकर अनन्त पर्यायें हैं। सत्तारूप द्रव्य की पर्यायों का कभी कहीं अन्त नहीं आता, यदि अन्त आ जाये तो द्रव्य ही समाप्त हो जाये और द्रव्य सत्‌रूप होने से और सत् ध्रौव्यरूप होने से उसका कभी नाश नहीं होता। उत्पाद-व्यय द्रव्य की पर्यायों में हुआ करता है, द्रव्य में अथवा ध्रौव्यरूप गुणों में नहीं। साथ ही सत्ता को 'प्रतिपक्षसमन्विता'-प्रतिपक्ष के साथ विरोध न रखने वाली लिखा है। सत्ता का प्रतिपक्ष असत्ता है। सत्ता उत्पाद-व्यय की दृष्टि से दोनों रूप है अतः असत्ताके साथ उसका विरोध नहीं बनता।

इस सर्वपदार्थस्थिता और सविश्वरूपा सत्ता को पंचास्तिकाय में एक बतलाया है और इसलिए वह 'महासत्ता' है। पदार्थों के भेद की दृष्टि से महासत्ता की अवान्तर सत्ताएँ उसी प्रकार अनेकानेक तथा अनन्त होती हैं जिस प्रकार कि अखण्ड एक आकाश द्रव्य में अंशकल्पना के द्वारा उसकी अनन्त अवान्तर सत्ताएँ होती हैं। सत्ता का प्रतिपक्ष जिस प्रकार असत्ता है उसी प्रकार एकरूपता का प्रतिपक्ष नानारूपता, एक पदार्थ स्थिति का प्रतिपक्ष नाना पदार्थ स्थिति, ध्रौव्योत्पत्ति विनाशरूप त्रिलक्षणा सत्ता का प्रतिपक्ष त्रिलक्षणाभाव, एक का प्रतिपक्ष अनेक और अनन्त पर्याय का प्रतिपक्ष एक पर्याय है।[2]

द्रव्य का उत्पाद-व्यय पर्याय की अपेक्षा से।

नश्यत्युत्पद्यते भावः पर्यायापेक्षयाखिलः।
नश्यत्युत्पद्यते कश्चिन्न द्रव्यापेक्षया पुनः॥७॥

अर्थ—सम्पूर्ण पदार्थ समूह पर्याय की अपेक्षा से नष्ट होता है तथा उत्पन्न होता है किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से न कोई पदार्थ नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है।

---

१. सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया। भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का॥८॥ -पञ्चास्तिकाय।

२. प्रतिपक्षमसत्ता स्यात्सत्तायास्तद्यथा तथा चान्यत्। नानारूपत्वं किल प्रतिपक्षं चैकरूपतायास्तु॥२०॥ एकपदार्थस्थितिरिह सर्वपदार्थस्थितेर्विपक्षत्वम्। ध्रौव्योत्पादविनाशैस्त्रिलक्षणायास्त्रिलक्षणाभावः॥२१॥ एकस्यास्तु विपक्षः सत्तायाः स्याददोह्यनेकम्। स्यादप्यनन्त-पर्ययप्रतिपक्षस्त्वेकपर्ययत्वं स्यात्॥२२॥- पञ्चाध्यायी॥

व्याख्या—पिछले पद्य में जिस ध्रौव्योत्पत्तिव्ययरूप त्रिलक्षणा सत्ता का उल्लेख है उसको यहाँ उत्पाद और व्यय की दृष्टि से स्पष्ट किया गया है—लिखा है कि यह उत्पाद और व्यय समस्त पदार्थों में पर्याय की अपेक्षा से होता है, द्रव्य की अपेक्षा से न कोई पदार्थ कभी उत्पन्न होता है और न कभी नाश को प्राप्त होता है। सब द्रव्य अनादिनिधन सद्भावरूप हैं।[1] पंचास्तिकाय में द्रव्य का व्यय, उत्पाद और ध्रुवपना पर्यायें करती हैं, ऐसा लिखा है वहाँ पर्याय का आशय सहभावी और क्रमभावी दोनों प्रकार की पर्यायों से है, सहभावी पर्यायों को गुण कहते हैं, जिससे द्रव्य में ध्रुवपना होता है और क्रमभावी पर्यायों को 'पर्याय' कहते हैं, जिनसे द्रव्य में उत्पाद-व्यय घटित होता है।

गुण-पर्याय के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना गुण-पर्याय नहीं

[2]किंचित् संभवति द्रव्यं न विना गुण-पर्ययैः।
संभवन्ति विना द्रव्यं न गुणा न च पर्ययाः॥८॥

अर्थ—गुण-पर्यायों के बिना कोई द्रव्य नहीं हो सकता और न द्रव्य के बिना कोई गुण या पर्याय हो सकते हैं।

व्याख्या—जिस प्रकार दूध, दही, मक्खन और घृतादि से रहित गोरस नहीं होता उसी प्रकार पर्यायों से रहित कोई द्रव्य नहीं होता। जिस प्रकार गोरस से शून्य दूध, दही, घृतादि नहीं होते उसी प्रकार द्रव्य से शून्य कोई पर्याय नहीं होती और जिस प्रकार पुद्गल से रहित स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण नहीं होते उसी प्रकार द्रव्य से रहित गुण नहीं होते और जिस प्रकार स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से शून्य पुद्गल नहीं होता उसी प्रकार गुणों से शून्य द्रव्य नहीं होता। इस तरह पर्यायों का द्रव्य के साथ और द्रव्य का पर्यायों के साथ जिस प्रकार अनन्यभूत (अभिन्न) भाव है उसी प्रकार द्रव्य का गुणों के साथ और गुणों का द्रव्य के साथ अव्यतिरिक्त (अभेद) भाव है। इसी बात को अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार के निम्न पद्यों में व्यक्त किया है, जो श्री कुन्दकुन्दाचार्य के अनुकरण को लिए हुए हैं—

गुणैर्विना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः।
द्रव्यस्य च गुणानां च तस्मादव्यतिरिक्तता॥११॥
न पर्यायाद्विना द्रव्यं विना द्रव्यान्न पर्ययः।
वदन्त्यनन्यभूतत्वं द्वयोरपि महर्षयः॥१२॥

---

१. उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो। विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया॥११॥ – पञ्चास्तिकाय।

२. पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि। दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति॥१२॥ दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि। अव्वदिरित्तो भावो दव्व-गुणाणं हवदि तम्हा॥१३॥ – पञ्चास्तिकाय।

धर्माधर्मादि द्रव्यों की प्रदेश व्यवस्था

धर्माधर्मैकजीवानां प्रदेशानामसंख्यया।
अवष्टब्धो नभोदेशः प्रदेशः परमाणुना[१]॥९॥

अर्थ—धर्म, अधर्म और एक जीव इन द्रव्यों के प्रदेशों की असंख्यात से प्रत्येक के असंख्यात प्रदेशों से—आकाश का देश—लोकाकाश—अवरुद्ध है और परमाणु से—पुद्‌गलपरमाणु तथा कालाणु से आकाश का—लोकाकाश का—प्रदेश अवरुद्ध है।

व्याख्या—जिन धर्मादि छह द्रव्यों का ऊपर उल्लेख है उनके प्रदेशों की संख्या आदि का वर्णन करते हुए उनमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीव के प्रदेशों की संख्या यहाँ असंख्यात बतलायी है और यह भी बतलाया है कि उनमें से प्रत्येक के असंख्यात असंख्यात प्रदेशों से आकाश का देश जो लोकाकाश है वह अवरुद्ध है—घिरा हुआ है और पुद्‌गलपरमाणु तथा कालाणु से लोकाकाश का प्रदेश घिरा हुआ है।

परमाणु का लक्षण

[२]द्रव्यमात्मादिमध्यान्तमविभागमतीन्द्रियम्।
अविनाश्यग्निशस्त्राद्यैः परमाणुरुदाहृतम्॥१०॥

अर्थ—जो (स्वयं) आदि मध्य और अन्तरूप है—जिसका आदि मध्य और अन्त एक दूसरे से भिन्न नहीं है अविभागी है जिसका विभाजन-खण्ड अथवा अंशविकल्प नहीं हो सकता, अतीन्द्रिय है इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं और अग्नि-शस्त्र आदि द्वारा विनाश को प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसा द्रव्य 'परमाणु' कहा गया है।

व्याख्या—जिस परमाणु का पिछले पद्य में उल्लेख है उसका इस पद्य में लक्षण दिया है। उस लक्षण द्वारा उसे स्वयं आदि-मध्य-अन्तरूप अर्थात् आदि-मध्य-अन्त से रहित, विभाग-विहीन, इन्द्रियों के अगोचर और अग्नि-शस्त्रादि किसी भी पदार्थ के द्वारा नाश को प्राप्त न होने वाला अविनाशी बतलाया है। जिसमें ये सब लक्षण घटित न हों उसे परमाणु न समझना चाहिए।

परमाणु की स्वरूप विषयक अच्छी जानकारी के लिए कुछ दूसरी बातों अथवा परमाणु के अन्य विशेषणों को भी जान लेना चाहिए जिन्हें श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में व्यक्त किया है और वे हैं—सर्वस्कन्धान्त्य, शाश्वत, अशब्द, अविभागी, एक, मूर्तिभव, आदेशमात्रमूर्त, धातुचतुष्क-कारण, परिणाम-गुण, एक-रस-वर्ण-गन्ध, द्विस्पर्श, शब्द-कारण, स्कन्धान्तरित। जैसा कि उसकी निम्न गाथाओं से प्रकट है—

---

१. आ प्रदेशपरमाणुना। २. अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं। अविभागी जं दव्वं परमाणु तं वियाणाहि ॥२६॥ —नियमसार।

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागि मुत्तिमवो॥७७॥
आदेशमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो ॥७८॥
एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणू तं वियाणीहि ॥८१॥

पुद्‌गल की किसी भी स्कन्धपर्याय का भेद (खण्ड) होते-होते जो अन्तिम भेद अवशिष्ट रहता है उसे 'स्कन्धान्त्य' कहते हैं। उसका फिर कोई भेद न हो सकने से उसे अविभागी कहते हैं। जो निर्विभागी होता है वह एकप्रदेशी है और एकप्रदेशी होने से 'एक' कहा जाता है-द्व्यणुकादि स्कन्धरूप एक नहीं। मूर्त-द्रव्यरूप से उसका कभी नाश नहीं होता इसलिए उसको 'शाश्वत' (नित्य) कहते हैं। अनादि-निधन रूपरसगन्धस्पर्शवन्ती जो मूर्त है, उसके परिणाम से उत्पन्न होने के कारण वह 'मूर्तिमय' कहलाता है। रूपादिरूप मूर्ति के परिणाम से उत्पन्न होने पर भी शब्द के परमाणुगुणपने का अभाव होने तथा पुद्‌गल की स्कन्धपर्याय के रूप में व्यपदिष्ट होने के कारण परमाणु 'अशब्द' रूप को लिए हुए है। परमाणु मूर्तिक है ऐसा कहा जाता है, परन्तु दृष्टि से दिखलाई नहीं देता इसलिए उसे 'आदेशमात्र-मूर्त' कहते हैं अथवा परमाणुमें मूर्तत्व के कारणभूत जो स्पर्शादि चार गुण हैं वे आदेशमात्र से-कथनमात्र की दृष्टि से भेद को प्राप्त हैं पृथक्‌रूप से कथन किये जाते हैं सत्तारूप प्रदेश भेद की दृष्टि से नहीं; क्योंकि वास्तव में परमाणु का जो आदि-मध्य और अन्तरूप एक प्रदेश है वही स्पर्शादि गुणों का भी प्रदेश है द्रव्य और गुणों में प्रदेश भेद नहीं होता। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप जो चार धातु हैं, भूतचतुष्टय हैं उनके निर्माण का कारण होने से परमाणु को 'धातुचतुष्क कारण' कहते हैं। गन्धादि गुणों में व्यक्ताव्यक्त रूप विचित्र परिणमन के कारण परमाणु को 'परिणाम गुण' कहा जाता है। एकप्रदेशी होने से परमाणु शब्दरूप परिणत नहीं होता; क्योंकि शब्द अनेकानेक परमाणुओं का पिण्ड होता है और वह पुद्‌गल का कोई गुण भी नहीं है, इसी से परमाणु 'स्वयमशब्द' कहलाता है। रस तथा वर्ण की पाँच-पाँच पर्यायों में से किसी एक-एक पर्याय को और गन्ध की दो पर्यायों में से किसी एक पर्याय को एक समय में अवश्य लिए हुए होने के कारण परमाणु की 'एक-रस-वर्ण-गन्ध' संज्ञा है और शीतस्निग्ध, शीतरूक्ष, उष्णस्निग्ध, उष्णरूक्ष रूप जो चार स्पर्शगुण के जोड़े हैं, उनमें से एक समय में किसी एक ही जोड़े रूप परिणत होने के कारण परमाणु को 'द्विस्पर्श' भी कहते हैं। परमाणु स्वयं शब्दरूप न होने पर भी स्कन्धरूप परिणत होने की शक्ति को लिए हुए होने के कारण 'शब्दकारण' कहा जाता है और अनेक परमाणुओं की एकत्व परिणतिरूप जो स्कन्ध है उससे अन्तरित स्वभाव से भेदरूप जुदा द्रव्य होने के कारण परमाणु को स्कन्धान्तरित' भी कहते हैं। जो धातुचतुष्क का कारण होता है उसे 'कारणपरमाणु' और

जो स्कन्धों का अन्त्य होता है उसे 'कार्यपरमाणु' कहते हैं। एकरस-वर्ण-गन्ध-द्विस्पर्शगुणपरमाणु 'स्वभावगुण' कहलाता है, शेष 'विभावगुण-परमाणु' द्व्यणुकादि स्कन्धरूप होता है[१] और उसके विभावगुण सर्वेन्द्रियग्राह्य होते हैं।[२]

आकाश और पुद्‍गलों की प्रदेश-संख्या

प्रदेशा नभसोऽनन्ता अनन्तानन्तमानकाः।
पुद्‍गलानां जिनैरुक्ताः परमाणुरनंशकः॥११॥

अर्थ—जिनों के द्वारा आकाश के अनन्त और पुद्‍गलों के अनन्तानन्त प्रमाण प्रदेश कहे गये हैं। परमाणु अनंशक–अप्रदेशी (प्रदेशमात्र) कहा गया है।

व्याख्या—यहाँ आकाश और पुद्‍गल द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या का निर्देश करते हुए उन्हें क्रमशः अनन्त तथा अनन्तानन्त बतलाया है और पुद्‍गल परमाणु को अंशरहित लिखा है, जिसका आशय है अप्रदेशी अथवा प्रदेशमात्र एक ही प्रदेश के रूप में। परमाणु से यहाँ कालाणु का भी ग्रहण है अतः कालाणु को भी अंशरहित अप्रदेशी अथवा प्रदेशमात्र समझना चाहिए।

कालाणुओं की संख्या और अवस्थिति

[३]असंख्या भुवनाकाशे कालस्य परमाणवः।
एकैका व्यतिरिक्तास्ते[४] रत्नानामिव राशयः॥१२॥

अर्थ—लोकाकाश में काल के परमाणु असंख्यात कहे गये हैं और वे रत्नों की राशियों में रत्नों के समान एक-एक और भिन्न-भिन्न हैं आकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु स्थित है।

व्याख्या—इस पद्य में छठे काल द्रव्य की संख्या और उसकी स्थिति का निर्देश है। लिखा है कि काल के परमाणु-कालाणुरूप कालद्रव्य-असंख्यात हैं और वे लोकाकाश में लोक के असंख्यातप्रदेशों में रत्नों की राशियों में रत्नों की तरह एक-एक करके एक दूसरे से भिन्न स्थित हैं। यहाँ आकाश का 'लोकाकाश' नाम इस बात को सूचित करता है कि अखण्ड एक आकाश के दो भेद हैं–एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। कालद्रव्य लोकाकाश में ही स्थित हैं अलोकाकाश में नहीं।

---

१. धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं त्ति तं णेयो। खंधाणं अवसाणो णादव्वो कज्जपरमाणू॥२५॥ २. एयरसरूवगंधं दो फासं तं हवे सहावगुणं। विभावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्व पयउत्तं॥२७॥–नियमसार। ३. लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का। रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि॥२२॥ – लघुद्रव्यसंग्रह१२, बृहद्रव्यसं०२२; गो. जी. गा. ५८८। ४.आ व्यवतिष्ठन्ते।

धर्म-अधर्म तथा पुद्गलों की अवस्थिति

[1]धर्माधर्मौ स्थितौ व्याप्य लोकाकाशमशेषकम्।
व्योमैकांशादिषु ज्ञेया पुद्गलानामवस्थितिः॥१३॥

अर्थ—धर्म-अधर्म दोनों द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त कर तिष्ठते हैं। पुद्गलों का अवस्थान आकाश के एक अंश आदि में एक प्रदेश से लेकर एक-एक प्रदेश बढ़ाते हुए सम्पूर्ण लोकाकाश में जानना चाहिए।

व्याख्या—इस पद्य में धर्म–अधर्म और पुद्गल इन तीन द्रव्यों की स्थिति का उल्लेख है। धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य तो सारे लोकाकाश को व्याप्त करके स्थित हैं लोकाकाश का कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं जो इनसे व्याप्त न हो। इनमें से प्रत्येक की प्रदेशसंख्या, असंख्यात होने से लोकाकाश भी असंख्यातप्रदेशी है यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। पुद्गलों की अवस्थिति लोक के एक प्रदेश को आदि लेकर असंख्यात प्रदेशों तक में है।

संसारी जीवों की लोकस्थिति और उनमें संकोच—विस्तार

[2]लोकासंख्येयभागादाववस्थानं शरीरिणाम्।
अंशा विसर्प-संहारौ दीपानामिव कुर्वते॥१४॥

अर्थ—शरीरधारी जीवों का अवस्थान (स्थिति) लोक के असंख्येय-भागादिकों में है, लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर एक-एक प्रदेश बढ़ाते हुए पूर्ण लोकाकाश तक है। संसारी जीवों के अंश प्रदेश दीपकों के समान संकोच-विस्तार करते रहते हैं शरीर के आकारानुसार संकोच तथा विस्तार को प्राप्त होते रहते हैं।

व्याख्या—इस पद्य में देहधारी संसारी जीवों के लोकाकाश में अवस्थान का निरूपण करते हुए बतलाया है कि असंख्यात-प्रदेशी लोक का असंख्यातवाँ भाग जो एक प्रदेश है उससे लेकर असंख्यात प्रदेशरूप पूरे लोकपर्यन्त जीवों की अवस्थिति सम्भव है। एक जीव की पूरे लोक में अवस्थिति लोकपूरण समुद्घात के समय बनती है, उससे कम प्रदेशों में स्थिति दूसरे समुद्घातों के समय तथा मूलशरीर के आकार प्रमाण हुआ करती है। इसी से संसारी जीव को स्वदेह परिमाण बतलाया है और मुक्तजीव को अन्तिम देहाकार से किंचित् ऊन (हीन) लिखा है। मूलशरीर जो औदारिक आदि के रूप में होता है उसे न छोड़कर उत्तरदेह तैजसादि के प्रदेशों सहित आत्मप्रदेशों का जो बाहर निकलना, फैलना है उसे 'समुद्घात' कहते हैं।[3] उसके छह भेद हैं। उनकी स्थिति के

---

१. लोकाकाशेऽवगाहः धर्माधर्मयोः कृत्स्ने॥१३॥ एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम्॥१४॥ त. सूत्र अ. ५, सू.१२,१३,१४।

२. असंख्येयभागादिषु जीवानाम्॥१५॥ प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्॥१६॥–त. सूत्र अ. ५।

३.मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स। णिग्गमणं देहादो होदि समुद्घाद णामं तु॥

अनुसार मूल शरीर से आत्मप्रदेश उत्तरदेह के साथ बाहर निकलते हैं, निकलकर जितने लोकाकाश के प्रदेशों में वे व्याप्त होते हैं उतने लोकाकाश में उनकी स्थिति कही जाती हैं। जीव के प्रदेशों में यह संकोच और विस्तार दीपक के प्रदेशों के समान होता है और संसारी जीवों में ही होता है मुक्त जीवों में नहीं; क्योंकि यह संकोच-विस्तार कर्म के निमित्त से होता है, मुक्तात्माओं में कर्मों का अभाव हो जाने से वह नहीं बनता; जैसा कि तत्त्वानुशासन के निम्न वाक्य से प्रकट है-

पुंसः संहार-विस्तारौ संसारे कर्म-निर्मित्तौ।
मुक्तौ तु तस्य तौ न स्तः क्षयात्तद्धेतु-कर्मणाम्॥२३२॥

जीव-पुद्गलों का अन्यद्रव्यकृत उपकार

[१]जीवानां पुद्गलानां च धर्माधर्मौ गतिस्थिती।[२]
अवकाशं नभः कालो वर्तनां कुरुते सदा॥१५॥

अर्थ—धर्मद्रव्य सदा जीवों और पुद्गलों की गति को गति में उपकार को अधर्मद्रव्य स्थिति को स्थिति में उपकार को करता है। आकाश सदा (सब द्रव्यों के) अवकाश-अवगाहन-कार्य को और काल सब द्रव्यों के सदा वर्तना परिवर्तन कार्य को करता है उस कार्य के करने में सहायक होता है।

व्याख्या—इस पद्य में तथा आगे के तीन पद्यों में द्रव्यों का द्रव्यों के प्रति उपकार का वर्णन है, जिसे गुण, उपग्रह, सहाय तथा सहयोग भी कहते हैं। जीव तथा पुद्गल द्रव्यों के प्रति धर्मद्रव्य उनकी गति में, अधर्मद्रव्य स्थिति में, आकाशद्रव्य अवगाहन में, कालद्रव्य वर्तना-परिवृत्ति में उदासीनरूप से सहायक होता है, किसी इच्छा की पूर्ति अथवा प्रेरणा के रूप में नहीं। क्योंकि ये चारों ही द्रव्य अचेतन तथा निष्क्रिय हैं, इनमें इच्छा तथा प्रेरणादि का भाव नहीं बनता। ये तो उदासीन रहकर जीवों तथा पुद्गलों के गति आदिरूप परिणाम-कार्यों में उसी प्रकार सहायक होते हैं जिस प्रकार कि मत्स्यों के गति-कार्य में जल, पथिक के स्थिति कार्य में मार्गस्थित वृक्ष आदि।

संसारी और मुक्त जीव का उपकार

[३]संसारवर्तिनोऽन्योन्यमुपकारं वितन्वते।
मुक्तास्तद्व्यतिरेकेण न कस्याप्युपकुर्वते॥१६॥

अर्थ—संसारवर्ती जीव परस्पर एक दूसरे का उपकार करते हैं। मुक्तजीव उस संसार से पृथक् हो

१.(क) गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाणं च। अवगहणं आयासं जीवादी-सव्वदव्वाणं॥३०॥ -नियमसार। (ख) जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो॥३३॥-नियमसार। (ग) आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं। धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा॥१३३॥-प्रवचनसार। (घ) कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो। णेया संखेवादो गुणेहि मुत्तिप्पहीणाणं॥१३४॥-प्रवचनसार। गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः॥१३॥ आकाशस्यावगाहः॥१८॥ -त. सूत्र अ. ५। २.आ गतिस्थितिः। ३. परस्परोपग्रहो जीवानाम्॥२१॥-त. सूत्र अ. ५।

जाने के कारण किसी का भी उपकार नहीं करते हैं।

व्याख्या—इस पद्य में संसारी तथा मुक्त दोनों प्रकार के जीवों के उपकार का उल्लेख किया है। संसारी जीवों के विषय में लिखा है कि वे परस्पर में एक दूसरे का उपकार करते हैं। यहाँ उपकार शब्द में उपलक्षण से अपकार का भी ग्रहण है; संसारी जीव एक दूसरे का उपकार ही नहीं करते अपकार भी करते हैं, और इसलिए कहना चाहिए कि जीव एक-दूसरे के उपकार अपकार या सुख-दुःख में सहयोग करते अथवा निमित्त कारण बनते हैं। मुक्तजीव किसी का भी उपकार नहीं करते; क्योंकि जिसका उपकार किया जाता है या किया जा सकता है वे संसारी जीव होते हैं, मुक्तजीव संसार से सदा के लिए अलग हो गये हैं, इसलिए संसारी जीवों का वे कोई उपकार या अपकार नहीं करते।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब मुक्तात्मा किसी का उपकार नहीं करते तो फिर उनकी उपासना-पूजा-वन्दना क्यों की जाती है? क्यों ग्रन्थकार महोदय ने ग्रन्थ के आदि में उनकी स्तुति की है? इसका उत्तर इतना ही है कि एक तो मुक्त जीवों के द्वारा उनकी पूर्व की अर्हन्तादि अवस्थाओं में हमारा उपकार हुआ है इसलिए हम उनके ऋणी हैं, ''न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति'' जो साधुजन होते हैं वे किये हुए उपकार को कभी भूलते नहीं। दूसरे, जिस आत्म-विकासरूप सिद्धि को वे प्राप्त हुए हैं उसे हमें भी प्राप्त करना इष्ट है और वह उनके आदर्श को सामने रखकर उनके नकशे-कदम पर चलकर तथा उनके प्रति भक्तिभाव का संचार करके प्राप्त की जा सकती है अतः उनकी उपासना हमारी सिद्धि में सहायक होने से करणीय है और इसीलिए की जाती है।

संसारी जीवों का पुद्‍गलकृत उपकार

[1]जीवितं मरणं सौख्यं दुःखं कुर्वन्ति पुद्‍गलाः।
उपकारेण जीवानां भ्रमतां भवकानने॥१७॥

अर्थ—संसाररूपी वन में भ्रमण करते हुए जीवों के पुद्‍गल अपने उपकार-सहकार-द्वारा जीना, मरना, सुख तथा दुःख करते हैं, जीवों के इन कार्यरूप परिणमन में सहायक होते हैं।

व्याख्या—इस पद्य में पुद्‍गलों का संसारी जीवों के प्रति उपकार-अपकार का संसूचन किया गया है, जिसे वे अपने सहकार-सहयोग के द्वारा सम्पन्न करते हैं अथवा यों कहिए कि उनके निमित्त से देहधारियों को जीवन, मरण, सुख-दुःखादि प्राप्त होते हैं। मूल में यद्यपि 'आदि' शब्द नहीं है फिर भी जीवनादि के साथ शरीर-वचन-मन-श्वासोच्छ्वास तथा इन्द्रियादि का ग्रहण उपलक्षण से होता है, वे भी पुद्‍गलकृत उपकार हैं,[2]उनकी सूचना के लिए यहाँ 'आदि' शब्द दिया गया है। और

---

१. सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च॥५-२०॥-त. सूत्र। २. शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्‍गलानाम्॥५-१९॥ -त. सूत्र। पुद्‍गलानां शरीरं वाक् प्राणापानौ तथा मनः। उपकारं सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा॥-तत्त्वार्थसार ३-३१।

भी बहुत से उपकार-अपकार शरीर के सम्बन्ध को लेकर पुद्गलकृत होते हैं, उन सबका भी 'आदि' शब्द द्वारा ग्रहण हो जाता है, जिनके लिए मोक्षशास्त्र के ''सुख-दु:ख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च'' इस सूत्र में 'च' शब्द जोड़ा गया है।

परमार्थ से कोई पदार्थ किसी का कुछ नहीं करता

पदार्थानां निमग्नानां स्वरूपं परमार्थतः।
करोति कोऽपि कस्यापि न किंचन कदाचन॥१८॥

अर्थ—वस्तुतः (निश्चयदृष्टि से) जो पदार्थ अपने स्वरूप में निमग्न हैं, स्वभाव परिणमन को लिए हुए हैं, उनमें से कोई भी किसी का कभी रंचमात्र उपकार-अपकार नहीं करता।

व्याख्या—इस पद्य में प्रयुक्त हुआ 'परमार्थतः' पद अपनी खास विशेषता रखता है और इस बात को सूचित करता है कि पिछले पद्य में द्रव्यों का द्रव्यों के प्रति जिस उपकार का निर्देश है वह सब व्यवहारनय की अपेक्षा से है। निश्चयनय की दृष्टि से तो अपने-अपने स्वरूप में निमग्न होकर स्वभाव-परिणमन करते हुए द्रव्यों में से कोई भी द्रव्य किसी भी पर द्रव्य का कभी कुछ उपकार या अपकार नहीं करता है। धर्म-अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो सदा ही अपने स्वरूप में स्थित हुए स्वभाव परिणमन करते हैं और इसलिए निश्चय से किसी का भी उपकारादि नहीं करते। जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य वैभाविकी शक्ति को लिए हुए हैं और इसलिए इनमें स्वभाव-विभाव दोनों प्रकार का परिणमन होता है। जीवों में विभाव परिणमन संसारावस्था तक कर्म तथा शरीरादि के संयोग से होता है मुक्तावस्था में विभाव परिणमन न होकर केवल स्वभाव-परिणमन ही हुआ करता है। पुद्गलों का स्वभाव परिणमन परमाणुरूप में और विभाव परिणमन स्कन्ध के रूप में होता है। परमाणुरूप में रहता हुआ पुद्गल किसी का भी उपकार अथवा अपकार नहीं करता, यह समझ लेना चाहिए।

यदि कोई भोला प्राणी यह कहे कि बम के रूप में परमाणु तो बड़ा विध्वंस कार्य करता है, बहुतों का अपकार करता है तो किसी-किसी का उपकार भी करता है, तब उसे उपकार अपकार से रहित कैसे कहा जावे? इसका उत्तर इतना ही है कि जिसे परमाणु बम कहते हैं वह तो नाम का परमाणु है किसी अपेक्षा से उसे परमाणु नाम दिया जाता है, अन्यथा वह तो विस्फोटक पदार्थ के रूप में अनेक द्वयणुक आदि छोटे बड़े स्कन्धों को लिए हुए एक बड़ा स्कन्ध होता है; उसे वस्तुतः परमाणु नहीं कह सकते। परमाणु तो वह होता है जिसका आदि, मध्य, अन्त नहीं होता, विभाग नहीं हो सकता और जो इन्द्रियगोचर नहीं होता जैसा कि इससे पूर्व के एक पद्य में और नियमसार की २६

---

१. खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू। इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा॥७४॥ खंधं सयलसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति। अद्धद्धं च पदेसो अविभागी चेव परमाणू॥७५॥—पञ्चास्तिकाय।

वीं गाथा में दिये हुए उसके लक्षण से प्रकट है।

पुद्‍गल के चार भेद और उनकी स्वरूप–व्यवस्था

[१]स्कन्धो देशः प्रदेशोऽणुश्चतुर्धा पुद्‍गलो मतः।
समस्तमर्धमर्धार्धमविभागमिमं विदुः॥१९॥

अर्थ–पुद्‍गलद्रव्य स्कन्ध, देश, प्रदेश, और अणु इस तरह चार प्रकार का माना गया है। इस (चतुर्विध) पुद्‍गल को (क्रमशः) सकल, अर्ध, अर्धार्ध और अविभागी कहते हैं।

व्याख्या–संख्यात असंख्यात अनन्त अथवा अनन्तानन्त परमाणुओं के पिण्डरूप जो कोई भी एक वस्तु है उसको 'स्कन्ध' कहते हैं। स्कन्ध का एक-एक परमाणु करके खण्ड होते-होते जब वह आधा रह जाता है तब उस आधे स्कन्ध को 'देश-स्कन्ध' कहते हैं। देशस्कन्ध का खण्ड होते-होते जब वह आधा रह जाता है तब उस आधे को अथवा मूल स्कन्ध के चतुर्थ भाग को 'प्रदेश-स्कन्ध' कहते हैं। प्रदेश स्कन्ध के खण्ड होते-होते जब फिर कोई खण्ड नहीं बन सकता अणुमात्र रह जाता है तब उसे 'परमाणु' कहते हैं। ऐसी स्थिति में मूलस्कन्ध के उत्तरवर्ती और देशस्कन्ध के पूर्ववर्ती जितने भी खण्ड होंगे उन सबकी भी 'स्कन्ध' संज्ञा, तथा देशस्कन्ध के उत्तरवर्ती और प्रदेशस्कन्ध के पूर्ववर्ती सभी खण्डों की भी 'देशस्कन्ध' संज्ञा और प्रदेशस्कन्ध के उत्तरवर्ती एवं परमाणु के पूर्ववर्ती सभी खण्डों की भी 'प्रदेशसंज्ञा' होती है, ऐसा समझना चाहिए।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार में तत्त्वार्थसूत्र सम्मत पुद्‍गलों के अणु और स्कन्ध ऐसे दो भेद करके फिर स्कन्धों के स्कन्ध, देश और प्रदेश ऐसे तीन भेद किये हैं और तदनन्तर उनका जो स्वरूप दिया है वह उक्त पद्य तथा पंचास्तिकाय से मिलता-जुलता है।[१]

किस प्रकार के पुद्‍गलों से लोक कैसे भरा हुआ है

[२]सूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैर्लोकः स्थूलैः स्थूलतरैश्चितः।
अनन्तैः पुद्‍गलैश्चित्रैः कुम्भो धूमैरिवाभितः॥२०॥

अर्थ–लोक सर्व ओर से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर, स्थूल-स्थूलतर अनेक प्रकार के अनन्त पुद्‍गलों से धूम से घट के समान (ठसाठस) भरा हुआ है।

व्याख्या–पिछले पद्य में पुद्‍गलद्रव्य के स्कन्धादि के भेद से चार भेदों का उल्लेख किया गया है, इस पद्य में दूसरी दृष्टि से चार भेदों का निर्देश है और वे हैं–१. सूक्ष्म, २. सूक्ष्मतर, ३. स्थूल, ४. स्थूलतर। ये भेद कर्मरूप होने योग्य पुद्‍गलों से सम्बन्ध रखते हैं। इनके विषय में लिखा है कि

---

१. अणु-स्कन्ध-विभेदेन द्विविधाः खलु पुद्‍गलाः। स्कन्धो देशः प्रदेशश्च स्कन्धस्तु त्रिविधो मतः॥३-५६॥ अनन्तपरमाणूनां संघातः स्कन्ध उच्यते। देशस्तस्यार्धमर्धार्धं प्रदेशः परिकीर्तितः॥३-५७॥

२. ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो। सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविधेहिं॥६४॥ – पञ्चास्तिकाय।

इन चारों प्रकारों के पुद्‌गलों से लोकाकाश धूम से घड़े के समान ठसाठस भरा हुआ है, जहाँ लोक में सर्वत्र आत्मद्रव्य का अवस्थान है वहीं कर्मरूप होने योग्य इन विविध पुद्‌गलों का भी अवस्थान है और इसलिए बन्ध की अवस्था में इन्हें जीव कहीं बाहर से लाता नहीं। काय, वचन तथा मन की क्रियारूप योग का संचालन होते ही ये पुद्‌गल स्वयं कर्मरूप होकर आत्मप्रवेश करते हैं। यहाँ सूक्ष्मतम (अतीव सूक्ष्म) और स्थूलतम (अतीव स्थूल) पुद्‌गलों का उल्लेख नहीं है; क्योंकि ये दोनों प्रकार के पुद्‌गल कर्म वर्गणा की योग्यता से रहित होते हैं। इसी से प्रवचनसार में ''अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं'' इन दो विशेषणों का साथ में प्रयोग किया गया है।

द्रव्य के मूर्तामूर्त दो भेद और उनके लक्षण

[१]मूर्तामूर्त द्विधा द्रव्यं मूर्तामूर्तैर्गुणैर्युतम्।
अक्षग्राह्या गुणा मूर्ता अमूर्ता सन्त्यतीन्द्रिया:॥२१॥

अर्थ—द्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक दो प्रकार का है। मूर्त गुणों से जो युक्त वह मूर्तिक और जो अमूर्त गुणों से युक्त वह अमूर्तिक है। जो गुण इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हैं वे मूर्त और जो गुण इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं वे अमूर्त कहलाते हैं।

व्याख्या—इससे पहले (१-४) जीव-अजीव की दृष्टि से द्रव्यों के छह भेद बतलाये गये हैं एक जीव और पाँच धर्मादिक अजीव। यहाँ मूर्त-अमूर्त गुणों से युक्त होने की अपेक्षा द्रव्य के दो भेद किये गये हैं एक मूर्तिक, दूसरा अमूर्तिक, जिससे धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव ये पाँच तो अमूर्तिक द्रव्य की कोटि में आते हैं और एक मात्र पुद्‌गल मूर्तिक द्रव्य ठहरता है। कहा भी है। मूर्तिमन्तोऽत्र पुद्‌गला: (३) इन छह द्रव्यों में केवल पुद्‌गल द्रव्य ही मूर्तिक है; क्योंकि वह मूर्त के लक्षण रूप (वर्ण), गन्ध, रस और स्पर्श की व्यवस्था को अपने में लिए हुए होता है[२], और ये चार मूलगुण ही, जिनके उत्तरगुण बीस होते हैं, इन्द्रियग्राह्य हैं—चक्षु, नासिका, रसना और त्वचा (स्पर्शन) इन्द्रियों के विषय हैं। इन्द्रिय ग्राह्य-गुणों को ही यहाँ मूर्त और ज्ञानदर्शनादि अतीन्द्रिय गुणों को 'अमूर्त' कहा गया है।

इस पद्य में अतीन्द्रिय को 'अमूर्त' बतलाया है और गत १०वें पद्य में परमाणु को भी अतीन्द्रिय लिखा है; तब पुद्‌गल परमाणु भी अमूर्त ठहरता है। परन्तु पुद्‌गलद्रव्य मूर्तिक होता है। इससे परमाणु भी मूर्तिक होना चाहिए अत: परमाणु को अतीन्द्रिय और अमूर्त कहना विरोध को लिए हुए जान पड़ता है, यदि ऐसा कहा जाये तो वह एक प्रकार से ठीक है; क्योंकि वस्तुत: पुद्‌गलद्रव्य मूर्तिक ही होता है भले ही अपनी किसी सूक्ष्म या सूक्ष्मतर अवस्था में वह इन्द्रियग्राह्य

---

१. मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा। दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा॥१३१॥ – प्रवचनसार।
२. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्त: पुद्‌गला:। – त. सूत्र अ. ५।

न हो। परन्तु इन्द्रियग्राह्य न होने से ही यदि पुद्गल परमाणु को अतीन्द्रिय माना जाये तो हजारों परमाणुओं के स्कन्धरूप जो कार्मण-वर्गणाएँ हैं, वे भी इन्द्रिय ग्राह्य न होने से अतीन्द्रिय तथा अमूर्तिक ठहरेंगी और इससे पुद्गल का एक अविभागी परमाणु ही नहीं बल्कि वर्गणाओं के रूप में सूक्ष्म पुद्गलस्कन्ध भी अमूर्तिक ठहरेंगे। अमूर्तिक ठहरने पर उनमें स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का अभाव मानना होगा और इन पुद्गल गुणों का अभाव होने पर पुद्गल-द्रव्य के ही अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः परमाणु को अतीन्द्रिय और अतीन्द्रिय को अमूर्तिक कहना व्यवहारनय की दृष्टि से कथन है, निश्चयनय की दृष्टि से नहीं। कितने ही सूक्ष्म पदार्थ ऐसे हैं जो स्वभावतः तो इन्द्रियगोचर नहीं हैं। परन्तु यन्त्रों की सहायता से इन्द्रियगोचर हो जाते हैं, आजकल ऐसे शक्तिशाली यन्त्र तैयार हो गये हैं जो एक सूक्ष्म वस्तु को हजारों गुणी बड़ी करके दिखला सकते हैं। ऐसी स्थिति में परमाणु भी यन्त्र की सहायता से बड़ा दिखाई दे सकता है। परन्तु कैसी भी शक्तिशालिनी आँख हो उससे स्वतन्त्रतापूर्वक वह देखा नहीं जा सकता। इसी से वह अतीन्द्रिय होते हुए भी पुद्गलद्रव्य की दृष्टि से मूर्तिक है।

कौन पुद्गल किसके साथ कर्म-भाव को प्राप्त होते हैं

[१]कर्म वेदयमानस्य भावाः सन्ति शुभाशुभाः।
कर्मभावं प्रपद्यन्ते [२]संसक्तास्तेषु पुद्गलाः॥२२॥

अर्थ—कर्मफल को भोगते हुए जीव के शुभ या अशुभ भाव होते हैं। उन भावों के होने पर सम्बन्धित आस्रवित हुए पुद्गल कर्मभाव को प्राप्त होते हैं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणमते हैं।

व्याख्या—गत २० वें पद्य के अनुसार जो पुद्गल द्रव्य लोक में ठसाठस भरे हुए हैं वे किसी जीव के साथ कर्मभाव को कब प्राप्त होते हैं इसी विषय के सिद्धान्त का इस पद्य में निरूपण किया गया है, लिखा है कि जब कोई जीव उदय में आये कर्म को भोगता है तब उसके भाव (मन-वचन-कायरूप योगों के परिणमन) शुभ या अशुभरूप होते हैं। और उन भावों अथवा परिणामों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुए पुद्गल (स्वतः) कर्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं उन्हें कर्मरूप परिणत करने की दूसरी कोई प्रक्रिया नहीं है, तत्कालीन योगों के शुभ-अशुभ परिणमन ही उन संसक्त पुद्गलों को शुभाशुभ कर्म के रूप में परिणत कर देते हैं।

योग द्वारा समायात पुद्गलों के कर्मरूप परिणमन में हेतु

योगेन ये समायान्ति शस्ताशस्तेन पुद्गलाः।
तेऽष्टकर्मत्वमिच्छन्ति कषाय-परिणामतः॥२३॥

---

१. अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं। गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा॥६५॥ पञ्चास्तिकाय।
२. आ संशत्तास्तेषु।

अर्थ—प्रशस्त-अप्रशस्त योग से मन-वचन-काय की शुभ या अशुभ प्रवृत्ति से जो पुद्‌गल आत्मा में प्रवेश पाते हैं वे कषाय परिणाम के कारण अष्टकर्मरूप परिणत होते हैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का रूप धारण करते हैं।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिन पुद्‌गलों का कर्मभाव को प्राप्त होना लिखा है, वे मन-वचन-कायरूप योगों के शुभाशुभ परिणमन द्वार से आत्म-प्रविष्ट हुए पुद्‌गल कषाय-भाव के कारण आठ कर्मों के रूप में परिणत होते हैं, कर्मसामान्य से कर्म विशेष बन जाते हैं। यहाँ 'कषाय परिणामतः' यह पद हेतुरूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसका आशय है ''कषायरूप परिणमन के निमित्त को पाकर अष्टकर्मरूप होना''। जबतक कषाय-परिणाम नहीं होता तबतक सारे कर्मस्थिति और अनुभाग से रहित होते हैं और इसीलिए कुछ भी फल देने में समर्थ नहीं होते जैसे जिस समय आये वैसे उसी समय निकल गये। अतः 'कषायपरिणामतः' यह पद यहाँ अपना खास महत्त्व रखता है।

आठ कर्मों के नाम

[1]ज्ञानदृष्ट्यावृती वेद्यं मोहनीयायुषी विदुः।
नाम गोत्रान्तरायौ च कर्माण्यष्टेति सूरयः॥२४॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठ को आचार्य (द्रव्य) कर्म कहते हैं।

व्याख्या—पूर्वपद्य में आत्म प्रविष्ट हुए पुद्‌गलों के जिन आठ कर्मरूप परिणत होने की बात कही गयी है उनके इस पद्य में नाम दिये गये हैं। पुद्‌गलात्मक होने से ये आठों द्रव्यकर्म हैं। इन कर्मों में अपने-अपने नामानुकूल कार्य करने की शक्ति होती है, जिसे 'प्रकृति' कहते हैं और इसलिए ये आठ मूलकर्म प्रकृतियाँ कहलाती हैं, जिनके उत्तरोत्तर भेद १४८ हैं। इन कर्मप्रकृतियों का विशेष वर्णन षट्‌खण्डागम, गोम्मटसार, कम्मपयडि, पंचसंग्रह आदि कर्मसाहित्य-विषयक ग्रन्थों से जाना जाता है।

जीव कल्मषोदय-जनित भाव का कर्ता न कि कर्म का

[2]कल्मषोदयतः भावो यो जीवस्य प्रजायते।
स कर्ता तस्य भावस्य कर्मणो न कदाचन॥२५॥

अर्थ—कल्मष के उदय से मिथ्यात्वादि कर्म के उदयवश जीव का जो भाव उत्पन्न होता है उसी भाव का वह जीव कर्ता होता है द्रव्यकर्म का कर्ता कभी नहीं होता है।

व्याख्या—'कल्मष' शब्द कर्ममल का वाचक है। यद्यपि उसमें सारा ही कर्ममल आ जाता

१.आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः॥ – त. सूत्र ८-४। २. एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण। पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥८२॥ – समयसार।

है फिर भी जिस कर्ममल के उदय से जीव के औदयिकभाव उत्पन्न होते हैं वही कर्ममल यहाँ पर विवक्षित जान पड़ता है। विवक्षित कर्ममल के उदय का निमित्त पाकर जीव का जो भाव उत्पन्न होता है उस अपने भाव का कर्ता वह जीव होता है, न कि उस पुद्गलद्रव्य के कर्मरूप परिणमन का कर्ता, जो जीव के परिणाम का निमित्त पाकर स्वतः कर्मरूप परिणत होता है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य के निम्न वाक्य से भी प्रकट है–

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥ – पुरुषार्थसिद्धियुपाय

इस वाक्य में प्रयुक्त हुआ पुद्गलों का 'अन्ये' (दूसरे) विशेषण पद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और इस बात को स्पष्ट सूचित करता है कि जिस जीवकृत-परिणाम का इस पद्य में उल्लेख है वह संसारी जीव का विभाव परिणाम है और विभाव-परिणाम जीव में बिना पुद्गल के सम्पर्क के नहीं हुआ करता। अतः जिन पुद्गलों के सम्बन्ध को पाकर जीव का विभाव परिणाम बना उन पुद्गलों से भिन्न जो दूसरे पुद्गल हैं और वहीं परिणाम के पास ही मौजूद हैं वे उस परिणाम का निमित्त पाकर स्वयमेव कर्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं द्रव्यकर्म बन जाते हैं। नतीजा यह निकला कि पहले से जीव के परिणाम में पुद्गल के सम्पर्क बिना नया कोई पुद्गल कर्मरूप नहीं परिणमता और इस तरह पूर्वबद्ध कर्म के उदय निमित्त को पाकर जीव का परिणाम और जीव के परिणाम निमित्त को पाकर नये पुद्गलों का कर्मरूप से बन्धन को प्राप्त होना, यह सिलसिला अनादिकाल से चला आता है। प्रत्येक द्रव्य का परिणाम अपने में ही होता है और इसलिए वही अपने उस परिणाम का कर्ता होता है, दूसरे द्रव्य के परिणाम का दूसरा कोई द्रव्यकर्ता नहीं होता, निमित्त कारण होना दूसरी बात है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य का निमित्त कारण तो होता है पर उपादान कारण नहीं। उपादान कारण उसे कहते हैं जो कारण ही कार्यरूप परिणत होवे। मिट्टी का घड़ा बनने में मिट्टी ही घटरूप परिणत होती है कुम्भकारादि नहीं, इसलिए मिट्टी उपादान कारण और कुम्भकारादि उसके निमित्त कारण कहे जाते हैं।

कर्मों की विविधरूप से उत्पत्ति कैसे होती है

[१]विविधाः पुद्गलाः स्कन्धाः संपद्यन्ते यथा स्वयम्।
कर्मणामपि निष्पत्तिरपरैरकृता तथा॥२६॥

अर्थ–जिस प्रकार विविध पुद्गल स्वयं स्कन्ध बन जाते हैं उसी प्रकार (पुद्गलात्मक) कर्मों की निष्पत्ति (निर्मिति) भी दूसरों के द्वारा नहीं होती–स्वतः होती है।

---

१. जह पुग्गलदव्वाणं बहुप्पयारेहिं खंधणिव्वत्ती। अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि॥६६॥ – पञ्चास्तिकाय।

व्याख्या—पिछले पद्य में यह बतलाया गया है कि जीव अपने भावों का कर्ता है, द्रव्यकर्म का कर्ता कदाचित् नहीं है; तब द्रव्यकर्मों का वर्गीकरण अथवा ज्ञानावरणादि के रूप में विविध कर्मवर्गणाओं की निष्पत्ति बिना दूसरे के किये कैसे होती है ? यह एक प्रश्न पैदा होता है। इसका उत्तर यहाँ विविध पुद्गल-स्कन्धों को स्वतः उत्पत्ति के दृष्टान्त-द्वारा दिया गया है, जिसका यह आशय है कि जिस प्रकार आकाश में अपने योग्य सूर्य-चन्द्रमा की प्रभा को पाकर बादल, सन्ध्याराग, इन्द्रधनुष, परिमण्डलादि अनेक प्रकार के पुद्गल-स्कन्ध बिना दूसरे के किये स्वयं बनते-बिगड़ते देखे जाते हैं, उसी प्रकार अपने योग्य मिथ्यात्वरागादिरूप जीव-परिणामों को पाकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि बहुत प्रकार के कर्म बिना किसी दूसरे कर्ता की अपेक्षा के स्वयं उत्पन्न होते हैं और समयादिक को पाकर स्वयं ही विघटित हो जाते हैं।

जीव कभी कर्मरूप और कर्म जीवरूप नहीं होते

कर्मभावं प्रपद्यन्ते न कदाचन चेतनाः।
कर्म चैतन्यभावं वा स्वस्वभावव्यवस्थितेः॥२७॥

अर्थ—अपने-अपने स्वभाव में (सदा) व्यवस्थित रहने के कारण चेतन (जीव) कभी कर्मरूप नहीं होते और न कर्म कभी चेतनरूप होते हैं।

व्याख्या—जीव और पौद्गलिक कर्मों का एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध होने पर भी जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीवरूप नहीं होते; क्योंकि दोनों सदा अपने-अपने स्वभाव में स्थित रहते हैं, स्वभाव का त्याग कोई भी द्रव्य कभी नहीं कर सकता। इसी से जैनागम में आत्मा को स्वभाव से निजभाव का कर्ता कहा गया है, पुद्गलकर्मादिक का कर्ता नहीं बतलाया। इसी तरह कर्म को भी स्वभाव से अपने भाव का कर्ता कहा गया है, जीव के स्वभाव का कर्ता नहीं; जैसा कि पंचास्तिकाय की निम्न गाथाओं से जाना जाता है—

कुव्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं॥६१॥
कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं।
जीवो वि य तारिसओं कम्मसहावेण भावेण॥६२॥

जीव के उपादान भाव से कर्मों के करने पर आपत्ति

जीवः करोति कर्माणि यद्युपादनभावतः।
चेतनत्वं तदा नूनं कर्मणो वार्यते कथम्॥२८॥

अर्थ—यदि जीव निश्चय ही उपादान भाव से कर्म का कर्ता है तब कर्म के चेतनपने का निषेध कैसे किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता; क्योंकि उपादान-कारण ही कार्यरूप में परिणत

होता है। जीव के चेतन होने पर उसके उपादान से निर्मित हुआ कर्म भी चेतन ठहरता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जीव तथा पुद्गल कर्म की जिस स्वभाव व्यवस्थितिका उल्लेख किया गया है उसे न मानकर यदि यह कहा जाये कि जीव अपने उपादानभाव से कर्म का कर्ता है निमित्तरूप से नहीं तो फिर कर्मों के चेतनत्व का निषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि उपादान कारण जब चेतन होगा तो उसके कार्य को भी चेतन मानना पड़ेगा।

कर्म के उपादान भाव से जीव के करने पर आपत्ति

यद्युपादानभावेन विधत्ते कर्म चेतनम्।
अचेतनत्वमेतस्य तदा केन निषिध्यते॥२९॥

अर्थ—यदि कर्म अपने उपादानभाव से चेतन (जीव) का निर्माण करता है तो इस चेतनरूप जीव के अचेतनपने (जड़पने) के प्रसंग का निषेध कैसे किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता। कर्म का उपादान अचेतन होने से तन्निर्मित जीवात्मा भी तब चेतनारहित जड़ ठहरता है।

व्याख्या—यदि उस स्वभाव व्यवस्थिति को न मानकर यह कहा जाये कि कर्म अपने उपादान से जीव के भावों का कर्ता है निमित्तरूप से नहीं तो फिर जीव के अचेतनत्व का निषेध नहीं किया जा सकता है ? क्योंकि उपादान जब अचेतन होगा तो उसके कार्य को भी अचेतन मानना पड़ेगा।

उक्त दोनों मान्यताओं पर अनिवार्य दोषापत्ति

एवं संपद्यते दोषः सर्वथापिं दुरुत्तरः।
चेतनाचेतनद्रव्यविशेषाभावलक्षणः ॥३०॥

अर्थ—इस प्रकार (चेतन को अचेतन का और अचेतन को चेतन का उपादान कारण मानने से) चेतन और अचेतन द्रव्य में कोई भेद न रहनेरूप वह दोष भी उपस्थित होता है जो सर्वथा दुरुत्तर है किसी तरह भी टाला नहीं जा सकता और उससे अनिष्ट के घटित होने का प्रसंग आता है।

व्याख्या—चेतनात्मक जीव को अपने उपादान से कर्मों का और अचेतनात्मक कर्म को अपने उपादान से जीव का कर्ता मानने पर जिन दोषों की आपत्ति पिछले दो पद्यों में दर्शायी गयी है उनसे फिर एक बड़ा दोष और उत्पन्न होता है जो किसी तरह भी टाला नहीं जा सकता और उसे इस पद्य में बतलाया है। वह महान् दोष है चेतन-अचेतन, द्रव्य विशेष का अभाव अर्थात् कोई द्रव्य चेतन और कोई अचेतन, यह भेद तब किसी तरह भी नहीं बन सकेगा। सबको चेतन और सबको अचेतन भी नहीं कह सकते; क्योंकि कोई भी विधि या निषेध प्रतिपक्षी के बिना नहीं होता। विधि का निषेध के साथ निषेध का विधि के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के निम्न वाक्यों से जाना जाता है–

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया॥१७॥
नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाभेदविवक्षया॥१८॥
–आप्तमीमांसा

पुद्गलों के कर्मरूप और जीवों के सरागरूप परिणाम के हेतु

[1]सरागं जीवमाश्रित्य कर्मत्वं यान्ति पुद्गलाः।
कर्माण्याश्रित्य जीवोऽपि सरागत्वं प्रपद्यते॥३१॥

अर्थ—सरागी जीव का आश्रय निमित्त पाकर पुद्गल कर्मभाव को प्राप्त होते हैं और कर्मों का आश्रय निमित्त पाकर जीव भी सरागभाव को प्राप्त होता है।

व्याख्या—इस पद्य में जीव और पुद्गल की एक-दूसरे के निमित्त से परिणमन की स्थिति को स्पष्ट किया गया है और वह यह है कि जीव के रागादिरूप परिणमन का निमित्त पाकर पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत होते हैं और अपने-अपने कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव राग-द्वेषादिरूप परिणत होते हैं, परन्तु सभी जीवों का कर्मों के उदयवश रागद्वेषादिरूप परिणत होना लाजमी (अवश्यंभावी) नहीं है; कुछ जीव ऐसे भी होते हैं जो कर्मों का उदय आने पर समताभाव धारण करते हैं कर्मजनित पदार्थों में राग-द्वेषादिरूप परिणत नहीं होते अथवा मोहनीयकर्म का अभाव हो जाने पर राग-द्वेषादिरूप परिणत होने की जिनमें योग्यता ही नहीं रहती ऐसे जीवों के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप परिणत नहीं होते अथवा यों कहिए कि उन जीवों के कर्मों का उदय आने पर भी तथा कुछ औदयिक भावों के होने पर भी नये कर्मों का बन्ध नहीं होता। यदि ऐसा नहीं माना जाये तो बन्ध की परम्परा कभी समाप्त नहीं हो सकती और न कभी मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि मोहनीयकर्म का अभाव हो जाने पर भी अरिहन्तों-भगवन्तों के बिना किसी इच्छा तथा प्रयत्न के तथाविध योग्यता के सद्भाव से यथासमय उठना-बैठना, विहार करना और धर्मोपदेश देना जैसी क्रियाएँ तो नियमितरूप स्वभाव से उसी प्रकार होती हैं जिस प्रकार कि मेघाकार-परिणत पुद्गलों का चलना, ठहरना, गर्जना और जल बरसाना आदि क्रियाएँ बिना किसी पुरुष प्रयत्न के स्वतः होती देखने में आती हैं। परन्तु उनसे मोह के उदयपूर्वक न होने के कारण क्रियाफल के रूप में नये कर्म का कोई बन्धन नहीं होता। अरिहन्तों की ये क्रियाएँ औदयिकी हैं; क्योंकि अर्हन्त पद महापुण्य कल्पवृक्षसम 'तीर्थंकर प्रकृति' नामक नामकर्म के उदय से होता है। साथ ही मोहनीय कर्म का अभाव हो जाने से ये क्रियाएँ क्षायिकी भी हैं और इसलिए शुद्धचेतना में कोई विकार उत्पन्न

१. जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति। पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ॥८०॥ – समयसार।

नहीं करतीं; जैसा कि प्रवचनसार की निम्न गाथाओं से प्रकट है–

ठाण-णिसेज्ज-विहारा धम्मुवदेसो वि णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इत्थीणं॥४४॥
पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणोवि ओदइआ।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइगि त्ति मदा॥४५॥

कर्मकृतभाव का कर्तृत्व और जीव का अकर्तृत्व

[१]कर्म चेत्कुरुते भावो जीवः कर्ता तदा कथम्।
न किंचित् कुरुते जीवो हित्वा भावं निजं परम् ॥३२॥

अर्थ–(रागादि) भावकर्म का कर्ता है, कर्म समूह का निर्माता है, यदि ऐसा माना जाये तो फिर जीव कर्मों का कर्ता कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। जीव तो अपने (ज्ञानादिरूप) निजभाव को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता रागादिक जीव के निज भाव न होकर पर के निमित्त से होने वाले परभाव हैं, अतः जीव वस्तुतः उनका कर्ता नहीं।

व्याख्या–यहाँ प्रयुक्त हुआ 'भावः' पद रागादिरूप विभावभाव का वाचक है स्वभाव का नहीं। पिछले पद्य में जब यह कहा गया है कि रागादिरूप परिणत हुए जीव का आश्रय निमित्त पाकर पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत होते हैं तब उससे यह स्पष्ट फलित होता है कि जीव के रागादिरूप परिणत न होने पर कर्म उत्पन्न नहीं होते। ऐसी स्थिति में जीव का रागादिभाव, जो पर के सम्पर्क से उत्पन्न हुआ कर्मकृत विभावभाव है, द्रव्यकर्म का कर्ता ठहरा; तब जीव को द्रव्यकर्म का कर्ता कैसे कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार जिस प्रकार अग्नि से सन्तप्त हुए घृत ने जो जलाने का काम किया वह वस्तुतः घृत का काम नहीं कहा जा सकता, घृत में प्रविष्ट हुई अग्नि का काम है। और इसलिए यहाँ इस बात को स्पष्ट किया गया है कि वास्तव में जीव अपने ज्ञानदर्शनादि चैतन्यभाव को छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं करता। एक कवि के शब्दों में ''यह दिले बीमार की सारी खता थी मैं न था''। संसारी जीवों के साथ रागादिकी जो बीमारी लगी हुई है वही उनसे सब कुछ कर्म कराती है।

कर्म से भाव और भाव से कर्म इस प्रकार एक दूसरे का कर्तृत्व

[२]कर्मतो जायते भावो भावतः कर्म सर्वदा।
इत्थं कर्तृत्वमन्योन्यं द्रष्टव्यं भाव-कर्मणोः॥३३॥

---

१. भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता। ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्णं सगं भावं॥५९॥
– पञ्चास्तिकाय।

२. भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं हवदि। ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणाभूदा दु कत्तारं॥ पञ्चास्तिकाय ६०॥

अर्थ—कर्म के निमित्त से सदा रागादिभाव और रागादिभाव के निमित्त से सदा कर्म समूह उत्पन्न होता है। इस प्रकार रागादिक भावों और कर्मों के परस्पर एक दूसरे का कर्तापना जानना चाहिए।

व्याख्या—पिछले २८,२९, ३० नम्बर के पद्यों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जीव अपने उपादान से कर्म का और कर्म अपने उपादान से जीव का कर्ता नहीं, कर्ता मानने पर बहुत बड़ा दुस्तर दोष उत्पन्न होता है तब निमित्त-नैमित्तिकरूप में कर्ता कर्म की व्यवस्था कैसे हो उसे इस पद्य में स्पष्ट किया गया है और वह यह है कि द्रव्यकर्म से कर्म के उदय निमित्त को पाकर जीव के रागादिभाव उत्पन्न होता है, जीवत्व या चेतनभाव उत्पन्न नहीं होता और जीव के रागादिभाव से कर्म उत्पन्न होता है पुद्‌गल कर्मरूप परिणत होता है न कि पुद्‌गल द्रव्य उत्पन्न होता है। इस तरह भाव और कर्म का सदा एक-दूसरे के प्रति नैमित्तिकरूप से कर्तापना है। जीव पुद्‌गलद्रव्यों में परस्पर एक-दूसरे का कोई कर्तापना नहीं है, जीव से पुद्‌गल या पुद्‌गल से जीव कभी उत्पन्न नहीं होता।

क्रोधादिकृत कर्म को जीवकृत कैसे कहा जाता है

कोपादिभिः कृतं कर्म जीवेन कृतमुच्यते।
पदातिभिर्जितं युद्धं जितं भूपतिना यथा ॥३४॥

अर्थ—जिस प्रकार योद्धाओं के द्वारा जीता गया युद्ध राजा के द्वारा जीता गया कहा जाता है, उसी प्रकार क्रोधादि कषाय भावों के द्वारा किया गया कर्म जीव के द्वारा किया गया कहा जाता है।

व्याख्या—जब कर्ता रागादिभाव है तब जीव को कर्ता क्यों कहा जाता है ? इस प्रश्न का यहाँ एक दृष्टान्त द्वारा समाधान किया गया है जो अपने में स्पष्ट है। निश्चय से तो संग्राम में लड़ने वाले योद्धाओं के द्वारा ही युद्ध किया जाता तथा जीता जाता है; परन्तु व्यवहार में राजा के द्वारा, जिस प्रकार उसका किया जाना तथा जीता जाना कहा जाता है उसी प्रकार निश्चय से क्रोधादि द्वारा सम्पन्न होने वाला कार्य भी ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध भी व्यवहार से जीव के द्वारा किया गया कहा जाता है; जैसा कि समयसार की निम्न गाथा से भी जाना जाता है—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

कर्मजनित देहादिक सब विकार चैतन्य-रहित हैं

[1]देह - संहति - संस्थान - गति - जाति - पुरोगमाः।
विकाराः कर्मजाः सर्वे चैतन्येन विवर्जिताः ॥३५॥

---

१. संठाणा संघादा वण्णरसप्फासगंधसद्दा य। पोग्गलदव्वप्पभवा होंति गुणा पज्जया य बहू॥ पञ्चास्तिकाय १२६॥

अर्थ—जीव के शरीर, संहनन, संस्थान, गति, जाति आदि रूप जितने भी विकार हैं वे सब कर्म के निमित्त से उत्पन्न एवं चेतना रहित होते हैं।

व्याख्या—इस पद्य में शरीर संहनन, संस्थान, गति, जाति के रूप में जिन विकारों का उल्लेख है और 'पुरोगमाः' पद के द्वारा, जो कि 'इत्यादि' का वाचक है, पुद्गल के जिन स्पर्श, रस, गन्ध-वर्ण आदि गुणों तथा अवस्था-विशेषरूप-पर्यायों का सूचन किया गया है वे सब प्रायः नामकर्म-जनित हैं और पौद्गलिक होने से चेतना-गुण से रहित हैं। नामकर्म की मुख्य ४२ प्रकृतियाँ हैं, उत्तर-भेद-सहित ९३; जैसा कि मोक्षशास्त्र-गत आठवें अध्याय के ''गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्ग-निर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्ण'' इत्यादि सूत्र नं० ११ और उसकी टीकाओं आदि से जाना जाता है।

त्रयोदश गुणस्थान और उनकी पौद्गलिकता

मिथ्यादृक् सासनो मिश्रोऽसंयतो देशसंयतः।
प्रमत्त इतरोऽपूर्वस्तत्त्वज्ञैरनिवृत्तकः॥३६॥
सूक्ष्मः शान्तः परः क्षीणो योगी चेति त्रयोदश।
गुणाः पौद्गलिकाः प्रोक्ताः कर्मप्रकृतिनिर्मिताः॥३७॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानियों के द्वारा मिथ्यादृष्टि, सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, देश संयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली, ये तेरह गुणस्थान कर्म प्रकृतियों से निर्मित पौद्गलिक कहे गये हैं।

व्याख्या—इन दोनों पद्यों में तेरह गुणस्थानों के नाम देकर यह सूचित किया है कि ये सब पौद्गलिक हैं, क्योंकि कर्मप्रकृतियाँ जो कि पौद्गलिक हैं उनके द्वारा निर्मित होते हैं और इसलिए इन्हें जीव नहीं कहा जा सकता, जो कि नित्य अचेतनरूप हैं जैसा कि समयसार की निम्न गाथा से प्रकट है—

मोहनकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥६८॥

उक्त गुणस्थानों को कौन जीव कहते हैं और कौन नहीं

देह चेतनयोरैक्यं मन्यमानैर्विमोहितैः।
एते जीवा निगद्यन्ते न विवेक-विशारदैः॥३८॥

अर्थ—शरीर और आत्मा दोनों को एक मानने वाले मोही जीवों के द्वारा ये गुणस्थान जीव कहे जाते हैं किन्तु भेदविज्ञान में निपुण विवेकीजनों के द्वारा नहीं, विवेकीजन उन्हें पुद्गलरूप अजीव बतलाते हैं।

व्याख्या—उक्त तेरह गुणस्थानों को कौन जीव कहते हैं और कौन नहीं कहते, इसी का इस पद्य में स्पष्टीकरण किया गया है। अचेतन देह तथा चेतन आत्मा को जो एक मानते हैं वे मोही-मिथ्यादृष्टि जीव उक्त गुणस्थानों को जीवरूप मानते हैं, परन्तु जो विवेकी-भेदज्ञानी देह को जड़ पुद्गलरूप और जीवात्मा को चेतनरूप अनुभव करते हैं वे इन गुणस्थानों को जीवरूप नहीं मानते, जो कि पूर्व पद्यानुसार कर्म प्रकृतियों के उदयादिक से निर्मित होते हैं जीव में स्वतः स्वभाव से इनके कोई स्थान निर्दिष्ट नहीं हैं, ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं[1]। इसी से निश्चयनय के द्वारा देह तथा जीव को एक नहीं कहा जाता, दोनों को एक कहने वाला व्यवहारनय है; जैसा कि समयसार की निम्न गाथा से जाना जाता है—

ववहारणओभासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदापि एकट्ठो॥२७॥

अतः जो केवल व्यवहारनयावलम्बी हैं वे ही देह तथा जीव को एक मानते हैं, उन्हीं को यहाँ विमोहित-मिथ्यादृष्टि कहा गया है और जिनके लिए 'विवेकविशारद' का प्रयोग किया गया है वे निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के स्वरूप को ठीक जानने वाले भेदविज्ञानी हैं और इसलिए वे देह तथा जीव को सर्वथा एक नहीं कहते, नयदृष्टि को लेकर कथंचित् एक और कथंचित् अनेक (भिन्न) रूप से दोनों का प्रतिपादन करते हैं; सर्वथा भिन्न कहना भी उनके द्वारा नहीं बनता, उससे निश्चय नय के एकान्त का दोष घटित होता है।

प्रमत्तादि-गुणस्थानों की वन्दना से चेतन मुनि वन्दित नहीं

प्रमत्तादिगुणस्थानवन्दना या विधीयते।
न तया वन्दिता सन्ति मुनयश्चेतनात्मकाः॥३९॥

अर्थ—प्रमत आदि गुणस्थानों की जो वन्दना की जाती है उस (वन्दना) से चेतनात्मक मुनि वन्दित नहीं होते केवल देह की वन्दना बनती है।

व्याख्या—पिछले तीन पद्यों में तेरह गुणस्थानों को पौद्गलिक बतलाया है और यह निर्दिष्ट किया है कि वे निश्चयदृष्टि से जीवरूप नहीं हैं; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि प्रमत्त नामक छठे गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली नामक १३वें गुणस्थानों तक, आठ गुणस्थानों की जो वन्दना देह की स्तुतिरूप में की जाती है, उसके द्वारा वे गुणस्थानवर्ती मुनि वन्दित होते हैं या कि नहीं ? यदि वन्दित होते हैं तो देह और जीव दोनों एक ठहरते हैं और यदि वन्दित नहीं होते तो वन्दना मिथ्या एवं व्यर्थ ठहरती है।[2] प्रथम विकल्प का समाधान इस पद्य में और दूसरे विकल्प का समाधान

---

१. णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स। जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा॥५५॥ –समयसार

२. जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरिय संथुदी चेव। सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो॥२६॥–समयसार।

उत्तरवर्ती पद्य में किया गया है। इस पद्य में बतलाया है कि उस वन्दना से वे गुणस्थानवर्ती चेतनात्मक मुनि वस्तुतः वन्दित नहीं होते हैं। ऐसी वन्दना का एक रूप समयसार कलश में श्रीअमृतचन्द्राचार्य ने इस प्रकार दिया है–

कान्त्येव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्त्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥

इसमें बतलाया है–जो अपनी कान्ति से दशों दिशाओं को व्यापकर उन्हें कान्तिमती बनाते हैं, अपने तेज से महातेजस्वी सूर्य को भी परास्त करते हैं, अपने रूप से लोगों के मन को हरते हैं, अपनी दिव्यध्वनि से सुनने वालों के कानों में साक्षात् सुखामृत की वर्षा करते हैं और एक हजार आठ (शरीर) लक्षण के धारक हैं, वे तीर्थेश्वर आचार्य वन्दनीय हैं।

यहाँ वन्दना देह की स्तुति को लिए हुए है। ऐसी स्तुति के सम्बन्ध में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में लिखा है कि इस प्रकार जीव से भिन्न पुद्गलात्मक शरीर की स्तुति करके मुनि यह मानता है कि मेरे द्वारा केवली भगवान् स्तुति वन्दना किये गये, जो कि व्यवहारनय की दृष्टि से है। निश्चयनय की दृष्टि से यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि शरीर के जो गुण हैं वे केवली के गुण नहीं होते, जो केवली के गुणों की स्तुति करता है वही वस्तुतः केवली की स्तुति करता है–

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवलीभयवं॥२८॥
तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणाहि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलि थुणदि॥२९॥

वन्दना की उपयोगिता

परं शुभोपयोगाय जायमाना शरीरिणाम्।
ददाति विविधं पुण्यं संसारसुखकारणम् ॥४०॥

अर्थ–किन्तु वह वन्दना उत्कृष्ट शुभोपयोग के लिए निमित्त-भूत हुई प्राणियो को नाना प्रकार का परमपुण्य प्रदान करती है, जो ऊँचे दर्जे के संसार सुखों का कारण होता है।

व्याख्या–जिन गुणस्थानों की वन्दना का पिछले पद्य में उल्लेख है वे पद्य नं० ३६, ३७ के अनुसार पौद्गलिक होते हुए भी और उनकी उस वन्दना से ज्ञानात्मक मुनिवन्दित न होते हुए भी वह देहधारियों के उस पुण्य के उपार्जन में एक बहुत बड़ी निमित्त कारण होती है, जो कि संसारी जीवों को ऊँचे दर्जे का सुख प्राप्त कराता है और इसीलिए निरर्थक नहीं कही जाती है। अतः इस

विषय में वन्दना की उपयोगिता के सम्बन्ध में शंका करने की जरूरत नहीं है। व्यवहारनय की दृष्टि से, जो कि समयसार की पूर्वोक्त गाथा २७ के अनुसार देह और जीव को एकरूप में ग्रहण करता है, उक्त वन्दना से चेतनात्मक मुनि वन्दित होते हैं और वह वन्दना वन्दनकर्ता के शुभोपयोग का निमित्तभूत होकर उसे नाना प्रकार के संसार सुखों का कारण पुण्य प्रदान करती हैं। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारनयाश्रित वन्दना सर्वथा मिथ्या तथा व्यर्थ नहीं होती।

अचेतनदेह के स्तुत होने पर चेतनात्मा स्तुत नहीं होता

[1]नाचेतने स्तुते देहे स्तुतोऽस्ति ज्ञानलक्षणः।
न कोशे वर्णिते नूनं सायकस्यास्ति वर्णना ॥४१॥

अर्थ—अचेतन-देह के स्तुत होने पर ज्ञान लक्षण आत्मा स्तुत नहीं होता। (ठीक है) म्यान का वर्णन होने पर (उस वर्णन से) म्यान के भीतर रहने वाली तलवार का वर्णन नहीं बनता।

व्याख्या—प्रमत्तादि गुणस्थानवर्तियों की अचेतन देह के रूप में जो वन्दना-स्तुति की जाती है उससे ज्ञानात्मक मुनि वन्दित-स्तुत नहीं होते, यह बात जो ३९ वें पद्य में कही गयी थी, उसी को यहाँ एक सुन्दर दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया गया है। वह है म्यान और तलवार का दृष्टान्त। म्यान लोहे का है या अन्य धातु का है उस पर सोने-चाँदी की अमुक चित्रकारी है अथवा मखमल आदि चढ़ी है और उस पर सुन्दर सुनहरी-रूपहरी काम हो रहा और मूठ अमुक आकार की बड़ी ही चित्ताकर्षक है, यह सब म्यान का वर्णन है, इस वर्णन से तलवार के वर्णन का जैसे कोई सम्बन्ध नहीं है-उसके गुण, स्वभाव आदि का कोई वर्णन नहीं हो जाता, उसी प्रकार अचेतन देह के रंग-विरंगादि विविध रूप से वर्णित होने पर भी उसके भीतर रहने वाले आत्मा का वर्णन नहीं होता और इसलिए देह की स्तुति से देहधारी की स्तुति नहीं बनती। इसी बात को समयसार में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने नगर और राजा के दृष्टान्त द्वारा व्यक्त किया है लिखा है कि -''नगर का वर्णन होने पर जिस प्रकार राजा का वर्णन नहीं हो जाता उसी प्रकार देह गुणों की स्तुति होने पर केवली के गुणों की स्तुति नहीं हो जाती।''

विभिन्नता का एक सिद्धान्त और उससे चेतन की देह से भिन्नता

यत्र प्रतीयमानेऽपि न यो जातु प्रतीयते।
स ततः सर्वथा भिन्नो रसाद् रूपमिव स्फुटम् ॥४२॥
काये प्रतीयमानेऽपि चेतनो न प्रतीयते।
यतस्ततस्ततो भिन्नो न भिन्नो ज्ञानलक्षणात् ॥४३॥

१.णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि। देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति॥३०॥ समयसार

अर्थ—जो जिसमें प्रतीयमान होने पर भी कभी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता वह उससे जिसमें प्रतीयमान हो रहा है सर्वथा भिन्न होता है जैसे रस से रूप। चूँकि देह में प्रतीयमान होने पर भी चेत-नात्मा कभी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता इसलिए वह चेतनात्मा देह से भिन्न है; किन्तु अपने ज्ञान लक्षण से भिन्न नहीं है।

व्याख्या—इन दोनों पद्यों में से प्रथम पद्य में विभिन्नता के एक सिद्धान्त का उदाहरण सहित निर्देश किया गया है और दूसरे पद्य में उसे देह तथा आत्मा पर घटित किया गया है। जिस प्रकार रस में रूप प्रतीयमान (प्रतिभासमान) होते हुए भी वहाँ कभी स्पष्ट प्रतीत (प्रतिभासित) नहीं होता और इसलिए रस से रूप भिन्न है रस रसना इन्द्रिय का विषय है और रूप चक्षु इन्द्रिय का विषय है। उसी प्रकार जीवित शरीर में जीवात्मा के प्रतीयमान होने पर भी जीवात्मा वहाँ कभी स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता और इसीलिए पौद्गलिक शरीर से जीवात्मा सर्वथा भिन्न है शरीर इन्द्रिय ज्ञानगोचर है जबकि जीवात्मा अपौद्गलिक तथा स्वसंवेद्य है शरीर से भिन्न होते हुए भी जीवात्मा अपने ज्ञानलक्षण से, जो कि उसका आत्मभूत-लक्षण है, कभी भिन्न नहीं होता। ४२ वें पद्य में प्रयुक्त हुआ स्पष्टार्थ का वाचक 'स्फुट' विशेषणपद अपनी खास विशेषता रखता है और इस बात को सूचित करता है कि जो जहाँ प्रतीयमान होता है वह वहाँ अस्पष्ट झाँकी के रूप में होता है, स्पष्ट प्रतीति का विषय नहीं होता।

जो कुछ इन्द्रियगोचर वह सब आत्मबाह्य

दृश्यते ज्ञायते किंचिद् यदक्षैरनुभूयते।
तत्सर्वमात्मनो बाह्यं विनश्वरमचेतनम् ॥४४॥

अर्थ—इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ भी देखा जाता, जाना जाता और अनुभव किया जाता है वह आत्मा से बाह्य, नाशवान् तथा चेतना रहित है।

व्याख्या—इस पद्य में इन्द्रियों द्वारा दृष्ट, ज्ञात तथा अनुभूत पदार्थ के विषय में एक अटल नियम का निर्देश किया गया है और वह यह कि ऐसे सब पदार्थ एक तो आत्मबाह्य होते हैं शुद्ध आत्मा का कोई गुण या पर्यायरूप नहीं होते, दूसरे विनश्वर सदा स्थिर न रहने वाले होते हैं, तीसरे अचेतन होते हैं। इन्द्रियों का जो कुछ भी विषय है वह सब पौद्गलिक पुद्गल निष्पन्न है और पुद्गल आत्मा से बाह्य की वस्तु है, अचेतन है और पूरण गलनस्वभाव के कारण सदा एक अवस्था में स्थिर रहने वाला नहीं है। परमाणुरूप में पुद्गल इन्द्रियों का विषय ही नहीं और स्कन्धरूप में पुद्गल सदा बनते और बिगड़ते रहते हैं। अतः उक्त नियम एक मात्र पौद्गलिक-द्रव्यों से सम्बन्ध रखता है दूसरे कोई भी द्रव्य इन्द्रियों के विषय नहीं हैं।

इन्द्रियगोचर रूप का स्वरूप

न निर्वृतिं[1] गतस्यास्ति तद्रूपं[2] किंचिदात्मनः।
अचेतनमिदं प्रोक्तं सर्वं पौद्गलिकं जिनैः ॥४५॥

अर्थ—जो इन्द्रियों के द्वारा देखा जाता तथा अनुभव किया जाता है वह कुछ भी रूप मुक्ति-प्राप्त-आत्मा का नहीं है। इसी से जिनदेवों के द्वारा यह सब इन्द्रिय ग्राह्य रूप पुद्गलात्मक अचेतन कहा गया है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जो बात कही गयी है उसी को इस पद्य में और स्पष्ट किया गया है–लिखा है कि जो कुछ भी रूप इन्द्रियों के द्वारा देखा जाता या अनुभव किया जाता है वह चूँकि मुक्ति प्राप्त आत्मा का कुछ भी रूप नहीं है अतः उस सबको जिनदेव ने अचेतन तथा पौद्गलिक कहा है।

राग-द्वेषादि विकार सब कर्मजनित

विकाराः सन्ति ये केचिद्राग-द्वेष-मदादयः।
कर्मजास्तेऽखिला ज्ञेयास्तिग्मांशोरिव मेघजाः॥४६॥

अर्थ—आत्मा के राग, द्वेष और मद आदिक जो कुछ विकार हैं, विभाव परिणमन हैं, वे सब मेघजन्य सूर्य के विकारों की तरह कर्मजनित हैं।

व्याख्या—३५ वें पद्य में जिन विकारों का उल्लेख तथा सूचन है वे प्रायः नामकर्म जनित हैं और इस पद्य में राग, द्वेष, मद के रूप में जिन विकारों को उल्लेख है और 'आदयः' पद के द्वारा जिन क्रोध, लोभ, माया, भय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सादि विकारों का सूचन हैं, वे सब प्रायः मोहनीयकर्म जनित हैं–कर्म के उदयादि निमित्तों को पाकर उसी प्रकार आत्मा में उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार मेघों के उदयादि-निमित्त को पाकर सूर्य में विकार उत्पन्न होते हैं। कर्म चूँकि पौद्गलिक तथा अचेतन हैं अतः ये विकार भी पौद्गलिक तथा अचेतन हैं, अचेतन पौद्गलिक से अचैतन्य पौद्गलिक की ही उत्पत्ति हो सकती है, चेतन तथा अपौद्गलिक आत्म द्रव्य की नहीं।

जीव कभी कर्मरूप और कर्म कभी जीवरूप नहीं होता

अनादावपि सम्बन्धे जीवस्य सह कर्मणा।
न जीवो याति कर्मत्वं जीवत्वं कर्म वा स्फुटम् ॥४७॥

अर्थ—जीव का कर्म के साथ अनादिकालीन सम्बन्ध होने पर भी न तो कभी जीव कर्मपने को प्राप्त होता है कर्म बनता या कर्मरूप परिणत होता है और न कर्म जीवपने को प्राप्त होता है जीव बनता या जीवरूप परिणत होता है, यह स्पष्ट है।

---

१. आ निर्वृत्तिगतस्यास्ति। २. आ यद्रूपं।

व्याख्या—कितनी ही वस्तुएँ संसार में ऐसी हैं जो सम्बन्ध के कारण एक दूसरे रूप परिणत होती हुई देखने में आती हैं। मोक्षशास्त्र में भी "**बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च**" नाम का एक सूत्र है, जिसका आशय है दो गुण अधिक वस्तु दो हीनगुण वस्तु को अपने रूप कर लेती है। परन्तु यह सब पुद्गल के सम्बन्ध की बात है, एक द्रव्य के दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध की नहीं। जीव और पुद्गल दोनों अलग-अलग द्रव्य हैं और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म पौद्गलिक होते हैं। इसी से जीव तथा कर्म का अनादि सम्बन्ध होते हुए भी न तो जीव कभी कर्मरूप होता और न कर्म कभी जीवरूप ही परिणत होता है, द्रव्यदृष्टि से दोनों की सदा अपने-अपने स्वभाव में व्यवस्थिति रहती है।

आत्मा को द्रव्यकर्म का कर्ता मानने पर दोषापत्ति

[1]आत्मना कुरुते कर्म यद्यात्मा निश्चितं तदा।
कथं तस्य फलं भुङ्क्ते स दत्ते कर्म वा कथम्॥४८॥

अर्थ—यदि यह निश्चितरूप से माना जाये कि आत्मा आत्मा के द्वारा अपने ही उपादान से कर्म को करता है तो फिर वह उस कर्म के फल को कैसे भोगता है ? और वह कर्म (आत्मा को) फल कैसे देता है?

व्याख्या—यदि पूर्व पद्य-वर्णित सिद्धान्त के विरुद्ध निश्चितरूप से यह माना जाये कि आत्मा अपने उपादान से द्रव्यकर्म का कर्ता है स्वयं ही ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणत होता है तो फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि वह आत्मा उस कर्म फल को कैसे भोगता है और वह कर्म उस आत्मा को फल कैसे देता है ? दोनों के एक ही होने पर फलदान और फलभोग की बात नहीं बन सकती।

कर्मोदयादि-संभव गुण सब अचेतन

कर्मणामुदयसंभवा गुणाः शामिकाः क्षयशमोद्भवाश्च ये।
चित्रशास्त्रनिवहेन वर्णितास्ते भवन्ति निखिला विचेतनाः॥४९॥

अर्थ—जो गुण कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए औदयिक हैं, कर्मों के उपशमजन्य औपशमिक हैं तथा कर्मों के क्षयोपशम से प्रादुर्भूत हुए क्षायोपशमिक हैं और जो विविध शास्त्रसमूह के द्वारा वर्णित हुए हैं, अनेक शास्त्रों में जिनका वर्णन है, वे सब चेतना रहित अचेतन हैं।

व्याख्या—द्रव्यकर्मों के उदय निमित्त को पाकर उत्पन्न होने वाले गुण औदयिकभाव, कर्म के उपशम-निमित्त को पाकर उद्भूत होने वाले गुण औपशमिकभाव और कर्म के क्षयोपशम-निमित्त को पाकर प्रादुर्भूत होने वाले गुण क्षायोपशमिकभाव, ये सब द्रव्यकर्म के चेतनारहित होने के कारण चेतनाविहीन होते हैं। द्रव्य-कर्म के अस्तित्व बिना जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव नहीं बनते द्रव्यकर्म ही नहीं तब उदयादि किसका? इसी से इन भावों को कर्मकृत

१. कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं। किध तस्य फलं भुंजदि अप्पा कम्मं च देदि फलं॥ पञ्चास्तिकाय ६३॥

कहा गया है।[१] यह व्यवहारनय की दृष्टि से कथन है।

अन्यथा द्रव्यकर्म के उदयादि निमित्त को पाकर उत्पन्न होने वाले ये आत्मा के विभावभाव हैं, स्वभावभाव तो एक मात्र पारिणामिक भाव है, जो अनादिनिधन तथा निरुपाधि होता है। क्षायिकभाव स्वभाव की व्यक्तिरूप होने से अविनाशी होते हुए भी सादि है; क्योंकि कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है और इसी से कर्मकृत कहा जाता है।[२]

अजीव तत्त्व को यथार्थ जाने बिना स्वस्वभावोपलब्धि नहीं बनती

अजीवतत्त्वं न विदन्ति सम्यक् ये[३] जीवतत्त्वाद्विधिना विभक्तम्।
चारित्रवन्तोऽपि[४] न ते लभन्ते विविक्तमात्मानमपास्तदोषम्॥५०॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचिते योगसारप्राभृतेऽजीवाधिकारः॥२॥

अर्थ—जो लोग उस अजीवतत्त्व को, जो कि जीवतत्त्व से विधि द्वारा विभक्त है, यथार्थरूप से नहीं जानते हैं, वे चारित्रवन्त होते हुए सम्यक् चारित्र का अनुष्ठान करते हुए भी उस विविक्त शुद्ध एवं खालिस आत्मा को प्राप्त नहीं होते जो कि दोषों से रहित है।

व्याख्या—इस पद्य में, अजीवाधिकार का उपसंहार करते हुए, अजीवतत्त्व के यथार्थ परिज्ञान का महत्त्व ख्यापित किया गया है और वह यह है कि जब तक इस अजीवतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान नहीं होता तब तक आत्मा को अपने शुद्धरूप की उपलब्धि नहीं होती, चाहे वह कितना भी तपश्चरण क्यों न करे। यहाँ अजीव-तत्त्व का "**जीवतत्त्वाद्विधिना विभक्तं**" यह विशेषण अपना खास महत्त्व रखता है और इस बात को सूचित करता है कि अजीवतत्त्व जीवतत्त्व के निषेध को लिए हुए कोई धर्म नहीं है किन्तु अपने अस्तित्व को लिए हुए एक पृथक् तत्त्व है, और वह मुख्यतः वह तत्त्व है जो जीव के साथ एक क्षेत्र-अवगाहरूप होते हुए भी उससे सदा पृथक् रहता है और जीव के विभाव-परिणमन में निमित्त कारण पड़ता है। वह पुद्‌गलद्रव्य है जो कर्म के रूप में जीव के साथ उक्त अनादि-सम्बन्ध को लिए हुए है और शरीर के रूप में अनेक स्वजनादि के सम्बन्ध को लिए हुए है। उसको ठीक न समझने से ही आत्मा के स्वरूप में भ्रान्ति बनी रहती है और इसी से उसकी उपलब्धि नहीं हो पाती। विविक्तात्मा के रूप में स्वरूप की उपलब्धि ही इस ग्रन्थ का मुख्य ध्येय है, जिसे ग्रन्थ के मंगलाचरण में 'स्वस्वभावोपलब्धये' पद के द्वारा व्यक्त किया गया है।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित-योगसारप्राभृत में अजीव अधिकार नाम का दूसरा अधिकार समाप्त हुआ॥२॥

---

१. कम्मेण विणा उदयं जीवस्स न विज्जदे उपसमं वा। खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं॥५८॥—पञ्चास्तिकाय

२. पारिणामिकस्त्वनादिनिधनो निरुपाधिः स्वाभाविक एव। क्षायिकस्तु स्वभाव-व्यक्तिरूपत्वादनन्तोऽ-पि कर्मणः क्षयेनोत्पद्यमानत्वात् सादिरिति कर्मकृत एवोक्तः। अमृतचन्द्राचार्यः। ३. मु. यो.। ४. मु. चरित्रवन्तोऽपि

३
आस्रवाधिकार

आस्रव के सामान्य हेतु

शुभाशुभोपयोगेन वासिता योग-वृत्तयः।
सामान्येन प्रजायन्ते दुरितास्रव[१]-हेतवः॥१॥

अर्थ—शुभ तथा अशुभ उपयोग के द्वारा ज्ञान-दर्शन के अच्छे-बुरे रूप परिणमन के निमित्त से वासना को प्राप्त अथवा संस्कारित हुई जो योगों की मन-वचन-काय की कर्म क्रियारूप प्रवृत्तियाँ हैं, वे सामान्य से दुरितों के शुभाशुभ कर्मों के आस्रव की आत्मा में आगमन अथवा प्रवेश की हेतु होती हैं कारण पड़ती हैं।

व्याख्या—यहाँ 'योग' शब्द मन-वचन-काय तीनों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तीनों योगों में से किसी भी योग की क्रिया 'योगवृत्ति' कहलाती है। ये योगवृत्तियाँ जब शुभ या अशुभ किसी भी प्रकार के उपयोग से ज्ञान-दर्शन से वासित संस्कारित होती हैं अथवा यों कहिए कि कोई भी प्रकार के ज्ञान-दर्शन की पुट को साथ में लिए हुए होती हैं तो वे सामान्यरूप से दुरितास्रव की हेतु होती हैं। योगवृत्तियों के उक्त विशेषण से यह फलित होता है कि यदि वे वृत्तियाँ शुभाशुभ उपयोग से वासित नहीं तो दुरितास्रव की हेतु भी नहीं होती।

'दुरित' शब्द आम तौर पर पाप या पापकर्म के अर्थ में प्रयुक्त होता है; परन्तु यहाँ वह कर्ममात्र अथवा आठों प्रकार की कर्मप्रकृतियों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ग्रन्थ भर में यह शब्द कोई आठ स्थानों पर पाया जाता है और सर्वत्र इसी आशय को लिए हुए है कर्म विशेष जो पाप उसके आशय को लिए हुए नहीं। इसके पर्याय नाम हैं अघ, कलिल, रजस्, एनस्, आगस्, रेफस्, अंहस् और पातक, जिन सबका प्रयोग भी ग्रन्थ में दुरित के उक्त आशय को लिए हुए है केवल पाप के आशय को लिए हुए नहीं; यद्यपि ये पाप के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। 'पाप' शब्द ही ग्रन्थ भर में प्रायः पापकर्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। ग्रन्थकार ने स्वयं भी आगे चतुर्थ पद्य में **दुरितास्रव** के स्थान पर '**कर्मास्रव**' पद का प्रयोग किया है, जो दुरित के अभिप्रेत कर्म अर्थ को स्पष्ट कर देता है। यहाँ में इतना और प्रकट कर देना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र में ''**दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपम योगबलेन निर्दहन्**'' इत्यादि वाक्य के द्वारा '**कर्माष्टक**' को 'दुरित' शब्द के द्वारा उल्लेखित किया है। अतः ग्रन्थकार का आठों कर्म के अर्थ में-दुरित शब्द का उक्त प्रयोग बहुत प्राचीन और समीचीन है। वास्तव में देखा जाये तो सारे ही कर्म पापरूप हैं जो आत्मा को बन्धन में बाँधकर पराधीन बना कर उसे संसार भ्रमण कराते हैं। इसी से श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में

१.आ दुरितास्रव (आगे भी सर्वत्र 'आस्रव')।

पुण्यकर्म को भी सुशील नहीं माना है, जो कि आत्मा का संसार में ही प्रवेश (भव-ग्रहण के रूप में भ्रमण) कराता रहता है।[१]

आस्रव के विशेष हेतु

[२]मिथ्यादृक्त्वमचारित्रं कषायो योग इत्यमी।
चत्वारः प्रत्ययाः सन्ति विशेषेणाघसंग्रहे ॥२॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन, असंयम (अव्रत), कषाय और योग ये चार विशेषरूप से अघ-संग्रह में – कर्मों के आत्मप्रदेश तथा ग्रहणरूप बन्ध में कारण हैं।

व्याख्या—पिछले पद्य में सामान्यरूप से कर्म के आस्रव-हेतुओं का निर्देश करके इस पद्य में विशेषरूप से कर्म के आस्रव-हेतुओं का निर्देश किया गया है। विशेष के साथ सामान्य अवश्य रहा करता है अतः पूर्वोक्त सामान्य-हेतुओं के अतिरिक्त जिन विशेष-कारणों का यहाँ उल्लेख किया गया है उनमें योग तो वही जान पड़ता है जो सामान्य हेतुओं में प्रयुक्त हुआ है, तब उसका पुनर्ग्रहण क्या अर्थ रखता है ? इस प्रश्न का समाधान, जहाँ तक मैं समझता हूँ, इतना ही है कि कर्मास्रव के विशेष हेतुओं में जिस योग का ग्रहण है वह कषायानुरंजितयोग है, जिस योग की प्रवृत्ति लेश्या[३] कहलाती है।

यहाँ पिछले पद्य में प्रयुक्त 'हेतवः' पद्य के स्थान पर 'प्रत्ययाः' पद का और दुरित'के स्थान पर 'अघ' शब्द का जो प्रयोग किया गया है वह समानार्थक है। किन्तु 'आस्रव' शब्द के स्थान पर जो 'संग्रह' शब्द का प्रयोग किया गया है वह अपनी विशेषता रखता है, उसमें आस्रव और बन्ध दोनों का ग्रहण हो जाता है; क्योंकि जिन चार प्रत्ययों को विशेषास्रव का कारण बतलाया है वे ही बन्ध के भी कारण हैं; जैसा कि समयसार की पूर्वोद्धृत गाथा १०९ से और मोक्षशास्त्र के निम्न सूत्र से भी जाना जाता है–

मिथ्यादर्शनाविरत-प्रमाद—कषाय-योगा बन्धहेतवः॥८—९॥

मोह को बढ़ाने वाली बुद्धि

सचित्ताचित्तयोर्यावद्द्रव्ययोः परयोरयम्।
आत्मीयत्व-मतिं धत्ते तावन्मोहो विवर्धते ॥३॥

अर्थ—यह जीव जब तक चेतन-अचेतनरूप पर पदार्थों में निजत्व बुद्धि रखता है, परपदार्थों

---

१. कह तं होदि सुसीलं जं संसारे पवेसेदि॥१४५॥ २. (क) सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो। मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा॥१०९॥–समयसार। (ख) मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति॥–गो. क. ७८६॥ ३. कषायानुरञ्जितयोगप्रवृत्तिर्लेश्या। कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति भावलेश्या। –सर्वार्थसिद्धि।

को अपने समझता है तब तक (इसका) मोह–मिथ्यात्व बढ़ता रहता है।

व्याख्या—आस्रव-हेतुओं में जिस मिथ्यादर्शन का ऊपर उल्लेख आया है और जिसका कितना ही वर्णन पिछले दो अधिकारों में आ चुका है उसी की आस्रव से सम्बन्ध रखने वाली स्थिति को इस पद्य में तथा अगले कुछ पद्यों में स्पष्ट किया गया है। इस पद्य में मिथ्यादर्शन का 'मोह[१], नाम से उल्लेख करते हुए यह बतलाया है कि जब तक यह जीव परपदार्थों में चाहे वे चेतना सहित हों या चेतना रहित अपनेपन की बुद्धि रखता है उन्हें आत्मीय मानता है तब तक मोह बढ़ता रहता है।

उक्त बुद्धि से महाकर्मास्रव

तेषु प्रवर्तमानस्य कर्मणामास्रवः परः।
कर्मास्रव-निमग्नस्य नोत्तारो जायते ततः ॥४॥

अर्थ—उक्त चेतन–अचेतन रूप पर–पदार्थों में (आत्मीयत्व मतिरूप) प्रवृत्ति को प्राप्त जीव के कर्मों का महान् आस्रव होता रहता है और इसलिए जो कर्मास्रव में डूबा रहता है उसका उद्धार नहीं बनता।

व्याख्या—जो जीव सचेतन तथा अचेतन पर–पदार्थों में उक्त आत्मीयत्व–मति को लिए हुए प्रवृत्त होता है उसके कर्म का बहुत बड़ा आस्रव होता है और जिसे कर्म का बहुत बड़ा आस्रव निरन्तर होता रहता है, यहाँ तक कि वह उसमें डूबा रहता है, उसका संसार से उद्धार नहीं होता। संसार से उद्धार के लिए नये कर्म का आना रुकना चाहिए और वह तभी बन सकेगा जबकि इस जीव की मोह के उदय वश पर–पदार्थों में जो अपनेपन की बुद्धि हो रही है वह दूर होगी। मोह ने जीव की दृष्टि में विकार उत्पन्न कर रखा है, इसी से जो आत्मीय (अपना) नहीं उसे यह भ्रम से आत्मीय समझ रहा है। इसी से मोहरूप जो मिथ्यादर्शन है वह कर्मों के आस्रव का प्रधान हेतु है।

एक दूसरी बुद्धि जिससे मिथ्यात्व नहीं छूट पाता

मयीदं कार्मणं द्रव्यं कारणेऽत्र भवाम्यहम्।
यावदेषा मतिस्तावन्मिथ्यात्वं न निवर्तते ॥५॥

अर्थ—वह कर्मजनित पदार्थ समूह मुझमें है, इसका कारण मैं हूँ, यह बुद्धि जब तक बनी रहती है तब तक मिथ्यात्व–मोह अथवा मिथ्या–दर्शन नहीं छूटता।

व्याख्या—इस पद्य में तीसरे पद्य से भिन्न एक दूसरी मति–बुद्धि का उल्लेख है और मिथ्यादर्शन को 'मिथ्यात्व' नाम से उल्लेखित करते हुए लिखा है कि यह दृश्यमान कर्मजनित पदार्थ शरीरादिक मुझमें हैं मेरे साथ तादात्म्य–सम्बन्ध को प्राप्त हैं और इनका कारण (उपादान) मैं हूँ ऐसी बुद्धि जब तक इस जीव की बनी रहती है तब तक मिथ्या दर्शन दूर होने में नहीं आता। और इसलिए

१. मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते।–रामसेन, तत्त्वानुशासन।

मिथ्यात्व के कारण से होने वाला कर्मास्रव बराबर होता रहता है।

कर्मास्रव को हेतुभूत एक तीसरी बुद्धि

आसमस्मि भविष्यामि स्वामी देहादि–वस्तुनः।
मिथ्या-दृष्टेरियं बुद्धिः कर्मागमन-कारिणी॥६॥

अर्थ–मिथ्यादृष्टि की यह बुद्धि कि में देहादि वस्तु का पहले स्वामी था, वर्तमान में हूँ और आगे होऊँगा, कर्मों के आगमन की कारणीभूत है आत्मा में कर्मों का द्रव्य तथा भावरूप आस्रव कराने वाली हैं।

व्याख्या–इस पद्य में मिथ्यात्व–जन्य अथवा मिथ्या दर्शनरूप एक तीसरी बुद्धि का उल्लेख है और वह यह कि "मैं अमुक देहादि वस्तु का स्वामी था, स्वामी हूँ अथवा स्वामी होऊँगा" यह मिथ्यादृष्टि जीव की जो बुद्धि है वह कर्मों के आगमन की आत्मप्रवेश की कारणीभूत है ऐसी बुद्धि के निमित्त से भी कर्मों का आस्रव होता है।

चौथी बुद्धि जिससे कर्मास्रव नहीं रुकता

चेतनेऽचेतने द्रव्ये यावदन्यत्र वर्तते।
स्वकीयबुद्धितस्तावत्कर्मागच्छन्[१] न वार्यते॥७॥

अर्थ–जब तक यह जीव चेतन या अचेतन किसी पर–पदार्थ में स्वकीय बुद्धि से वर्तता है पर–पदार्थ को अपना मानता है तब तक कर्म का आना (आत्मप्रवेश) रोका नहीं जाता।

व्याख्या–पिछले पद्य में जिस देहादि वस्तु के स्वामित्व का उल्लेख है वह स्वदेहादिक है और इस पद्य में जिस वस्तु के स्वामित्व का उल्लेख है वह परदेहादिक है जिसे 'अन्यत्र' शब्द के प्रयोग द्वारा यहाँ व्यक्त किया गया है और इसीलिए पर के स्त्री–पुत्रादि के शरीरादिक में जो अपने स्वामित्व की बुद्धि है वह एक चौथे प्रकार की बुद्धि है। इस बुद्धि से जब तक जीव प्रवर्तता है तब तक कर्म के आगमन को नहीं रोका जा सकता।

निश्चय और व्यवहार से आत्मा का कर्तृत्व

शुभाशुभस्य भावस्य कर्तात्मीयस्य वस्तुतः।[२]
कर्तात्मा पुनरन्यस्य भावस्य व्यवहारतः॥८॥

अर्थ–आत्मा निश्चय से अपने शुभ तथा अशुभ भाव का परिणाम का कर्ता है और व्यवहार से पर के पुद्गलद्रव्य के भाव का परिणाम का कर्ता है।

१.मु कर्मोद्गच्छन्।

२.यहाँ 'वस्तुतः' की जगह बन्धतः' पाठ पाया जाता है, जो समुचित प्रतीत नहीं होता। उत्तरार्ध में 'व्यवहारतः' पद का प्रयोग यहाँ उसके प्रतिपक्षी वस्तुतः' पद के अस्तित्व को सूचित करता है, इसी से उसको यहाँ रखा गया है।

व्याख्या—यहाँ निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की दृष्टि से इस संसारी जीव के कर्तृत्व का निर्देश किया गया है और उसमें बतलाया है कि यह जीव निश्चय से अपने शुभ अशुभ भावों का कर्ता है, जो कि कर्म के उदय निमित्त वश उसके विभावपरिणाम होते हैं, और व्यवहार से परद्रव्य-पुद्गल के शुभ-अशुभ परिणाम का कर्ता है, जो कि आत्मा के शुभ-अशुभ परिणामों का निमित्त पाकर कर्मरूप में परिणत होने वाला उसका विभाव परिणाम है।

जीव-परिणामाश्रित कर्मास्रव, कर्मोदयाश्रित जीव-परिणाम

श्रित्वा जीव-परीणामं कर्मास्रवति दारुणम्।
श्रित्वोदेति परीणामो दारुण:[१] कर्म दारुणम् ॥९॥

अर्थ—जीव के परिणाम को आश्रित करके आत्मा के शुभ-अशुभ भाव का निमित्त पाकर दारुणकर्म आस्रव को प्राप्त होता है आत्मा में प्रवेश पाता है (और) दारुणकर्म को आश्रित करके दारुणकर्म के उदय का निमित्त पाकर दारुण परिणाम उदय को प्राप्त होता है आत्मा में शुभ या अशुभरूप दारुण भाव का उदय होता है।

व्याख्या—यहाँ जीव के जिस परिणाम का उल्लेख है वह उसका स्वभाव परिणाम न होकर विभाव-परिणाम है, जो एक तो कर्म के उदय-निमित्त को पाकर उत्पन्न होता है और दूसरे नये कर्म के आस्रव का निमित्त कारण बनता है। कर्म और कर्मजनित जीव परिणाम दोनों को यहाँ 'दारुण' विशेषण के साथ उल्लेखित किया है, जो दोनों की भयंकरता कठोरता का द्योतक हैं।

किसका किसके साथ कार्य-कारण-भाव

कार्य-कारण-भावोऽयं परिणामस्य कर्मणा।
कर्म-चेतनयोरेष विद्यते न कदाचन ॥१०॥

अर्थ—जीव के परिणाम का कर्म के साथ उक्त कार्य-कारण भाव है, कर्म और चेतन (जीवात्मा) में यह कार्य-कारणभाव कदाचित् विद्यमान नहीं है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिस कार्य-कारणभाव का उल्लेख है उसको स्पष्ट करते हुए यहाँ यह बतलाया गया है कि यह कार्य-कारण भाव जीव के विभाव परिणाम का कर्म के साथ है, अचेतन कर्म और चेतनजीव में यह कार्य-कारणभाव कदाचित् भी नहीं है अचेतन कर्म से सचेतन जीव की और सचेतनजीव से अचेतन कर्म की उत्पत्ति कभी नहीं होती।

कर्म को जीव का कर्ता मानने पर आपत्ति

आत्मानं कुरुते कर्म यदि, कर्म तदा कथम्।
चेतनाय फलं दत्ते ? भुङ्क्ते वा चेतन: कथम् ॥११॥

---
१. मु दारुणं।

अर्थ—यदि कर्म (अपने उपादान से) आत्मा को करता है तो फिर कर्म चेतन-आत्मा को फल कैसे देता है? और चेतनात्मा उस फल को कैसे भोगता है ? ये दोनों बातें तब बनतीं नहीं।

व्याख्या—पिछले पद्य में यह बतलाया गया है कि सचेतन जीव और अचेतन द्रव्य कर्म में परस्पर कार्य-कारणभाव नहीं है। यदि दोनों में कार्य-कारण भाव माना जाये, जीव को अपने उपादान से कर्म का और कर्म को अपने उपादान से जीव का कर्ता माना जाये तो इन दोनों ही विकल्पों में यह प्रश्न पैदा होता है कि कर्म जीव को फल कैसे देता है और जीव उसके फल को कैसे भोगता है ? उपादान की दृष्टि से दोनों के एक होने पर फलदाता और फलभोक्ता की बात नहीं बनती। इनमें से एक विकल्प का उल्लेख करके यहाँ जो आपत्ति की गयी है वही दूसरे विकल्प का उल्लेख करके ग्रन्थ के द्वितीय अधिकार में पद्य नं० ४८ के द्वारा की गयी हैं।

एक के किये हुए कर्म के फल को दूसरे के भोगने पर आपत्ति

परेण विहितं कर्म परेण यदि भुज्यते।
न कोऽपि सुख-दुःखेभ्यस्तदानीं मुच्यते कथम् ॥१२॥

अर्थ—पर के किये हुए कर्म को कर्म के फल को यदि दूसरा भोगता है तो फिर कोई भी सुख-दुःख से कैसे मुक्त हो सकता है ? नहीं हो सकता।

व्याख्या—यहाँ ''करे कोई और भरे कोई'' के सिद्धान्त का उल्लेख करके उसे दूषित ठहराया गया है लिखा है कि यदि एक के किये हुए कर्म का फल दूसरा भोगता है तो कोई भी सांसारिक सुख-दुःख से कभी मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि हम अपने सुख-दुःख दाता कर्म का निरोध तो कर सकते हैं न करें वैसा कोई कर्म; परन्तु दूसरे करें, उन्हें हम कैसे रोक सकते हैं ? जब उन दूसरों के किये कर्म का फल भी हमें भोगना पड़े तो हमारा सांसारिक सुख-दुःख से कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता और इसलिए कभी भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। कर्मफल का यह सिद्धान्त अज्ञानमूलक और वस्तुतत्त्व के विरुद्ध है।

कर्म कैसे जीव का आच्छादक होता है

जीवस्याच्छादकं कर्म निर्मलस्य मलीमसम्।
जायते भास्करस्येव शुद्धस्य घन-मण्डलम् ॥१३॥

अर्थ—कर्म जो मलरूप है वह निर्मल जीवात्मा का उसी प्रकार से आच्छादक होता है जिस प्रकार कि घनमण्डल बादलों का घटाटोप निर्मल सूर्य का आच्छादक होता है।

व्याख्या—जीव स्वभाव से निर्मल है वस्तुतः सब प्रकार के मल से रहित है उसको मलिन करने वाला एक मात्र कर्ममल है और वह द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म (शरीरादि) के भेद से तीन प्रकार का है, जो उसे सब ओर से उसी प्रकार आच्छादित किये हुए है जिस प्रकार कि घनघोर घटा

निर्मल सूर्य को आच्छादित करती है।

कषाय स्रोत से आया हुआ कर्म जीव में ठहरता है

कषायस्त्रोतसा[1]गत्य जीवे कर्माऽवतिष्ठते।
आगमेनेव पानीयं जाड्य-कारं[2] सरोवरे ॥१४॥

अर्थ—जीव में कषाय-स्रोत से आकर जड़ताकारक कर्म उसी प्रकार ठहरता है जिस प्रकार कि सरोवर में स्रोतरूप नाली के द्वारा आकर शीतकारक जल ठहरता है।

व्याख्या—यहाँ 'अवतिष्ठते' पद के द्वारा जीव में कर्मास्रव के साथ में उसके उत्तरवर्ती परिणाम का उल्लेख है, जिसे 'बन्ध' कहते हैं और वह प्रायः तभी होता है जब कर्म कषाय के स्रोत से आता है और इसलिए इस पद्य में साम्परायिक आस्रव का उल्लेख है। जो कर्म कषाय के स्रोत से साम्परायिक आस्रव के द्वारा नहीं आता वह बन्ध को प्राप्त नहीं होता और साम्परायिक आस्रव उसी जीव के बनता है जो कषाय सहित होता है, कषाय रहित के नहीं। कषाय-रहित के योग द्वार से जो स्थिति-अनुभाग-विहीन सामान्य आस्रव होता है, उसको ईर्यापथआस्रव कहते हैं[3]। बन्ध का कारण कषाय है, उसी से "**ठिदि अणुभागा कसायदो होंति**" इस सिद्धान्त के अनुसार स्थिति तथा अनुभाग का बन्ध होता है।

निष्कषाय-जीव के कर्मास्रव मानने पर दोषापत्ति

जीवस्य निष्कषायस्य यद्यागच्छति कल्मषम्।
तदा संपद्यते मुक्तिर्न कस्यापि कदाचन ॥१५॥

अर्थ—यदि कषाय रहित जीव के भी कल्मष का आगमन होता है, कर्मों का साम्परायिक आस्रव बनता है तो फिर किसी भी जीव की कभी मुक्ति नहीं हो सकती।

व्याख्या—पिछले पद्य में कषाय-सहित जीव के साम्परायिक आस्रव की बात कही गयी है कषाय रहित की नहीं। इस पद्य में कषाय रहित जीव के भी यदि बन्ध कारक साम्परायिक आस्रव माना जाये तो उसमें जो दोषापत्ति होती है, उसे बतलाया है और वह यह है कि तब किसी भी जीव को कभी भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती कषाय से भी बन्ध और बिना कषाय के भी बन्ध, तो फिर छुटकारा कैसे मिल सकता है ? नहीं मिल सकता और यह बात वास्तविकता के भी विरुद्ध है; क्योंकि जो कारण बन्ध के कहे गये हैं उनके दूर होने पर मुक्ति होती ही है। बन्ध का प्रधान कारण कषाय है; जैसा कि इसी ग्रन्थ के बन्धाधिकार में दिये हुए बन्ध के लक्षण से प्रकट है।[4]

---

१. मु श्रोतसा। २.ब्या जाड्यकारे। ३. सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।—तत्त्वार्थसूत्र ६-४। ४. पुद्गलानां यदादानं योग्यानां सकषायतः। योगतः स मतो बन्धो जीवास्वातन्त्र्यकारणम्॥१॥

एक द्रव्य का परिणाम दूसरे को प्राप्त होने पर दोषापत्ति

नान्यद्रव्य-परीणाममन्य-द्रव्यं प्रपद्यते।
स्वा-न्य-द्रव्य-व्यवस्थेयं परस्य (था) घटते कथम्॥१६॥

अर्थ—भिन्न द्रव्य का परिणाम भिन्न द्रव्य को प्राप्त नहीं होता एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी परिणमन नहीं करता यदि ऐसा न माना जाये तो यह स्वद्रव्य-परद्रव्य की व्यवस्था कैसे बन सकती है ? नहीं बन सकती।

व्याख्या—प्रत्येक परिणमन अपने-अपने उपादान के अनुरूप होता है, दूसरे द्रव्य के उपादान के अनुरूप नहीं। यदि एक द्रव्य का परिणमन दूसरे द्रव्य के उपादानरूप होने लगे तो दोनों द्रव्यों में कोई भेद नहीं रहता। उदाहरण के तौर पर सन्तरे के बीज से अमरूद और अमरूद के बीज से सन्तरा भी उत्पन्न होने लगे तो यह सन्तरे का बीज और यह अमरूद का बीज है ऐसा भेद नहीं किया जा सकता और न यह आशा ही की जा सकती है कि सन्तरे का बीज बोने से सन्तरे का वृक्ष उगेगा और उस पर सन्तरे लगेंगे। अन्यथा परिणमन होने की हालत में उस सन्तरे के बीज से कोई दूसरा वृक्ष भी उग सकता है और दूसरे प्रकार के फल भी लग सकते हैं, परन्तु, ऐसा नहीं होता, इसी से एक द्रव्य में दूसरे सब द्रव्यों का अभाव माना गया है, तभी वस्तु की व्यवस्था ठीक बैठती है, अन्यथा कोई भी वस्तु अपने स्वरूप को प्रतिष्ठित नहीं कर सकती, तब हम सन्तरे को सन्तरा और अमरूद को अमरूद भी नहीं कह सकते।

पाँचवीं बुद्धि जिससे कर्मास्त्रव नहीं रुकता

परेभ्यः सुखदुःखानि द्रव्येभ्यो यावदिच्छति।
तावदास्त्रव-विच्छेदो न मनागपि जायते॥१७॥

अर्थ—जब तक (यह जीव) परद्रव्यों से सुख-दुःखादि की इच्छा-अपेक्षा रखता है तब तक आस्त्रव का विच्छेद-आत्मा में कर्मों के आगमन का निषेध तनिक सा भी नहीं बनता।

व्याख्या—पर-द्रव्यों से मुझे सुख-दुःख मिलता है ऐसी समझ जब तक बनी रहती है तब तक आस्त्रव का किंचित् भी निरोध नहीं हो सकता। यह एक पाँचवें प्रकार की बुद्धि है जो कर्मास्त्रव की हेतुभूत है।

स्वदेह-परदेह के अचेतनत्व को न जानने का फल

अचेतनत्वमज्ञात्वा[1] स्वदेह-परदेहयोः।
स्वकीय-परकीयात्मबुद्धितस्तत्र वर्तते ॥१८॥

---

१. मु अचेतनत्वमज्ञत्वात्।

अर्थ—(यह जीव) स्वदेह और परदेह के अचेतनपने को न जानकर स्वदेह में आत्मबुद्धि से और परदेह में परकीय आत्मबुद्धि से प्रवृत्त होता है अपने शरीर को अपना आत्मा और पर के शरीर को पर का आत्मा समझकर व्यवहार करता है।

व्याख्या—अपने देह को अपना आत्मा और स्त्री-पुत्रादि पर के देह को पर का आत्मा समझकर यह जीव जो प्रवृत्त होता है और उससे अपने को सुख-दुःख होना मानता है उसका क्या कारण है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ ही यह पद्य निर्मित हुआ जान पड़ता है। और वह समाधान है ''अपने देह तथा पर देह के अचेतनत्व को न जानना''। यदि निश्चितरूप से यह जाना हो कि मेरा या दूसरे किसी भी जीव का शरीर चेतन नहीं है जड़ है तो उसमें स्वात्मीय तथा परात्मीय बुद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि आत्मा सबका वस्तुतः चेतनरूप अमूर्तिक है, अचेतन मूर्तिक पदार्थ स्वभाव से उसका अपना नहीं हो सकता अपना मानना स्वरूप-पररूप की अनभिज्ञता के कारण भूल है भ्रान्ति है। इसके मिटने से बुद्धि का सुधार होता है और तब कर्म का आस्रव सहज ही रुक जाता है।

पर में आत्मीयत्व बुद्धि का कारण

यदात्मीयमनात्मीयं विनश्वरमनश्वरम्।
सुखदं दुःखदं वेत्ति न चेतनमचेतनम् ॥१९॥
पुत्र-दारादि के द्रव्ये तदात्मीयत्व-शेमुषीम्[1]।
कर्मास्त्रवमजानानो विधत्ते मूढ़मानसः ॥२०॥

अर्थ—जब तक जीव आत्मीय-अनात्मीय को, विनाशीक-अविनाशीक को, सुखदायी-दुःखदायी को और चेतन-अचेतन को नहीं जानता है तब तक कर्म के आस्रव को न जानता हुआ यह मूढ़ प्राणी पुत्र स्त्री आदि पदार्थों में आत्मीयत्व की बुद्धि रखता है, उन्हें अपने समझता है।

व्याख्या—पूर्वपद्य विषयक अज्ञान को इन दोनों पद्यों में और स्पष्ट करते हुए उसे स्त्री-पुत्रादि में आत्मीयपने की बुद्धि का कारण बतलाया है। लिखा है कि–जब यह मोहित चित्त मूढ़ प्राणी आत्मीय-अनात्मीय की, विनश्वर-अविनश्वर को, सुखदायी-दुःखदायी को, चेतन अचेतन को नहीं जानता, इनके स्वरूप भेद को नहीं पहचानता तब कर्मों का आस्रव कैसे होता है ? इसको भी न जानता हुआ स्त्री-पुत्रादिक में आत्मीयपने की बुद्धि को धारण करता है उन्हें अपने आत्म-द्रव्य के साथ सम्बद्ध मानता है।

---

१. आ तदात्मीयसेमुखी।

कौन किससे उत्पन्न नहीं होता

कषाया नोपयोगेभ्यो नोपयोगाः कषायतः।
न मूर्तामूर्तयोरस्ति संभवो हि परस्परम् ॥२१॥

अर्थ—उपयोगों से कषाय और कषाय से उपयोग (उत्पन्न) नहीं होते और न मूर्तिक-अमूर्तिक का परस्पर एक-दूसरे से उत्पाद-संभव है।

व्याख्या—क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें हैं और ज्ञान तथा दर्शन ये दो मूल उपयोग हैं। इन दोनों में से किसी भी उपयोग से कषायों की उत्पत्ति सम्भव नहीं और न मूर्तिक से अमूर्तिक तथा अमूर्तिक से मूर्तिक पदार्थ की उत्पत्ति बन सकती है, ये पदार्थों की उत्पत्ति-विषयक वस्तुतत्त्व के निदर्शक सिद्धान्त हैं। अमूर्तिक आत्मा का उपयोग लक्षण है, लक्षण होने से ज्ञान-दर्शन अमूर्तिक हैं और कषायें मूर्त-पौद्गलिक कर्मजनित होने से, मूर्तिक हैं। ऐसी स्थिति में शुद्धोपयोगरूप आत्मा का कषायरूप परिणमन नहीं होता।

कषाय-परिणाम किसके होते हैं और अपरिणामी का स्वरूप

कषाय-परिणामोऽस्ति जीवस्य परिणामिनः।
कषायिणोऽकषायस्य सिद्धस्येव न सर्वथा ॥२२॥
न संसारो न मोक्षोऽस्ति यतोऽस्यापरिणामिनः।
निरस्त-कर्म-सङ्गश्चापरिणामी ततो मतः ॥२३॥

अर्थ—कषाय सहित परिणामी जीव के कषाय परिणाम होता है, जो कषायरहित हो गया है उसके कषाय परिणाम नहीं होता, जैसे कि सिद्धात्मा के। चूँकि इस कषायरहित अपरिणामी जीव के न तो संसार है और न मोक्ष, अतः जिसके कर्म का अभाव हो गया है वह अपरिणामी माना गया है।

व्याख्या—पिछले पद्य के कथन से यह प्रश्न पैदा होता है कि तब कषायरूप परिणमन किस जीव का होता है ? उत्तर में बतलाया है कि जो कषाय सहित परिणामी जीव है कषायकर्म के उदय को अपने में लिए हुए हैं, उसी का कषायरूप परिणाम होता है। जो कषाय रहित है कषायकर्म के उदय को अपने में लिए हुए नहीं है उसका कषायरूप परिणमन नहीं होता; जैसे कि सिद्धों का नहीं होता, जिनके कषाय का कभी उदय ही नहीं किन्तु अस्तित्व भी नहीं। चूँकि इस कषायरूप परिणत न होने वाले जीव के न तो संसार है (कषायरूप परिणमन ही नहीं तो फिर संसार क्या?) और न मोक्ष है (कर्म सत्ता में मौजूद हों तो मोक्ष कैसा?) इसी से जो कर्म के सम्पर्क से बिल्कुल अलग हो गया है वह वस्तुतः अपरिणामी माना गया है।

परिणाम को छोड़कर जीव-कर्म के एक-दूसरे के गुणों का कर्तृत्व नहीं

नान्योन्य-गुण-कर्तृत्वं विद्यते जीव-कर्मणोः।
अन्योन्यापेक्षयोत्पत्तिः परिणामस्य केवलम् ॥२४॥
स्वकीय-गुण-कर्तृत्वं तत्त्वतो जीव-कर्मणोः।
क्रियते हि गुणस्ताभ्यां व्यवहारेण गद्यते ॥२५॥

अर्थ—जीव और (पुद्गल) कर्म के एक-दूसरे का गुणकर्तृत्व विद्यमान नहीं हैं न जीव में कर्म के गुणों को करने की सामर्थ्य है और न कर्म में जीव के गुणों को उत्पन्न करने की शक्ति। एक-दूसरे की अपेक्षा से, निमित्त से, केवल परिणाम की उत्पत्ति होती है जो जिसमें उत्पन्न होता है उसी में रहता है। वास्तव में जीव और कर्म के अपने-अपने गुणों का कर्तृत्व विद्यमान है जीव अपने ज्ञानादि गुणों का और पुद्गलकर्म अपने ज्ञानावरणादि गुणों का कर्ता है। एक के द्वारा दूसरे के गुणों का किया जाना जो कहा जाता है वह व्यवहारनय की दृष्टि से कहा जाता है।

व्याख्या—ज्ञान-दर्शन लक्षण जीव पौद्गलिक कर्म के गुण-स्वभाव का कर्ता नहीं, और न (कषाय तथा ज्ञानावरणादिरूप) पौद्गलिक कर्म जीव के गुण-स्वभाव का कर्ता है। केवल एक-दूसरे के परिणाम की उत्पत्ति एक-दूसरे के निमित्त से होती है न कि गुण की। जीव और कर्म दोनों वस्तुतः अपने-अपने गुण-स्वभाव के कर्ता हैं। एक को दूसरे के गुण-स्वभाव का कर्ता कहना व्यवहार-नय की दृष्टि से कथन है—व्यवहारनय की अपेक्षा ऐसा ही कहने में आता है।

पुद्गलापेक्षिक जीवभावों की उत्पत्ति और औदयिकभावों की स्थिति

उत्पद्यन्ते यथा भावाः पुद्गलापेक्षयात्मनः।
तथैवौदयिका भावा विद्यन्ते तदपेक्षया ॥२६॥

अर्थ—जिस प्रकार पुद्गल की अपेक्षा से पुद्गल का निमित्त पाकर जीव के भाव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार पुद्गल की अपेक्षा से पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए औदयिक भाव विद्यमान रहते हैं।

व्याख्या—इस पद्य में जीव के गति-कषायादिरूप औदयिकभावों की स्थिति का निर्देश है यह बतलाया है कि जिस प्रकार पुद्गलों का निमित्त पाकर संसारी जीव के भाव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार पुद्गलकर्म के उदय का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए जो जीव के औदयिकभाव हैं वे स्थिति को प्राप्त होते हैं उत्पन्न होते ही नाश को प्राप्त नहीं होते किन्तु उदय की स्थिति के अनुसार बने रहते हैं।

निरन्तर रजोग्राही कौन ?

कुर्वाणः परमात्मानं सदात्मानं पुनः परम्।
मिथ्यात्व-मोहित-स्वान्तो रजोग्राही निरन्तरम् ॥२७॥

अर्थ—जो मिथ्यात्व से मोहितचित्त हुआ सदा पर को आत्मा और आत्मा को पर बनाता है वह निरन्तर कर्मरज को संचय करता रहता है।

व्याख्या—आस्रव के चार कारणों में से मिथ्यादर्शन के कथन का उपसंहार करते हुए इस पद्य में उक्त मिथ्यादृष्टि को जो मोह के उदय से मोहित चित्त हुआ दृष्टिविकार के कारण पर को आत्मा शरीरादि परपदार्थ को आत्मीय (अपने) और आत्मा को पर-शरीर तथा कायादिरूप समझता है, निरन्तर कर्म का साम्परायिक आस्रवकर्ता बतलाया है।

कौन स्वपर-विवेक को प्राप्त नहीं होता

राग - मत्सर - विद्वेष - लोभ - मोह - मदादिषु।
हृषीक-कर्म-नोकर्म-रूप-स्पर्श-रसादिषु॥२८॥
एतेऽहमहमेतेषामिति तादात्म्यमात्मनः।
विमूढः कल्पयन्नात्मा स्व-परत्वं न बुध्यते॥२९॥

अर्थ—मूढ़ आत्मा मिथ्यात्वसहित चित्त राग, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ, मोह, मदादिक में तथा इन्द्रिय कर्म, नोकर्मरूप रस, स्पर्शादिक विषयों में ''ये मैं हूँ, मैं इनका हूँ'' इस प्रकार आत्मा के तादात्म्य की एकत्व की कल्पना करता हुआ स्व-पर विवेक को अपने और पर के यथार्थ बोध को प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—पिछले पद्य में स्व-पर की नासमझका जो उल्लेख है उसे इस पद्य में और स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि ''राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि के रूप में जो भी विभाव हैं, इन्द्रियों के कर्म हैं, शरीर की चेष्टाएँ हैं और रूप, रस, स्पर्शादिरूप पुद्गल के गुण हैं उन सबमें ये मेरे, मैं इनका'' इत्यादि रूप से तादात्म्य सम्बन्ध की कल्पना करता हुआ यह मूढ़ आत्मा न तो अपने को ही समझ पाता है और न पर को। यह तादात्म्य भाव की कल्पना ही इस जीव के स्व-पर विवेक में बाधक है। इसी से अनात्मीय भावों में ममकार और कर्मजनित भावों में अहंकार उत्पन्न होता है।

कर्म-सन्तति-हेतु अचारित्र का स्वरूप

हिंसने वितथे स्तेये मैथुने च परिग्रहे।
मनोवृत्तिरचारित्रं कारणं कर्मसंततेः ॥३०॥

अर्थ—हिंसा में, झूठ में, चोरी में, मैथुन में और परिग्रह में जो मन की प्रवृत्ति है वह अचारित्र है कुत्सित आचरण है जो कि कर्मसन्तति का कर्मों की उत्पत्ति, स्थिति तथा परिपाटी का कारण है।

व्याख्या—इस पद्य में आस्रव के दूसरे विशेष कारण अचारित्र को लिया गया है और यह बतलाया है कि हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन (पंच पापों) में जो भावमन की प्रवृत्ति है उसे 'अचारित्र' कहते हैं–जिसके दूसरे नाम 'अव्रत' और 'असंयम' भी हैं। यह प्रवृत्ति आस्रवादिरूप से कर्म–सन्तति को चलाने में कारणीभूत है।

राग-द्वेष से शुभाशुभ-भाव का कर्ता अचारित्री

रागतो द्वेषतो भावं परद्रव्ये शुभाशुभम्।
आत्मा कुर्वन्नचारित्रं स्व-चारित्र-पराङ्मुखः॥३१॥

अर्थ—परद्रव्य में राग से अथवा द्वेष से शुभ-अशुभ भाव (परिणाम) को करता हुआ आत्मा अचारित्री–कुत्सिताचारी होता है; क्योंकि वह उस समय अपने चारित्र से स्वरूपाचरण से विमुख होता है।

व्याख्या—जब यह जीव परद्रव्य में राग से शुभभाव को और द्वेष के कारण अशुभभाव को करता है परद्रव्य को शुभ या अशुभरूप मान लेता है तो यह अपने समताभावरूप स्वचारित्र से विमुख–भ्रष्ट हुआ अचारित्री अथवा असंयमी होता है और ऐसा होता हुआ कर्मास्रव का कारण बनता है।

स्वचारित्र से भ्रष्ट कौन ?

यतः संपद्यते पुण्यं पापं वा परिणामतः।
वर्तमानो यत (तत) स्तत्र भ्रष्टोऽस्ति स्वचरित्रतः॥३२॥

अर्थ—चूँकि शुभ–अशुभ परिणाम (भाव)से पुण्य–पाप की उत्पत्ति होती है अतः उस परिणाम में प्रवर्तमान आत्मा अपने चारित्र से भ्रष्ट होता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जीव के जिन दो भावों–परिणामों का उल्लेख है वे क्रमशः राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाले शुभ–अशुभ भाव हैं। इनमें से शुभभावों से पुण्यकर्म का और अशुभ भावों से पापकर्म का आस्रव होता है; जैसा कि मोक्षशास्त्र के ''शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य'' इस सूत्र से भी प्रकट है। इस पुण्य–पाप में जो सदा प्रवृत्तिमान रहता है उसे यहाँ स्वचारित्र से भ्रष्ट बतलाया है वह इन दोनों के चक्कर में फँसा अपने स्वरूप से विमुख हुआ उसे भुलाये रहता है।

स्वचारित्र से भ्रष्ट-चतुर्गति के दुःख सहते हैं

श्वाभ्र-तिर्यङ्-नर-स्वर्गि-गतिं[1] जाताः शरीरिणः।
शारीरं मानसं दुःखं सहन्ते कर्म-संभवम्॥३३॥

अर्थ– अपने चारित्र से भ्रष्ट होकर शुभ-अशुभ परिणामों के द्वारा पुण्य-पाप का संचय करने वाले) नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति को प्राप्त हुए जीव कर्मजन्य शारीरिक तथा मानसिक दुःख को सहन करते हैं।

व्याख्या–यहाँ स्वचारित्र से भ्रष्ट होने के फलका निर्देश किया है लिखा है कि–ऐसे स्वचारित्र भ्रष्ट प्राणी नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति को प्राप्त हुए कर्मजनित शारीरिक तथा मानसिक दुःख को सहते हैं।

देवेन्द्रों का विषय-सुख भी दुःख है

यत्सुखं सुरराजानां जायते विषयोद्भवम्।
ददानं दाहिकां तृष्णां दुःखं तदवबुध्यताम्॥३४॥

अर्थ–यदि यह पूछा जाये कि देवगति को प्राप्त देवेन्द्रों को तो बहुत सुख होता है फिर देवगति के सभी जीवों को दुःख सहने वाला क्यों लिखा है ? तो इसका समाधान यह है कि–देवेन्द्रों को इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न जो सुख होता है, वह दाह उत्पन्न करने वाली तृष्णा को देने वाला है इसलिए उसे (वस्तुतः) दुःख समझना चाहिए।

व्याख्या–पिछले पद्य में जिन चतुर्गति सम्बन्धी शारीरिक तथा मानसिक दुःखों के सहने का उल्लेख है उस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पुण्यकर्म से जो देवगति की प्राप्ति होती है उसमें देवेन्द्र का सुख तो बहुत बढ़ा-चढ़ा होता है; तब अन्य स्वर्ग गति प्राप्त सभी जीवों को भी दुःखों के सहने की बात कैसे कहते हैं ? इसी का उत्तर इस पद्य में देते हुए लिखा है कि–देवराज को स्वर्ग में जो सुख इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न हुआ प्राप्त होता है वह दाह उत्पन्न करनेवाली भारी तृष्णा को देने वाला होता है और इसीलिए उसे भी दुःख समझना चाहिए। हजारों-करोड़ों वर्षों तक जिस सुख को स्वर्गों में भोगते हुए तृप्ति की प्राप्ति ही न हो, प्यास के रोगी के समान जलपान से उलटी तृष्णा बढ़े, उसे सुख कैसे कह सकते हैं ? सुख तो तृष्णा के अभाव में है।

इन्द्रियजन्य सुख–दुःख क्यों है ?

अनित्यं पीडकं तृष्णा-वर्धकं कर्म कारणम्
शर्माक्षजं[2] पराधीनमशर्मैव विदुर्जिनाः ॥३५॥

---

१. मु श्वभ्रतिर्यङ्नरस्वर्गगति। २. मु समक्षजं।

अर्थ—जो अस्थिर है, पीडाकारी है, तृष्णावर्धक है, कर्मबन्ध का कारण है, पराधीन है उस इन्द्रियजन्य सुख को जिनराजों ने असुख (दुःख) ही कहा है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिस इन्द्रियसुख का उल्लेख है उसके कुछ विशेषणों को इस पद्य में और स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि वह एक तो क्षणभंगुर है लगातार स्थिर रहने वाला नहीं पीड़ाकारक है-दुःख को साथ में लिए हुए है, तृष्णा को उत्पन्न ही नहीं करता किन्तु उसे बढ़ाने वाला है, कर्म के आस्रव-बन्ध का कारण है और साथ ही स्वाधीन न होकर पराधीन है, इसी से जिनेन्द्र भगवान् उसे वस्तुतः दुःख ही कहते हैं।

सांसारिक सुख को दुःख न मानने वाला अचारित्री

सांसारिकं सुखं सर्वं दुःख तो न विशिष्यते।
यो नैव बुध्यते मूढः स चारित्री न भण्यते॥३६॥

अर्थ—संसार का सारा सुख दुःख से कोई विशेषता नहीं रखता, जो इस तत्त्व को नहीं समझता वह मूढ़ चारित्री नहीं कहा जाता, उसे चारित्रवान् न समझना चाहिए।

व्याख्या—इस पद्य में पूर्वपद्य की बात को पुष्ट करते हुए सारे ही सांसारिक सुख को वस्तुतः दुःख बतलाया है; उसे दुःख से अविशिष्ट घोषित किया है और यहाँ तक लिखा है कि जो मूढ़ मिथ्यादृष्टि इस तथ्य को नहीं समझता वह चारित्री, व्रती अथवा संयमी नहीं कहा जाता।

पुण्य-पाप का भेद नहीं जानने वाला चारित्र भ्रष्ट

यः पुण्यपापयोर्मूढो विशेषं नावबुध्यते[1]।
स चारित्रपरिभ्रष्टः संसार-परिवर्धकः ॥३७॥

अर्थ—इसी तरह जो मूढ़ पुण्य-पाप दोनों के विशेष भेद को अथवा दोनों में अविशेष अभेद को नहीं समझता वह चारित्र से परिभ्रष्ट है और संसार का परिवर्धक है, भवभ्रमण करने वाला दीर्घ-संसारी है।

व्याख्या—यहाँ सांसारिक सुख के कारण पुण्य को ही नहीं किन्तु दुःख के कारण पाप को भी साथ में लेकर कहा गया है कि जो इन पुण्य-पाप दोनों के वास्तविक भेद को नहीं समझता वह अपने चारित्र से भ्रष्ट और संसार परिभ्रमण को बढ़ाने वाला है। पुण्य के प्रताप से स्वर्ग में जाकर सागरों पर्यन्त वह इन्द्रिय सुख भोगते भी रहा, जिसे पिछले पद्य में अस्थिर, पीड़क, तृष्णावर्धक और पराधीन आदि कहा गया है, तो उससे क्या होगा ? संसार तो बढ़ेगा ही, बन्धन से कहीं मुक्ति तो नहीं हो सकेगी। यदि वह भी बन्धन ही रहा तो लोहे-सोने की बेड़ी की तरह बन्धन में विशेषता क्या

१. आ विशेषमवबुध्यते।

रही? दोनों ही प्रकार के बन्धन संसार में बाँधे रखने के लिए समर्थ हैं। इसी से जो शुद्धबुद्धि सम्यग्दृष्टि हैं वे इन दोनों में कोई भेद नहीं समझते।[१]

कौन सच्चारित्र का पालनकर्ता हुआ भी कर्मों से नहीं छूटता

पापारम्भं परित्यज्य शस्तं वृत्तं चरन्नपि।
वर्तमानः कषायेन कल्मषेभ्यो न मुच्यते ॥३८॥

अर्थ—पापारम्भ को छोड़कर सच्चारित्ररूप आचरण करता हुआ भी आत्मा यदि कषाय के साथ वर्त रहा है। क्रोध, मान, माया, लोभादिक के वशवर्ती होकर वह आचरण कर रहा है तो वह कर्मों से नहीं छूटता कषाय के कारण, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, उसके बराबर कर्म का आस्रव बन्ध होता रहता है।

व्याख्या—हिंसा, झूठ, चोरी आदि की जिस मनोवृत्ति को ३० वें पद्य में अव्रत, अचारित्र कहा है वह सब पापरूप है; क्योंकि पापों से विरक्ति का नाम 'व्रत' है; जैसा कि मोक्षशास्त्र के ''हिंसानृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्' इस सूत्र (७-१) से जाना जाता है। इस पद्य में, कषाय-जनित कर्मास्रव का उल्लेख करते हुए, यह बतलाया है कि पापों के आरम्भ को छोड़कर सच्चारित्र का अनुष्ठान करता हुआ जीव किसी कषाय के साथ चाहे वह शुभ हो या अशुभ यदि वर्त रहा है तो उसका कर्म के आस्रव-बन्ध से छुटकारा नहीं होता वह अपने कषायभाव के अनुसार बराबर साम्परायिक आस्रव का अर्जन करता रहता है।

बन्ध का कारण वस्तु या वस्तु से उत्पन्न दोष ?

[२]जायन्ते मोह-लोभाद्या दोषा यद्यपि वस्तुतः।[३]
तथापि दोषतो बन्धो दुरितस्य न वस्तुतः[४]॥३९॥

अर्थ—यद्यपि वस्तु के परपदार्थ के निमित्त से मोह तथा लोभादिक दोष उत्पन्न होते हैं तथापि कर्म का बन्ध उत्पन्न हुए दोष के कारण होता है न कि वस्तु के कारण परपदार्थ बन्ध का कारण नहीं।

व्याख्या—यहाँ जिस वस्तु के निमित्त से आत्मा में काम-क्रोध-लोभादिक दोषों की उत्पत्ति होती है उसे आस्रव-बन्ध का कारण न बतलाकर उन दोषों को ही कर्मों के आस्रव-बन्ध का कारण बतलाया है। यदि जीव के कषायादि परिणामों को छोड़कर वस्तु के निमित्त से ही आस्रव बन्ध का होना माना जाये तो फिर किसी का भी बन्ध से छूटना नहीं बन सकता।

१.पश्यन्तो जन्मकान्तारे प्रवेशं पुण्य-पापतः। विशेषं प्रतिपद्यन्ते न तयोः शुद्धबुद्धयः। -योग. प्रा. ४-४०।

२. वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं। ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधो त्थि। -समयसार२६५।

३.,४.आ वस्तुनः।

शुद्ध-स्वात्मा की उपलब्धि किसे होती है

मिथ्याज्ञान-निविष्ट-योग-जनिता:[१] संकल्पना भूरिश:
संसार-भ्रमकारिकर्म-समितेरावर्जने या क्षमा:[२]।
त्यज्यन्ते[३] स्व-परान्तरं गतवता नि:शेषतो येन ता-
स्तेनात्मा विगताष्टकर्म-विकृति: संप्राप्यते तत्त्वत:॥४०॥

इति श्रीमदमितगति-नि:संगयोगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते आस्रवाधिकार:॥३॥

अर्थ—मिथ्याज्ञान पर आधारित योगों से उत्पन्न हुई जो बहुत सी कल्पनाएँ, वृत्तियाँ, संसारभ्रमण कराने वाले कर्मसमूह के आस्रव में समर्थ हैं, वे स्वपर के भेद को पूर्णत: जानने वाले जिस (योगी) के द्वारा पूरी तरह त्यागी जाती हैं, उसके द्वारा वस्तुत: आठों कर्मों की विकृति से रहित (शुद्ध) आत्मा प्राप्त किया जाता है, कर्म के सारे विकार से रहित विविक्त आत्मा की उपलब्धि उसी योगी को होती है, जो उक्त योगजनित कल्पनाओं एवं कर्मास्रव मूलक वृत्तियों का पूर्णत: त्याग करता है।

व्याख्या—यह इस आस्रवाधिकार का उपसंहार-पद्य है, जिसमें चौथे योग जनित आस्रव हेतुओं का दिग्दर्शन कराते हुए। यह सूचन किया है कि मिथ्याज्ञान पर अपना आधार रखने वाली मन-वचन-कायरूप त्रियोगों की कल्पनाएँ प्रवृत्तियाँ बहुत अधिक हैं और वे सभी संसार में इस जीव को भ्रमण कराने वाले कर्मसमूह के आस्रव में समर्थ हैं। जिस स्वपर भेदविज्ञानी योगी के द्वारा वे सब मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ त्यागी जाती हैं। वह वास्तव में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, नाम, गोत्र और आयु इन आठों कर्मों के विकारों से रहित अपने शुद्धात्मा को प्राप्त होता है, जिसे 'विविक्तात्मा' के रूप में ग्रन्थ के शुरू से ही उल्लेखित करते आये हैं और जिसका परिज्ञान तथा प्राप्ति करना ही इस ग्रन्थ का एक मात्र लक्ष्य है।

जिस मिथ्याज्ञान का यहाँ उल्लेख है वह ग्रन्थ में वर्णित ''मिथ्याज्ञानं मतं तत्र मिथ्यात्वसमकायत:'' इस वाक्य के अनुसार वह दूषित ज्ञान है जो मिथ्यात्व के सम्बन्ध को साथ में लिए हुए होता है। और मिथ्यात्व उसे कहते हैं जिसके कारण ज्ञान में वस्तु का अन्यथा बोध हो वस्तु जिस रूप में स्थित है उस रूप में उसका ज्ञान न होकर विपरीतादि के रूप में जानना बने और जो सारे कर्मरूपी बगीचे को उगाने के लिए जलदान का काम करता है।[४]

इस प्रकार श्री अमितगति नि:संगयोगिराज-विरचित योगसार-प्राभृत में आस्रवाधिकार नाम का तीसरा अधिकार समाप्त हुआ॥३॥

---

१. अ योगयनिता। २. आ यत्क्षमां। ३. मु ज्ञायन्ते। ४. वस्त्वन्यथा परिच्छेदो ज्ञाने संपद्यते यत:। तन्मिथ्यात्वं मतं सद्भि: कर्मारामोदयोदकम्।—यो. प्रा.१३।

४.

बन्धाधिकार

बन्ध का लक्षण

पुद्गलानां यदादानं योग्यानां सकषायतः।
योगतः स मतो बन्धो जीवास्वातन्त्र्य-कारणम्[१]॥१॥

अर्थ—योग्य पुद्गलों का कषाय योग से—कषायसहित मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से जो ग्रहण है उसको 'बन्ध' माना गया है, जो कि जीव की अस्वतन्त्रता—पराधीनता का कारण है।

व्याख्या—बन्ध के इस लक्षण में मन-वचन-काय की कषायरूप प्रवृत्ति से जिन पुद्गलों के ग्रहण का विधान है उनके लिए 'योग्य' विशेषण का प्रयोग किया गया है, जिसका यह आशय है कि बन्ध के लिए सभी प्रकार के पुद्गल बन्ध के योग्य नहीं होते, जो कार्मण वर्गणा के रूप में परिणत होकर जीव के साथ बन्ध को प्राप्त हो सकते हैं वे ही पुद्गल ग्रहण योग्य कहलाते हैं। यहाँ 'ग्रहण' अर्थ में प्रयुक्त हुआ 'आदान' शब्द आस्रव के आगमनार्थ से भिन्न आकर ठहरने रूप अर्थ का वाचक है। यह ठहरना कषाय के योग से होता है, जो कि कर्मों की स्थिति और अनुभाग का कारण है। जीव-प्रदेशों में पुद्गलकर्म के प्रदेशों का आकर जो यह एक क्षेत्रावगाहरूप अवस्थान है, संश्लेष है, उसको 'बन्ध' कहते हैं। यह बन्ध, चाहे शुभ हो या अशुभ, जीव की स्वतन्त्रता का हरण कर उसे पराधीन बनाता है।

प्रकृति-स्थित्यादि के भेद से कर्मबन्ध के चार भेद

प्रकृतिश्च स्थितिर्ज्ञेयः प्रदेशोऽनुभवः परः।
चतुर्धा कर्मणो बन्धो दुःखोदय-निबन्धनम् ॥२॥

अर्थ—कर्म का बन्ध प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग के भेद से चार प्रकार का जानना चाहिए, जो कि (आत्मा में) दुःख के उदय का कारण है।

व्याख्या—बन्ध के चार मूल भेदों का नामोल्लेख करके समूचे बन्ध को यहाँ दुःखोत्पत्ति का कारण बतलाया है। सांसारिक सुख भी उस दुःख में शामिल है; जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। बन्ध जीव की स्वतंत्रता का हरण कर उसे पराधीनता प्रदान करने वाला है ''पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'' यह लोकोक्ति बन्ध को दुःख कारक बतलाने के लिए सुप्रसिद्ध है।

---

१. मु जीवस्वातन्त्र्यकारणं।

चारों बन्धों का सामान्य रूप

निसर्गः प्रकृतिस्तत्र स्थितिः कालावधारणम्।
सुसंक्लिप्तिः (क्लृप्तिः) प्रदेशोऽस्ति विपाकोऽनुभवः पुनः॥३॥

अर्थ—उक्त चार प्रकार के बन्धों में स्वभाव का नाम 'प्रकृति', काल की अवधि का नाम 'स्थिति', सुसंक्लृप्ति का नाम 'प्रदेश' और विपाक का नाम अनुभव (बन्ध) है।

व्याख्या—यहाँ चारों प्रकार के बन्धों का सामान्यतः स्वरूप दिया है और वह यह कि जो पुद्गल कर्मरूप होकर जीव के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं उनमें गुणस्वभाव के पड़ने को 'प्रकृतिबन्ध', कब तक सम्बन्धित रहेंगे इस काल की अवधि को 'स्थितिबन्ध', जीव के प्रदेशों में संश्लेष को 'प्रदेशबन्ध' और फलदान की शक्ति को 'अनुभागबन्ध' कहते हैं।

कौन जीव कर्म बाँधता है और कौन नहीं बाँधता

रागद्वेषद्वयालीढः कर्म बध्नाति चेतनः।
व्यापारं विदधानोऽपि तदपोढो न सर्वथा ॥४॥

अर्थ—राग और द्वेष दोनों से युक्त हुआ चेतन आत्मा कर्म को बाँधता है। जो राग-द्वेष से रहित है वह व्यापार को मन-वचन-काय की क्रिया को करता हुआ भी सर्वथा कर्म का बन्ध नहीं करता।

व्याख्या—यहाँ बन्ध के कारण का निर्देश करते हुए उस जीवात्मा को बन्ध का कर्ता लिखा है जो राग और द्वेष इन दो से युक्त है, जो जीवात्मा इन दो से रहित है वह मन-वचन-काय की कोई क्रिया करता हुआ भी कभी बन्ध को प्राप्त नहीं होता। राग और द्वेष इन दो में सारा कषाय-नोकषाय चक्र गर्भित है लोभ, माया, हास्य, रति और त्रिधा काम ये राग रूप हैं और क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (ग्लानि) ये छह द्वेषरूप हैं। मिथ्यादर्शन से युक्त हुआ राग ही 'मोह' कहलाता है।[१]

पूर्वकथन का उदाहरणों द्वारा स्पष्टीकरण

सचित्ताचित्त मिश्राणां कुर्वाणोऽपि निषूदनम्।
रजोभिर्लिप्यते रूक्षो न तन्मध्ये चरन् यथा॥५॥
विदधानो विचित्राणां द्रव्याणां विनिपातनम्।
रागद्वेषद्वयापेतो नैनोभिर्बध्यते तथा॥६॥

अर्थ—जिस प्रकार चिकनाई से रहित रूक्षशरीर का धारक प्राणी धूलि के मध्य में विचरता और सचित्त अचित्त तथा सचित्ताचित्त पदार्थों का छेदन-भेदनादि करता हुआ भी रज से लिप्त-धूल से धूसरित नहीं होता है, उसी प्रकार रागद्वेष दोनों से रहित हुआ जीव नाना प्रकार के चेतनअचेतन तथा

१.रागः प्रेम रतिर्माया लोभं हास्यं च पञ्चधा। मिथ्यात्वभेदयुक् सोऽपि मोहो द्वेषः क्रुधादिषट्॥२७॥ अध्यात्मरहस्य ११

मिश्र पदार्थों के मध्य में विचरता और उनका विनिपातन–छेदन–भेदनादिरूप उपघात करता हुआ भी कर्मों से बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—पिछले पद्य के अन्त में यह बतलाया है कि राग–द्वेष से रहित हुआ जीव शरीरादि की अनेक चेष्टाएँ करता हुआ भी कर्म का बन्ध नहीं करता, उसको यहाँ सचिक्कनता रहित बिलकुल रूक्ष शरीरधारी मानव के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार वह मानव धूलिबहुल स्थान के मध्य में विचरता हुआ और अनेक प्रकार के घात प्रघात के कार्यों को करता हुआ भी धूलि से धूसरित नहीं होता उसी प्रकार राग–द्वेष से रहित हुआ जीव कर्मक्षेत्र में उपस्थित हुआ अनेक प्रकार की कायचेष्टादि करता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार के बन्धाधिकार में इस विषय का जो कथन पाँच गाथाओं में स्पष्ट किया है उस सबका सार यहाँ इन दो पद्यों में खींचकर रखा गया है।[१]

सर्वव्यापारहीनोऽपि कर्ममध्ये व्यवस्थितः।
रेणुभिर्व्याप्यते चित्रैः स्नेहाभ्यक्ततनुर्यथा॥७॥
समस्तारम्भ-हीनोऽपि कर्ममध्ये व्यवस्थितः।
कषायाकुलितस्वान्तो व्याप्यते दुरितैस्तथा ॥८॥

अर्थ—जिस प्रकार शरीर में तैलादि की मालिश किये हुए पुरुष धूलि से व्याप्त कर्मक्षेत्र में बैठा हुआ समस्त व्यापार से हीन होते हुए भी कर्मक्षेत्र में स्वयं कुछ काम न करते हुए भी नाना प्रकार की धूलि से व्याप्त होता है, उसी प्रकार जिसका चित्त क्रोधादि कषायों से आकुलित है वह कर्म के मध्य में स्थित हुआ समस्त आरम्भों से रहित होने पर भी कर्मों से व्याप्त होता है।

व्याख्या—यहाँ उसी पिछले पद्य (नं० ४) के आदि में जो यह बतलाया है कि राग और द्वेष से युक्त हुआ जीव कर्म का बन्ध करता है उसे यहाँ खूब तेल की मालिश किये हुए सचिक्कन देहधारी मनुष्य के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है, जिस प्रकार तेल से लिप्त गात्र का धारक मनुष्य धूलिबहुल कर्मक्षेत्र में बैठा हुआ स्वयं सब प्रकार की कायादि चेष्टाओं से रहित होता हुआ भी धूलि से धूसरित होता है उसी प्रकार कर्मक्षेत्र में उपस्थित हुए जिस जीव का चित्त कषाय से अभिभूत है रागादिरूप परिणत है, वह सब प्रकार के आरम्भों से रहित होने पर भी कर्मों से बन्ध को प्राप्त होता है। इस रागादिरूप कषायभाव में ही वह चिपका है जो कुछ न करते हुए भी कर्म को अपने से चिपकाता है। इसी से बन्ध का स्वरूप बतलाते हुए अधिकार के प्रारम्भ में ही उसका प्रधान कारण कषाययोग बतलाया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार के बन्धाधिकार के प्रारम्भ में इस विषय का जो कथन गाथा २३७ से २४१ में किया है, उसी का यहाँ उक्त दो पद्यों में सार खींचा गया है।

---

१. देखो, समयसार गाथा, नं० २४३ से२४६।

अमूर्त आत्मा का मरणादि करने में कोई समर्थ नहीं फिर भी मारणादि के परिणाम से बन्ध

मरणं जीवनं दु:खं सौख्यं रक्षा निपीडनम्।
जातु कर्तुममूर्तस्य[१] चेतनस्य न शक्यते॥९॥
विदधान: परीणामं मारणादिगतं परम्।
बध्नाति विविधं कर्म मिथ्यादृष्टिर्निरन्तरम्॥१०॥

अर्थ—अमूर्तिक चेतनात्मा का मरण, जीवन, सुख, दु:ख, रक्षण और पीड़न करने के लिए (कोई भी) कभी समर्थ नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव पर के मरणादि विषयक परिणाम करता हुआ निरन्तर नाना प्रकार के कर्मों को बाँधता है।

व्याख्या—आस्रवाधिकार में आस्रव के मिथ्यादर्शनादि चार कारणों का उल्लेख करते हुए यह सूचित किया जा चुका है कि बन्ध के भी ये ही चार कारण हैं, इसी से इस बन्धाधिकार में बन्ध के कारणों का अलग से कोई नामोल्लेख न करके मिथ्यादर्शनादिजन्य बन्ध के कार्यों का सकारण निर्देश किया गया है। यहाँ यह बतलाया गया है कि जीव अमूर्तिक है उसके मरने, जीने, सुख-दु:ख भोगने, रक्षित-पीड़ित किये जाने-जैसे कार्यों को कोई भी वस्तुत: कभी करने में समर्थ नहीं है, यह एक सिद्धान्त की बात है।

इसके विपरीत जिसका श्रद्धान है वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव वस्तुतत्त्व को न समझने पर दूसरे जीव को मारने जिलाने आदि का जो परिणाम (भाव) करता रहता है उससे वह निरन्तर नाना प्रकार के कर्म बन्धनों से अपने को बाँधता रहता है। उन बन्धनों में शुभभावों से बँधे बन्धन शुभ और अशुभभावों से बँधे बन्धन अशुभ होते हैं।

यहाँ मरण, जीवन, दु:ख, सौख्य, रक्षा और निपीडन इन छह कार्यों का संक्षेप से उल्लेख है, इनके साधनों, प्रकारों और इनसे मिलते-जुलते दूसरे कार्यों को भी उपलक्षण से इनमें शामिल समझना चाहिए।

मरणादिक सब कर्म-निर्मित; अन्य कोई करने-हरने में समर्थ नहीं

कर्मणा निर्मितं सर्वं मरणादिकमात्मन:[२]।
कर्मावितरतान्येन कर्तुं हर्तुं न शक्यते॥११॥

अर्थ—आत्मा का मरणादिक सब कार्य कर्म द्वारा निर्मित है, कर्म को न देने वाले दूसरे के द्वारा उसका करना हरना नहीं बन सकता।

---

१. व्या कर्ममममूर्त्तस्य। २. मु ब्या मारणादिकमात्मन:। आ मारणादिगतमात्मन:।

व्याख्या—पिछले पद्य ९ में जीव के जिन मरणादिक कार्यों का उल्लेख है उन सबको इस पद्य में कर्मनिर्मित बतलाया है; जैसे मरण आयुकर्म के क्षय से होता है–[1]आयुकर्म के उदय से जीवन बनता है[2], साता वेदनीयकर्म का उदय सुख का और असाता वेदनीयकर्म का उदय दु:ख का कारण होता है। जब एक जीव दूसरे जीव को कर्म नहीं देता और न उसका कर्म लेता है तो फिर वह उस जीव के कर्म–निर्मित कार्य का कर्ता–हर्ता कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। और इसलिए अपने को कर्ता–हर्ता मानना मिथ्याबुद्धि है, जो कि बन्ध का कारण है

जिलाने मारने आदि की सब बुद्धि मोह कल्पित

या जीवयामि जीव्येऽहं मार्येऽहं मारयाम्यहम्।
[3]निपीडये निपीड्येऽहं सा बुद्धिर्मोहकल्पिता॥१२॥

अर्थ—मैं जिलाता हूँ–जिलाया जाता हूँ, मारता हूँ–मारा जाता हूँ, पीड़ित करता हूँ–पीड़ित किया जाता हूँ, यह जो बुद्धि है वह मोह–निर्मित है।

व्याख्या—पिछले पद्य में मिथ्यादृष्टि की जिस बुद्धि का सूचन है, उसी का इस पद्य में स्पष्टीकरण है और उसे 'मोहकल्पिता' दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) कर्म के उदय द्वारा निर्मित बतलाया है। अत: मैं दूसरे को जिलाता या मारता हूँ, दूसरा मुझे जिलाता या मारता हैं, इस प्रकार की बुद्धि से जो शुभ या अशुभकर्म बन्ध होता है उसे मिथ्यात्वजन्य समझना चाहिए। ऐसी बुद्धि वाले जीव को श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में "सो मूढो अण्णाणी" इस वाक्य के द्वारा मूढ़ (मिथ्यादृष्टि) और अज्ञानी (अविवेकी) बतलाया हैं। और उसके पर के मारने–जिलाने, दु:खी–सुखी करने, पर के द्वारा मारे जाने–जिलाये जाने, सुखी दु:खी किये जाने की बुद्धि को आयु कर्मादि के न देने न हरने आदि के कारण निरर्थक, मिथ्या तथा मूढ़मति बतलाया है और पुण्य-पाप के बन्ध की करने वाली लिखा है। साथ ही जीवन-मरण, सुख–दु:खादि का होना कर्म के उदयवश बतलाया है। इस विषय की १४ गाथाएँ २४८ से २६१ तक विस्तार रुचि वालों को समयसार में देखने योग्य हैं, जिनका सारा विषय संक्षेपत: यहाँ पद्य ९ से १२ तक आ गया है। यह सब कथन निश्चयनय की दृष्टि से है।[4] व्यवहारनय की दृष्टि से जिलाना, मारना, सुखी, दु:खी करना आदि कहने में आता है।

यहाँ तथा अन्यत्र जिसे 'बुद्धि' शब्द से, १०वें आदि पद्यों में 'परिणाम' शब्द से और कहीं 'भाव' तथा 'मति' शब्दों से उल्लेखित किया है उसी के लिए समयसार में अध्यवसान, विज्ञान, व्यवसाय और चिन्ता शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। और सबको एक ही अर्थ के वाचक

---

१. आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं। २४८–४९ समयसार। २. आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।२५१–५२ समयसार। ३.मु निपीड्येऽहं निपीडये। ४. ऐसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स॥२६२॥–समयसार।

बतलाया है; जैसा कि उसकी निम्न गाथा से प्रकट है–

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो॥२७१॥

कोई किसी के उपकार–अपकार का कर्ता नहीं, कर्तृत्व बुद्धि मिथ्या

[१]कोऽपि कस्यापि कर्तास्ति नोपकारापकारयोः।
उपकुर्वेऽपकुर्वेऽहं मिथ्येति क्रियते मतिः॥१३॥
सहकारितया द्रव्यमन्ये [२]नान्यद् विधीयते
क्रियमाणोऽन्यथा सर्वः संकल्पः कर्म-बन्धजः॥१४॥

अर्थ–कोई भी किसी के उपकार–अपकार का कर्ता नहीं है। मैं दूसरे का उपकार करता हूँ, अपकार करता हूँ, यह जो बुद्धि की जाती है वह मिथ्या है। सहकारिता की दृष्टि से एक पदार्थ दूसरे के द्वारा अन्य रूप में किया जाता है। अन्यथा क्रियमाण–करने–कराने रूप–जो संकल्प है वह सब कर्मबन्ध से उत्पन्न होता है–कर्म के उदयजन्य है।

व्याख्या–यहाँ पूर्वोल्लेखित बुद्धियों से भिन्न एक–दूसरे प्रकार को बुद्धि का उल्लेख है और वह है दूसरे का उपकार या अपकार करने की बुद्धि, इस बुद्धि को भी यहाँ मिथ्या बतलाया है और साथ ही यह निर्देश किया है कि वस्तुतः कोई भी जीव किसी का उपकार या अपकार नहीं करता है। तब यह उपकार–अपकार की जो मान्यता है वह भी व्यवहारनय के आश्रित है। वास्तव में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के निमित्त से अन्यथा रूप हो जाता है पर्याय से पर्यायान्तर को धारण करता है अन्यथा रूप करने–कराने का जो संकल्प जीव में उत्पन्न होता है वह सब कर्मबन्ध के कारण तद्रूप बँधे हुए कर्म के उदय में आने के निमित्त से होता है।

प्रत्येक जीव का उपकार या अपकार उसके अपने बाँधे शुभ या अशुभ कर्म के उदयाश्रित है; जैसा कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा के **''उवयारं अवयारं कम्मं च सुहासुहं कुणदि''** इस वाक्य से भी जाना जाता हैं।

चारित्रादि की मलिनता का हेतु मिथ्यात्व

चारित्रं दर्शनं ज्ञानं मिथ्यात्वेन मलीमसम्।
कर्पटं कर्दमेनेव[३] क्रियते निज-संगतः ॥१५॥

अर्थ–जिस प्रकार कपड़ा कीचड़ के द्वारा अपने संग से मैला किया जाता है उसी प्रकार

---

१. ण य कोवि देदि लच्छो ण को वि जीवस्सकुणदि उवयारं। उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि॥३१९॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा। २. व्या द्रव्यमनेन। ३. मु कर्दमेणैव।

मिथ्यात्व के द्वारा अपने संग से चारित्र, दर्शन तथा ज्ञान मलिन किया जाता है।

व्याख्या—पिछले पद्यों में तथा इससे पूर्व के आस्रवाधिकार में भी बुद्धि आदि के रूप में जिस ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को सदोष बतलाया है उसकी सदोषता के कारण को इस पद्य में स्पष्ट किया गया है और वह है मिथ्यात्व का सम्बन्ध, जिसे यहाँ कर्दम–कीचड़ की उपमा दी गयी है। कीचड़ के सम्बन्ध से जिस प्रकार वस्त्र मैला हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्वकर्म के उदय का निमित्त पाकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र सदोष हो जाते हैं।

मलिन चारित्रादि दोष के ग्राहक हैं

चारित्रादि त्रयं दोषं स्वीकरोति मलीमसम्।
न पुनर्निर्मलीभूतं सुवर्णमिव तत्त्वतः ॥१६॥

अर्थ—वस्तुतः मलिन चारित्र, मलिन दर्शन तथा मलिन ज्ञान दोष को स्वीकार करता है परन्तु जो चारित्र दर्शन तथा ज्ञान निर्मलीभूत हो गया है पूर्णतः निर्मल हो गया है, वह दोष को उसी प्रकार ग्रहण नहीं करता जिस प्रकार कि किट्ट–कालिमा से रहित हुआ सुवर्ण फिर से उस किट्ट–कालिमा को ग्रहण नहीं करता।

व्याख्या—पिछले पद्य में मिथ्यात्व के योग से ज्ञान–दर्शन–चारित्र का सदोष होना बतलाया है तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो ज्ञान–दर्शन–चारित्र मल का संग त्याग कर पूर्णतः निर्मल हो गया है वह भी क्या पुनः मिथ्यात्व के योग से मलिन हो जाता है? इसी के समाधानार्थ इस पद्य का अवतार हुआ जान पड़ता है। इसमें बतलाया है कि जो ज्ञान–दर्शन–चारित्र मलिन है कुछ भी मल से युक्त है अथवा सत्ता में मल को लिए हुए है वही वस्तुतः दोष को स्वीकार करता है दूसरे मल को ग्रहण करता अथवा मलरूप परिणत होता है मल से ही मल की परिपाटी चलती है जो पूर्णतः निर्मल हो गया है वह फिर मिथ्यात्व के संग से चारों ओर मिथ्यात्व का वातावरण होते हुए भी मलिन नहीं होता उसी प्रकार जिस प्रकार कि पूर्णतः निर्मल हुआ स्वर्ण दिन–रात कीचड़ में पड़ा रहने पर भी फिर से उस किट्ट–कालिमा को ग्रहण नहीं करता। इसी में मुक्ति का तत्त्व छिपा हुआ है जिन जीवों का दर्शन–ज्ञान–चारित्र पूर्णतः निर्मल हो जाता है वे फिर से भव धारण कर अथवा अवतार लेकर संसारभ्रमण नहीं करते सदा के लिए भवबन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।

अप्रासुक द्रव्य को भोगता हुआ भी वीतरागी अबन्धक

नीरागोऽप्रासुकं द्रव्यं भुञ्जानोऽपि न बध्यते।
शङ्खः किं जायते कृष्णः कर्दमादौ चरन्नपि ॥१७॥

अर्थ—जो वीतराग है वह अप्रासुक द्रव्य को भोगता–सेवन करता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता। (ठीक है) कर्दमादिक में विचरता हुआ भी शंख क्या काला हो जाता है? नहीं होता,

शुक्ल ही बना रहता है।

व्याख्या—इस अधिकार के प्रारम्भ में ही कषाय तथा राग–द्वेष को बन्ध का प्रमुख कारण बतला आये हैं, यहाँ उसी विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो योगी वीतराग है, अनासक्त है, वह अप्रासुक–सचित्त पदार्थ का भोजन करते हुए भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि धवल शंख कर्दमादिक में विचरता हुआ भी कृष्ण काला नहीं हो जाता।

न भोगता हुआ भी सरागी पापबन्धक

सरागो बध्यते पापैरभुञ्जानोऽपि[1] निश्चितम्।
अभुञ्जाना न किं मत्स्याः श्वभ्रं [2]यान्ति कषायतः॥१८॥

अर्थ—न भोगता हुआ भी सरागी जीव पापों से–कर्मों से–बन्ध को प्राप्त होता है यह निश्चित है। (ठीक है) न भोगने वाले (तन्दुलादिक) मत्स्य क्या कषाय परिणाम से–भोगने की लालसा से नरक को प्राप्त नहीं होते? होते ही हैं।

व्याख्या—पिछले पद्य में नीरागी को सचित्त भोजन करते हुए भी अबन्ध्य बतलाया है। और इस पद्य में सरागी के सचित्त भोजन न करते हुए भी सुनिश्चितरूप से पापों के बन्ध का पात्र ठहराया है, उसी प्रकार जिस प्रकार राघव नाम के बहुत बड़े मच्छ की आँखों पर बैठे हुए छोटे–छोटे तन्दुल मच्छ राघव मच्छ के मुँह में साँस के साथ प्रवेश करती और निःश्वास के साथ बाहर निकलती हुई अनेक छोटी–बड़ी मछलियों को देखकर यह कषायभाव करते हैं कि यह मूर्ख मच्छ अपना मुँह बन्द करके मुख में प्रविष्ट हुई मछलियों को चबा क्यों नहीं जाता बाहर क्यों निकलने देता है। इतने कषायभाव से ही, बिना उन मछलियों का भोजन किये, वे तन्दुलमच्छ नरक में जाते हैं, ऐसा आगम में उल्लेख है।

विषयों का संग होने पर भी ज्ञानी उनसे लिप्त नहीं होता

ज्ञानी विषयसंगेऽपि विषयैर्नैव लिप्यते।
कनकं मलमध्येऽपि न मलैरुपलिप्यते॥१९॥

अर्थ—जो ज्ञानी है वह विषयों का संग होने पर भी उनसे लिप्त नहीं होता (उसी प्रकार जिस प्रकार कि) मलों के मध्य में पड़ा हुआ सुवर्ण (सोना) मलों से लिप्त नहीं होता–मलों को आत्मप्रविष्ट नहीं करता।

व्याख्या—यहाँ जिस ज्ञानी का उल्लेख है वह वही है जो नीरागी है। अध्यात्म भाषा में वह ज्ञानी ही नहीं माना जाता जो राग में आसक्त हैं। ऐसे ज्ञानी योगी की विषयों का संग उपस्थित होने

१. व्या पापैरडंजानोऽपि। २. मु श्वभ्रे।

पर भी उनमें प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार जिस प्रकार कि मल के मध्य में पड़ा होने पर भी शुद्ध सुवर्ण मल को ग्रहण नहीं करता।

नीरागी योगी परकृतादि आहारादि से बन्ध को प्राप्त नहीं होता

आहारादिभिरन्येन कारितैर्मोदितैः कृतैः।
तदर्थं बध्यते योगी नीरागो न कदाचन॥२०॥

अर्थ—रागरहित योगी उसके लिए दूसरे के द्वारा किये, कराये तथा अनुमोदित हुए आहारादिकों से कदाचित् बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिस विषय-संग का उल्लेख है उसी को यहाँ आहारादि के रूप में स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि जो आहार-औषध-बसतिकादिक किसी योगी के लिए बनाया-बनवाया अथवा अनुमोदना किया गया है उससे वह योगी कभी भी आरम्भादि जन्य बन्ध-फल का भागी नहीं होता जो नीरागी है, उस आहारादिक में राग रहित है। और इसलिए जो वैसे कृत-कारित अनुमोदित विषयों में राग सहित प्रवर्त्तता है वह अवश्य ही आरम्भादि जन्य पाप फलका भागी होता है राग के कारण वह भी उस करने-कराने आदि में शामिल हो जाता है।

पर द्रव्यगत दोष से नीरागी के बँधने पर दोषापत्ति

परद्रव्यगतै[1] र्दोषैर्नीरागो यदि बध्यते।
तदानीं जायते शुद्धिः कस्य कुत्र कुतःकदा॥२१॥

अर्थ—पर द्रव्याश्रित दोषों के कारण यदि वीतराग भी बन्ध को प्राप्त होता है तो फिर किसकी कब कहाँ और कैसे शुद्धि हो सकती है? नहीं हो सकती।

व्याख्या—योगी-मुनि के लिए आहारादि बनाने-बनवाने-अनुमोदना करने में जिस आरम्भादि-जनित दोष की पिछले पद्य में सूचना है उसे यहाँ ''पर-द्रव्याश्रित दोष'' बतलाया है और साथ ही यह निर्देश किया है कि ऐसे परद्रव्याश्रित दोषों से यदि नीरागी योगी भी बन्ध को प्राप्त होने लगे तो फिर किसी जीव की भी किसी काल में किसी स्थान पर और किसी भी प्रकार शुद्धि नहीं बन सकती। अपने आत्मा में अशुद्धि अपने द्रव्यगत रागादि दोषों से होती है परद्रव्यगत दोषों से नहीं। अतः दोष कोई करे और उस दोष से बन्ध को कोई दूसरा ही प्राप्त हो इस भ्रान्त धारणा को छोड़ देना चाहिए। प्रत्येक जीव अपने-अपने शुभ-अशुभभावों के अनुसार शुभ-अशुभबन्ध को प्राप्त होता है, यह अटल नियम है।

---

१. मु परद्रव्यैर्गतै।

वीतराग योगी विषय को जानता हुआ भी नहीं बँधता

नीरागो विषयं योगी बुध्यमानो न बध्यते।
परथा बध्यते किं न केवली विश्ववेदक:॥२२॥

अर्थ—जो वीतराग योगी है वह विषय को जानता हुआ कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता। यदि विषयों को जानने से कर्मबन्ध होता है तो विश्व का ज्ञाता केवली बन्ध को प्राप्त क्यों नहीं होता?

व्याख्या—परद्रव्यगत दोषों से तथा इन्द्रिय-विषयों के संग से जब वीतरागी ज्ञानी बन्ध को प्राप्त नहीं होता तब उन्हें जानता हुआ तो वह बन्ध को कैसे प्राप्त होगा? यह बात यद्यपि पूर्व पद्यों पर से फलित होती है फिर भी यहाँ उसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यदि विषयों को जानता हुआ वीतरागी योगी बन्ध को प्राप्त होता है तो फिर विश्व का ज्ञाता विश्व के सब पदार्थों की खुली-ढकी सारी अवस्थाओं को जानने वाला, केवली भगवान् बन्ध को प्राप्त क्यों नहीं होगा? उसे भी तब बन्ध को प्राप्त हो जाना चाहिए। अत: केवल जानने से बन्ध की प्राप्ति नहीं होती।

ज्ञानी जानता है वेदता नहीं, अज्ञानी वेदता है जानता नहीं

ज्ञानिना सकलं द्रव्यं ज्ञायते वेद्यते न च।
अज्ञानिना पुन: सर्वं वेद्यते ज्ञायते न च॥२३॥

अर्थ—ज्ञानी के द्वारा समस्त वस्तु-समूह जाना जाता है किन्तु वेदन नहीं किया जाता और अज्ञानी के द्वारा सकल वस्तुसमूह वेदन किया जाता है किन्तु जाना नहीं जाता।

व्याख्या—पिछले पद्य में जानने मात्र से बन्ध के न होने रूप जिस बात का उल्लेख किया है उसके सिद्धान्त को इस पद्य में दर्शाया है और वह यह है कि ज्ञानी-वीतरागी के द्वारा संपूर्ण द्रव्य समूह जाना तो जाता है किन्तु वेदन नहीं किया जाता और अज्ञानी सरागी के द्वारा समस्त द्रव्य समूह वेदन तो किया जाता है परन्तु जाना नहीं जाता।

ज्ञान और वेदन में स्वरूप भेद

यथावस्तु परिज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते।
राग-द्वेष-मद-क्रोधै: सहितं वेदनं पुन:॥२४॥

अर्थ—जो वस्तु जिस रूप में स्थित है उसी रूप में उसके परिज्ञान को ज्ञानियों के द्वारा 'ज्ञान' कहा गया है और जो परिज्ञान (जानना) राग-द्वेष-मद-क्रोधादि कषायों से युक्त है उसका नाम 'वेदन' है।

व्याख्या—यद्यपि 'ज्ञान' और 'वेदन' दोनों शब्द सामान्यत: जानने रूप एकार्थक हैं परन्तु पूर्व पद्य में ज्ञान और वेदन को शब्द भेद से नहीं किन्तु अर्थभेद से भी भेदरूप उल्लेखित किया है, वह अर्थभेद क्या है उसको बतलाने के लिए ही इस पद्य में दोनों का लक्षण दिया है। ज्ञान का लक्षण

''यथावस्तु-परिज्ञान'' दिया है, जिसका आशय है बिना किसी मिश्रण अथवा मेल-मिलाप के वस्तु का यथावस्थितरूप में शुद्ध (खालिस) जानना 'ज्ञान' है और 'वेदन' उस जानने को कहते हैं जिसके साथ में राग-द्वेष, अहंकार, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सादि विकार भाव मिल जायें। अर्थात् किसी वस्तु के देखते ही इनमें से कोई विकार भाव उत्पन्न हो जाये, उस विकार के साथ जो उसका जानना है। अनुभव है वह 'वेदन' कहलाता है।

अज्ञान में ज्ञान और ज्ञान में अज्ञान-पर्याय नहीं हैं

नाज्ञाने ज्ञान-पर्यायाः ज्ञाने नाज्ञानपर्ययाः।
न लोहे स्वर्ण-पर्याया न स्वर्णे लोह-पर्ययाः ॥२५॥

अर्थ—अज्ञान में ज्ञान की पर्यायें और ज्ञान में अज्ञान की पर्यायें(उसी प्रकार) नहीं होतीं (जिस प्रकार) लोहे में स्वर्ण की पर्यायें और स्वर्ण में लोहे की पर्यायें नहीं होतीं।

व्याख्या—यहाँ 'अज्ञान' शब्द से जिसका ग्रहण है वह धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पाँच अचेतनात्मक द्रव्यों का समूह है, इनमें से किसी भी द्रव्य में ज्ञान की पर्यायें नहीं होतीं, उसी प्रकार जिस प्रकार लोहे में सुवर्ण की पर्यायें नहीं होतीं और 'ज्ञान' शब्द से जिसका ग्रहण है वह है चेतनात्मक 'जीव' द्रव्य, इसमें अजीव द्रव्यों में से किसी की कोई पर्याय नहीं होती। यह एक तात्त्विक सिद्धान्त का निर्देश है और इस बात को सूचित करता है कि ये सब चेतन-अचेतन द्रव्य चाहे जितने काल तक परस्पर में मिलें-जुलें, सम्पर्क-सम्बन्ध अथवा बन्ध को प्राप्त रहें; परन्तु वस्तुतः कोई भी चेतन द्रव्य कभी अचेतन और अचेतन द्रव्य कभी चेतन नहीं होता। इस सिद्धान्त के विपरीत जो कुछ प्रतिभास होता है वह सब स्फटिक में रंग के समान संसर्ग-दोष के कारण मिथ्या है।

अथवा अज्ञान से यहाँ पूर्व पद्य में प्रयुक्त वह वेदन विवक्षित है जो राग-द्वेषादि विकारों से अभिभूत होता है, उसमें शुद्ध ज्ञान की पर्यायें नहीं होती और ज्ञान से वह शुद्ध ज्ञान विवक्षित है जिसमें अशुद्ध ज्ञान (वेदन) की पर्यायें नहीं होतीं।

ज्ञानी कल्मषों का अबन्धक और अज्ञानी बन्धक होता है

ज्ञानीति ज्ञान-पर्यायी कल्मषानामबन्धकः।
अज्ञश्चाज्ञान-पर्यायी तेषां भवति बन्धकः॥२६॥

अर्थ—जो ज्ञानी है वह ज्ञानपर्यायी है-ज्ञानरूप परिणमन को लिए हुए है इसलिए कल्मषों का-कषायादि रूप कर्म का अबन्धक होता है। जो अज्ञानी है वह अज्ञान पर्यायी है अज्ञानरूप परिणमन को लिए हुए है इसलिए कषायादि कर्म का बन्धक होता है।

व्याख्या—उक्त सिद्धान्त के अनुसार जो जीव शुद्ध ज्ञानी है वह ज्ञान पर्यायी होने से कर्म का

बन्धक नहीं होता और जो जीव अज्ञानरूप पुद्गलकर्म के सम्बन्ध से शुद्ध ज्ञानी न रहकर अज्ञानी है वह ज्ञानपर्यायी न होने से कर्म का बन्धक होता है।

कर्मफल को भोगने वाले ज्ञानी-अज्ञानी में अन्तर

दीयमानं सुखं दुःखं कर्मणा पाकमीयुषा।
ज्ञानी वेत्ति परो भुङ्क्ते बन्ध काबन्धकौ ततः॥२७॥

अर्थ—पाक को प्राप्त हुए कर्म के द्वारा जो सुख तथा दुःख दिया जाता है उसे ज्ञानी जानता है और अज्ञानी भोगता है। इसी से अज्ञानी कर्म का बन्धक और ज्ञानी अबन्धक होता है।

व्याख्या—जो जीव अज्ञानी होकर जिस कर्म को बाँधता है वह कर्म परिपक्व होकर उदय काल में सुख या दुःख को देता है, कर्म शुभ है तो सुख फल को और अशुभ है तो दुःख फल को देता है उस कर्म प्रदत्त सुख-दुःख को ज्ञानी तो जानता है परन्तु अज्ञानी उसे भोगता है राग-द्वेषादि रूप परिणत होता है। इसी से एक रागादिकरूप परिणत होने वाला अज्ञानी नये कर्म का बन्धक और दूसरा समता व धारण करने वाला ज्ञानी नये कर्म का बन्ध न करने वाला होता है। उदय में आया हुआ कर्म अपना फल देता ही है, उसे ज्ञानी भी भोगता है और अज्ञानी भी, ऐसा लोकव्यवहार है; फिर यहाँ अज्ञानी को ही भोक्ता क्यों कहा? इसका कारण यह है कि ज्ञानी तो जल में कमल की तरह अलिप्त रहता है इसीलिए निश्चय से भोगता हुआ भी अभोक्ता है और अज्ञानी उस भोग में रागी-द्वेषी अथवा मोही होकर प्रवर्तता है इसलिए वस्तुतः वही भोक्ता है और वही नया कर्म बाँधता है। यही आशय श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार की निम्न गाथा में व्यक्त किया है–

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेण णियदसणा भणिया।
तेसु हि मुहिदो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुहवादि॥

कर्म ग्रहण का तथा सुगति-दुर्गति-गमन का हेतु

[१]कर्म गृह्णाति संसारी कषाय-परिणामतः।
सुगतिं दुर्गतिं याति जीवः कर्म-विपाकतः॥२८॥

अर्थ—संसारी जीव कषायरूप परिणाम से कर्म को ग्रहण करता है बाँधता है (और) कर्म के फल से सुगति तथा दुर्गति को प्राप्त होता है।

व्याख्या—संसारी जीव कर्मों से युक्त होता है, किसी भी कर्म के उदय काल में अथवा पर पदार्थ के संसर्ग में आने से जब वह शुभ या अशुभ कषायरूप परिणमन करता है तो शुभ या अशुभ कर्म को ग्रहण करता है अपने साथ बाँधता है उस कर्म के बन्ध की स्थिति के अनुसार जब फलकाल आता है तो उससे जीव सुगति या दुर्गति को जाता है। शुभ कर्म का फल जो सुखभोग है। वह प्रायः

---

१. जो खलु संसारत्थो जीवो तन्नो दु होदि परिणामो। परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि-सुगदी॥१२८॥ –पञ्चास्तिकाय।

सुगति में और अशुभ कर्म का फल जो दुःखभोग है वह प्रायः दुर्गति में प्राप्त होता है।

संसार–परिभ्रमण का हेतु और निर्वृति का उपाय

[१]सुगतिं दुर्गतिं प्राप्तः स्वीकरोति कलेवरम्।
तत्रेन्द्रियाणि जायेन्ते गृह्णाति[२] विषयांस्ततः॥२९॥
ततो भवन्ति रागाद्यास्तेभ्यो दुरित-संग्रहः।
तस्माद् भ्रमति संसारे ततो दुःखमनेकधा॥३०॥
दुःखतो बिभ्यता त्याज्याः कषायाः ज्ञान-शालिना।
ततो दुरित-विच्छेदस्ततो निर्वृति-सङ्गमः॥३१॥

अर्थ—सुगति तथा दुर्गति को प्राप्त हुआ जीव शरीर ग्रहण करता है, उस शरीर में इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, इन्द्रियद्वार से विषयों को ग्रहण करता है, विषयों के ग्रहण से रागादिक उत्पन्न होते हैं, रागादिक से शुभाशुभरूप कर्म का संचय होता है और उस कर्मसंचय के कारण संसार में भ्रमण करता है, जिससे अनेक प्रकार का दुःख प्राप्त होता है। अतः दुःख से भयभीत ज्ञानशाली जीवात्मा के द्वारा कषायें त्यागने योग्य हैं, उनके त्याग से कर्म का विनाश होता है और कर्म के विनाश से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—पिछले पद्य में कर्मफल से जिस सुगति या दुर्गति को जाने की बात कही गयी है उसको प्राप्त होकर यह जीव नियम से देह धारण करता है, चाहे वह देव, मनुष्य तिर्यंचादि किसी भी प्रकार का क्यों न हो; देह में इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, चाहे एक स्पर्शन इन्द्रिय ही क्यों न हो; इन्द्रियों से उनके विषयों स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा शब्द का ग्रहण होता है; विषयों के ग्रहण से राग-द्वेषादिक उत्पन्न होते हैं और राग-द्वेषादि की उत्पत्ति से पुनः कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्ध के फलस्वरूप पुनः गति, सुगति, देह, इन्द्रिय विषय ग्रहण, राग-द्वेष और पुनः कर्मबन्धादि के रूप में संसार-परिभ्रमण होता है और इस संसार परिभ्रमण से अनेकानेक प्रकार के दुःखों को सहन करना पड़ता है, सबका वर्णन करना अशक्य है। अतः जो दुःखों से डरते हैं, उन ज्ञानीजनों को कर्मबन्ध के कारणीभूत क्रोधादि कषायों तथा हास्यादि नोकषायों का त्याग करना चाहिए। उनको त्यागने से पिछला कर्मबन्धन टूटेगा तथा नये कर्म का बन्धन नहीं होगा और ऐसा होने से मुक्ति का संगम सहज ही प्राप्त होगा, जो स्वात्मोत्थित, स्वाधीन, परनिक्षेप, अतीन्द्रिय, अनन्त, अविनाशी और निर्विकार

---

१. गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायेंते। ते हिं दु विसय-ग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥१२९। जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि। इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥१३०॥–पञ्चास्तिकाय।

२. आ गृह्वंति, व्या गृह्णंति।

उस परम सुख का कारण है जिसकी जोड़ का कोई भी सुख संसार में नहीं पाया जाता। इसी से स्वामी समन्तभद्र ने ऐसे सुखी महात्मा को ''अभवदभवसौख्यवान् भवान्'', वाक्य के द्वारा ''अभव-सौख्यवान्'' बतलाया है।[१]

रागादि से युक्त जीव का परिणाम

सन्ति रागादयो यस्य सचित्ताचित्त-वस्तुषु।
प्रशस्तो वाप्रशस्तो वा परिणामोऽस्य जायते ॥३२॥

अर्थ—जिस जीव के चेतन-अचेतन वस्तुओं में रागादिक होते हैं उसके प्रशस्त (शुभ) या अप्रशस्त (अशुभ) परिणाम उत्पन्न होता है।

व्याख्या—जिन राग-द्वेषादि को पहले बन्ध का कारण बतला आये हैं, उनसे पुण्य-पाप के बन्ध की बात को स्पष्ट करते हुए यहाँ इतना ही बतलाया है कि जिस जीव के भी चेतन अचेतन पदार्थों में रागादिक विद्यमान हैं उसका परिणाम प्रशस्त या अप्रशस्त रूप जरूर होता है।

कौन परिणाम पुण्य, कौन पाप, दोनों की स्थिति

प्रशस्तो भण्यते तत्र पुण्यं पापं पुनः परः।
द्वयं पौद्गलिकं मूर्तं सुख-दुःख-वितारकम् ॥३३॥

अर्थ—उन दो प्रकार के परिणामों में प्रशस्त परिणाम को 'पुण्य' और अप्रशस्त परिणाम को 'पाप' कहा जाता है, दोनों पुण्य-पापरूप परिणाम पौद्गलिक हैं, मूर्तिक हैं और (क्रमशः) सांसारिक सुख-दुःख के दाता हैं।

व्याख्या—यहाँ प्रशस्त और अप्रशस्त-परिणामों के अलग-अलग नामों का उल्लेख है– प्रशस्त परिणामों को 'पुण्य' और अप्रशस्त परिणाम (भाव) को 'पाप' बतलाया है; क्योंकि ये दोनों क्रमशः पुण्य-पाप बन्ध के कारण हैं। कारण में यहाँ कार्य का उपचार किया गया है और इससे दोनों को पौद्गलिक, मूर्तिक तथा यथाक्रम सुख-दुःख के प्रदाता लिखा है। पुण्य-पाप का ''सुख-दुःख-वितारकम्'' विशेषण अपना खास महत्त्व रखता है और इस बात को सूचित करता है कि जो सुख-दुःख वितरण का कारण होता है वह सुख-दुःख कार्य के पूर्वक्षण में विद्यमान रहता है, तभी वह उपादान कारण के रूप में कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है; अन्यथा प्रशस्त या अप्रशस्त परिणाम तो उत्पन्न होकर नष्ट हो गया, कार्योत्पत्ति के समय वह विद्यमान नहीं है तब उस परिणाम से सुख-दुःख कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है? नहीं हो सकता। सुख-दुःख के प्रदाता वे पुण्य-पापरूप द्रव्यकर्म होते हैं जो उक्त परिणामों के निमित्त से उत्पन्न होकर स्थितिबन्ध के द्वारा फलदान के समय तक जीव के साथ रहते हैं और तभी परिणामों का फल-कार्य सम्पन्न होता है।

१. देखो, स्वयम्भूस्तोत्र का मुनिसुव्रत-स्तोत्र।

पुण्य-पाप फल को भोगते हुए जीव की स्थिति

मूर्तो[१] भवति भुञ्जानः सुख-दुःखफलं तयोः।
मूर्तकर्मफलं मूर्तं नामूर्तेन हि भुज्यते ॥३४॥

अर्थ—उन दोनों पुण्य-पापरूप परिणामों के सुख-दुःख फल को भोगता हुआ यह जीव मूर्तिक होता है; क्योंकि मूर्तिक कर्म का फल मूर्तिक होता है और वह अमूर्तिक द्वारा नहीं भोगा जाता।

व्याख्या—पुण्य तथा पाप दोनों द्रव्यकर्म पौद्गलिक-मूर्तिक हैं, उनके दिये हुए सुख- दुःख फल को, जो कि मूर्तिकजन्य होने से मूर्तिक होता है, अमूर्तिक आत्मा कैसे भोगता है? यह एक प्रश्न है, जिसका उत्तर इतना ही है कि पुण्य-पाप फल को भोगता हुआ जीव मूर्तिक होता है। कर्म-फल को भोगने वाले सब जीव संसारी होते हैं और संसारी जीव अनादि कर्म-सम्बन्ध के कारण मूर्तिक कहे जाते हैं।

पुण्य-पाप के वश अमूर्त भी मूर्त हो जाता है

मूर्तो[१] भवत्यमूर्तोऽपि पुण्यपापवशीकृतः।
यदा विमुच्यते ताभ्याममूर्तोऽस्ति तदा पुनः॥३५॥

अर्थ—पुण्य-पाप के वशीभूत हुआ अमूर्तिक जीव भी मूर्तिक हो जाता है और जब उन पुण्य-पाप दोनों से छूट जाता है तब अमूर्तिक रह जाता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में अमूर्तिक जीव के मूर्तिक होने की जो बात कही गयी है उसी को इस पद्य में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मूर्तिक पुण्यपाप के वश में-बन्धन में पड़ा हुआ जीव वस्तुतः अमूर्तिक होते हुए भी मूर्तिक होता है और जब उन दोनों के बन्धन से छूट जाता है तब स्वरूप में स्थित हुआ स्वयं अमूर्तिक हो जाता है। इससे जीव का संसारावस्थारूप जितना भी विभाव परिणमन है वह सब उसे मूर्तिक बनाता है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

विकारं नीयमानोऽपि कर्मभिः सविकारिभिः।
मेघैरिव नभो याति स्वस्वभावं तदत्यये॥३६॥

अर्थ—विकारी कर्म के द्वारा विकार को प्राप्त हुआ भी यह जीव उस विकार के नाश होने पर उसी प्रकार अपने स्वभाव को प्राप्त होता है जिस प्रकार कि मेघों से विकार को प्राप्त हुआ आकाश उनके विघटित हो जाने पर अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त होता है।

---

१. व्या मूर्ती।

व्याख्या—यहाँ पिछली बात को उदाहरण द्वारा और स्पष्ट किया गया है लिखा है कि जिस प्रकार मेघों से आकाश विकार को प्राप्त हो जाता है और मेघों के विघट जाने पर फिर अपने स्वभाव को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार यह जीव भी विकारी कर्म जो पुण्य-पाप हैं उनके कारण विकार को, विभाव को प्राप्त होता हुआ भी अमूर्तिक से मूर्तिक बनाता हुआ भी उन कर्मों के दूर हो जाने पर अपने स्वभाव में स्थित हो जाता है।

पुण्य-बन्ध के कारण

अर्हदादौ[1] परा भक्तिः कारुण्यं सर्वजन्तुषु।
पावने चरणे रागः पुण्यबन्धनिबन्धनम् ॥३७॥

अर्थ—अर्हन्तादिक में उत्कृष्ट भक्ति, सर्व प्राणियों में करुणाभाव और पवित्र चरित्र के अनुष्ठान में राग (यह सब) पुण्य बन्ध का कारण है।

व्याख्या—यहाँ साररूप में पुण्य-बन्ध के कारणों का निर्देश करते हुए उन्हें मुख्यतः तीन प्रकार का बतलाया है। पहला अर्हन्तादि की ऊँची भक्ति, दूसरा सब प्राणियों के प्रति करुणाभाव (दया परिणाम अथवा हिंसाभाव का अभाव) और तीसरा पवित्र चारित्र के पालन में अनुराग। अर्हन्त के अनन्तर प्रयुक्त 'आदि' शब्द प्रधानतः सिद्धों का और गौणतः उन आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठियों का वाचक है जो भावलिंगी हों, द्रव्यलिंगी अथवा भवाभिनन्दी न हों और अपने-अपने पद के सब गुणों में यथार्थतः परिपूर्ण हों। भक्ति का 'परा' विशेषण ऊँचे अथवा उत्कृष्ट अर्थ का वाचक है और इस बात का सूचक है कि यहाँ ऊँचे दर्जे के पुण्य-बन्ध के कारणों का निर्देश है और इसीलिए दूसरे दो कारणों को भी ऊँचे दर्जे के ही समझना चाहिए। अन्यथा पुण्यबन्ध तो शुभ परिणामों से होता है, चाहे वे ऊँचे दर्जे के हों या उससे कम दर्जे के। ऊँचे दर्जे के शुभ परिणामों से ऊँचे दर्जे का और मध्यम तथा जघन्य दर्जे के शुभ परिणामों से मध्यम तथा जघन्य दर्जे का पुण्यबन्ध होता है। जिस पुण्य से अर्हत्पद अथवा त्रैलोक्य का अधिपतित्व प्राप्त होता है वह 'सर्वातिशायि' अथवा 'सर्वोत्कृष्ट' पुण्य कहलाता है।[2]

जिस पुण्य-बन्ध कारक पवित्र चारित्र का यहाँ उल्लेख है वह 'केवलि जिन-प्रज्ञप्त धर्म' है जिसे 'चत्तारि मंगलं' पाठ में मंगल, लोकोत्तम तथा शरणभूत बतलाया है। उसका लक्षण है 'अशुभ से निवृत्ति, शुभ में प्रवृत्ति' और वह पंचव्रत, पंचसमिति तथा तीन गुप्तिरूप त्रयोदश प्रकार का है जैसा कि निम्न सिद्धान्त गाथा से प्रकट है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूपं ववहारणया दु जिणभणियं॥

---

१. मु आर्हदादौ। २. पुण्णफला अरहंता (प्रवचनसार), 'सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्' (श्लोकवार्तिक)।

यह व्यवहारनय की दृष्टि को लिए हुए सरागचारित्र है, निश्चयनय की दृष्टि से जो स्वरूपाचरण रूप चारित्र होता है वह बन्ध का कारण नहीं है।

पाप-बन्ध के कारण

निन्दकत्वं प्रतीछये (ज्ये) षु[1] नैर्घृण्यं सर्वजन्तुषु।
निन्दिते चरणे रागः पाप-बन्ध-विधायकः॥३८॥

अर्थ—पूज्यों में निन्दा का भाव, सर्वप्राणियों के प्रति निर्दयता और दूषित चारित्र के अनुष्ठान में राग (यह सब) पाप–बन्ध का विधाता है।

व्याख्या—यहाँ साररूप में पाप–बन्ध के कारणों का उल्लेख करते हुए उन्हें भी तीन प्रकार का बतलाया है एक इष्टों–पूज्यों के प्रति निन्दा का भाव, दूसरा सब प्राणियों पर निर्दयता–हिंसा का भाव और तीसरा निन्दित चारित्र में अनुराग। निन्दित चारित्र का अभिप्राय प्रायः उस चारित्र से है जो हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परपदार्थों में गाढ़ ममत्व के रूप में जाना–पहचाना जाता है।

पुण्य-पाप में भेद—दृष्टि

सुखासुख-विधानेन[2] विशेषः पुण्य-पापयोः।
नित्य-सौख्यमपश्यद्भिर्मन्यते मुग्धबुद्धिभिः॥३९॥

अर्थ—जिन्हें शाश्वत सुख का दर्शन नहीं होता उन मूढ़–बुद्धियों के द्वारा पुण्य–पाप में भेद सुख–दुःख के विधानरूप से माना जाता है सांसारिक सुख के विधायक को 'पुण्य' और दुःख के विधायक को 'पाप' कहा जाता है।

व्याख्या—पुण्य और पाप के भेद को स्पष्ट करते हुए यहाँ बतलाया गया है कि जो पुण्य को सुख–विधायक और पाप को दुःख विधायक मानकर दोनों में भेद करते हैं वे स्वात्मोत्थित स्वाधीन शाश्वत सुख को न जानने, न देखने वाले मूढ़बुद्धि हैं। असली सुख को न समझकर उन्होंने नकली सुख को जो वस्तुतः दुःखरूप ही है, सुख मान लिया है।

पुण्य-पाप में अभेद—दृष्टि

पश्यन्तो जन्मकान्तारे प्रवेशं पुण्य-पापतः।
विशेषं प्रतिपद्यन्ते न तयोः शुद्धबुद्धयः॥४०॥

अर्थ—पुण्य–पाप के कारण संसार–वन में प्रवेश होता है, यह देखते हुए जो शुद्ध–बुद्धि हैं वे पुण्य–पाप में भेद नहीं करते हैं दोनों को संसार वन में भ्रमाने की दृष्टि से समान समझते हैं।

व्याख्या—जो शुद्ध बुद्धि सम्यग्दृष्टि हैं वे यह देखकर कि पुण्य और पाप दोनों ही जीव को

---

१. आ टिप्पण में 'पूज्येषु'। २. मु सुखदुःखविधानेन।

संसार वन में प्रवेश कराकर उसे इधर-उधर भटकाकर दु:खित करने वाले हैं, दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं मानते दोनों को ही सोने-लोहे की बेड़ी के समान पराधीन कारक बन्धन समझते हैं। भले ही पुण्य से कुछ सांसारिक सुख मिले; परन्तु उस सुख के पराधीनतामय स्वरूप और उसकी क्षणभंगुरतादि को देखते हुए उसे वास्तविक सुख नहीं कहा जा सकता।

निर्वृति का पात्र योगी

**विषय-सुखतो व्यावृत्य[1] स्व-स्वरूपमवस्थितस्
त्यजति धिषणां धर्माधर्म-प्रबन्ध-निबन्धिनीम्[2]।
जनन-गहने दु:खव्याघ्रे प्रवेशपटीयसीं
कलिल-विकलं लब्ध्वात्मानं स गच्छति निर्वृतिम्॥४१॥**

इति श्रीमदमितगति-नि:संग-योगिराजविरचिते योगसारप्राभृते बन्धाधिकार:॥४॥

अर्थ—जो (योगी) विषय-सुख से निवृत्त होकर अपने आत्मस्वरूप में अवस्थित होता है और धर्माधर्मरूप पुण्य-पाप के बन्ध की कारणीभूत उस बुद्धि का त्याग करता है जो दु:ख-व्याघ्र से व्याप्त गहन संसार वन में प्रवेश कराने वाली है, वह कर्मरहित (विविक्त) आत्मा को पाकर मुक्ति को प्राप्त होता है।

व्याख्या—यह बन्धाधिकार का उपसंहार-पद्य है। इसमें उस बुद्धि का जिसका अधिकार में कुछ विस्तार से निर्देश है संक्षेपत: उल्लेख है और उसे पुण्य-पाप का बन्ध कराने वाली तथा दु:खरूप व्याघ्रसमूह से व्याप्त संसार गहन वन में प्रवेश कराने वाली लिखा है। इस बुद्धि को वही योगी त्यागने में समर्थ होता है जो इन्द्रियविषयों के सुख को वास्तविक सुख न मानता हुआ उससे विरक्त एवं निवृत्त होकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित होता है और जो आत्मस्वरूप में स्थित होता है वही कर्मकलंक से रहित शुद्धात्मत्व को प्राप्त होकर मुक्ति को प्राप्त होता है बन्धन से सर्वथा छूट जाता है।

इस पद्य में प्रयुक्त हुआ 'धर्म' शब्द पुण्य का 'अधर्म' शब्द पाप का और 'कलिल' शब्द कर्ममल का वाचक है।

इस प्रकार श्री अमितगति-नि:संगयोगिराज-विरचित योगसारप्राभृत में बन्धाधिकार नाम का चौथा अधिकार समाप्त हुआ॥४॥

---

१. आ व्यावृत्य यो। २. व्या धर्माधर्मप्रबन्धनीं।

५

संवराधिकार

संवर का लक्षण और उसके दो भेद

कल्मषागमनद्वार-निरोधः संवरो मतः।
भाव-द्रव्यविभेदेन द्विविधः कृतसंवरैः ॥१॥

अर्थ—जो कर्म का संवर कर चुके हैं उनके द्वारा कल्मषों के–कषायादि कर्ममलों के आगमन द्वारों का निरोध (रोकना) 'संवर' माना गया है और वह भाव द्रव्य के भेद से दो प्रकार का कहा गया है एक भावसंवर, दूसरा द्रव्यसंवर।

व्याख्या—संवराधिकार का प्रारम्भ करते हुए यहाँ सबसे पहले संवर तत्त्व का लक्षण दिया है और फिर उसके द्रव्यसंवर तथा भावसंवर ऐसे दो भेद किये गये हैं। 'कल्मषों के आगमन द्वारों का निरोध' यह संवर का लक्षण है। इसमें 'कल्मष' शब्द कषायादि सारे कर्म मलों का वाचक है और 'आगमनद्वार' शब्द आत्मा में कर्म-मलों के प्रवेश के लिए हेतुभूत जो मन-वचन-काय का व्यापार रूप आस्रव है उसका द्योतक है। इसी से मोक्षशास्त्र में सूत्ररूप से 'आस्रवनिरोधः संवरः' इतना ही संवर का लक्षण दिया है।

भाव तथा द्रव्य—संवर का स्वरूप

रोधस्तत्र कषायाणां कथ्यते भावसंवरः।
दुरितास्रवविच्छेदस्तद्रोधे द्रव्यसंवरः॥२॥

अर्थ—संवर के उक्त भेद-कल्पना में कषायों का निरोध 'भावसंवर' कहलाता है और कषायों के निरोध पर जो ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म के आस्रव (आगमन) का विच्छेद होता है वह 'द्रव्यसंवर' कहा जाता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में संवर के जिन दो भेदों का नामोल्लेख किया गया है। इस पद्य में उनका स्वरूप दिया गया है। क्रोधादिरूप कषायों के निरोध को 'भावसंवर' बतलाया है और कषायों का निरोध (भावसंवर) होने पर जो पौद्गलिक कर्मों का आत्मप्रवेशरूप आस्रव रुकता है उसे 'द्रव्यसंवर' घोषित किया है।

कषाय और द्रव्यकर्म दोनों के अभाव से पूर्ण शुद्धि

कषायेभ्यो यतः कर्म कषायाः सन्ति कर्मतः।
ततो द्वितयविच्छेदे शुद्धिः संपद्यते परा ॥३॥

अर्थ—चूँकि कषायों से कर्म और कर्म से कषाय होती हैं अतः दोनों का विनाश होने पर (आत्मा में) परम शुद्धि सम्पन्न होती है।

व्याख्या—यहाँ आत्मा में पराशुद्धि के विधान की व्यवस्था करते हुए उसके विरोधी दो कारणों को नष्ट करने की बात कही गयी है, एक कषाय भावों की और दूसरी द्रव्य कर्मों की; क्योंकि एक के निमित्त से दूसरे का उत्पाद होता है। जब दोनों ही नहीं रहेंगे तभी आत्मा में पूर्ण शुद्धि बन सकेगी।

कषाय-त्याग की उपयोगिता का सहेतुक निर्देश

कषायाकुलितो जीवः परद्रव्ये प्रवर्तते।
परद्रव्यप्रवृत्तस्य स्वात्मबोधः प्रहीयते ॥४॥
प्रहीण-स्वात्म-बोधस्य मिथ्यात्वं वर्धते यतः।
कारणं कर्मबन्धस्य कषायस्त्यज्यते ततः ॥५॥

अर्थ—कषाय से आकुलित हुआ जीव परद्रव्य में प्रवृत्त होता है, जो पर-द्रव्य में प्रवृत्त होता है उसका स्वात्मज्ञान क्षीण होता है, जिसका स्वात्मज्ञान क्षीण होता है उसके चूँकि मिथ्यात्व बढ़ जाता है, जो कि कर्मबन्ध का कारण है, इसी से कषाय को त्यागा जाता है।

व्याख्या—इन दोनों पद्यों में कषायों के त्याग की उपयोगिता का सहेतुक निर्देश किया है बतलाया है कि कषायें जीव को आकुलित–बेचैन और परेशान करती हैं, कषायों से आकुलित हुआ जीव परद्रव्यों में प्रवृत्त होता है, जो जीव परद्रव्यों में विशेषरूप से रत रहता है उसका आत्मज्ञान क्षीण हो जाता है और जिसका स्वात्मज्ञान क्षीण हो जाता है उसका मिथ्यात्वरूप दृष्टि-विकार बढ़ जाता है, जो कि कर्मबन्धन का प्रधान कारण है अतः कषाय-भाव अनेक दृष्टियों से त्याग किये जाने के योग्य है।

कषाय-क्षपण में समर्थ योगी

निष्कषायो निरारम्भः स्वान्य-द्रव्य-विवेचकः।
धर्माधर्म-निराकांक्षो लोकाचार-निरुत्सुकः ॥६॥
विशुद्धदर्शनज्ञानचारित्रमयमुज्ज्वलम् ।
यो ध्यायत्यात्मनात्मानं कषायं क्षपयत्यसौ ॥७॥

अर्थ—जो (योगी) कषायहीन है, आरम्भ रहित है, स्व–परद्रव्य के विवेक को लिए हुए है, पुण्यपापरूप धर्म-अधर्म की आकांक्षा नहीं रखता, लोकाचार के विषय में निरुत्सुक है और विशुद्ध दर्शनज्ञानचारित्रमय निर्मल आत्मा को आत्मा द्वारा ध्याता है वह कषाय को क्षपाता–विनष्ट करता

है।

व्याख्या—कौन योगी कषाय का क्षपण करने में समर्थ होता है? यह एक प्रश्न है जिसके समाधानार्थ ही इन दोनों पद्यों का अवतार हुआ जान पड़ता है। जो कषाय के उदय आने पर कषायरूप परिणत नहीं होता अथवा बहुत मन्द कषायी है, सब प्रकार के आरम्भों सावद्यकर्मों से रहित है, स्व-पर विवेक से युक्त है, जिसे पुण्य-पाप दोनों में से किसी की भी इच्छा नहीं, ऐसा योगी जब निर्मल ज्ञान-दर्शनरूप उज्ज्वल आत्मा का आत्मा के द्वारा ध्यान करता है तो वह कषाय की क्षपणा करने अथवा उसे मूल से विनष्ट करने में समर्थ होता है। फलतः जो योगी इन गुणों से रहित है अथवा इस योग्याचार के विपरीत आचरण करता है वह कषाय की क्षपणा में समर्थ नहीं हो सकता और इसलिए उसके संवर नहीं बनता, वह निरन्तर कर्मास्रवों के भीतर डूबा रहता है और इसलिए ग्रन्थकार के शब्दों में उसका उत्तार-उद्धार होने में नहीं आता[१]।

यहाँ छठे पद्य में प्रयुक्त धर्म-अधर्म शब्द पुण्य-पाप के वाचक हैं और 'लोकाचार' शब्द लौकिक जनोचित (योगीजनों के अयोग्य) प्रवृत्तियों का द्योतक है।

मूर्त पुद्गलों में राग-द्वेष करने वाले मूढ़बुद्धि

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-युक्तैः शुभाशुभैः।
चेतनाचेतनैर्मूर्तैरमूर्तः[२] 'पुद्गलैरयम्॥८॥
शक्यो नेतुं सुखं दुःखं सम्बन्धाभावतः कथम्।
रागद्वेषौ यतस्तत्र क्रियेते मूढ़मानसैः॥९॥

अर्थ—शुभ तथा अशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द से युक्त, सचेतन या अचेतन मूर्तिक पुद्गलों के द्वारा यह अमूर्तिक आत्मा कैसे सुख-दुःख को प्राप्त किया जा सकता है? क्योंकि मूर्तिक-अमूर्तिक में परस्पर सम्बन्ध का अभाव है। अतः वे मूढ़बुद्धि हैं जिनके द्वारा पुद्गलों में राग-द्वेष किये जाते हैं।

व्याख्या—यहाँ ९ वें पद्य में जिस सम्बन्ध के अभाव का उल्लेख है वह तादात्म्य सम्बन्ध है, जिसे एक का दूसरे से मिलकर तद्रूप हो जाना कहते हैं। अमूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक पुद्गलों का यह सम्बन्ध कभी नहीं बनता। ऐसी स्थिति में जो पुद्गल अच्छे या बुरे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श तथा शब्द को लिए हुए हों, जीव सहित हों या जीव रहित हों वे अमूर्तिक आत्मा को सुख या दुःख कैसे पहुँचा सकते हैं? नहीं पहुँचा सकते। अतः उन पुद्गलों में जो राग-द्वेष करते हैं उन्हें बुद्धिमान कैसे कहा जा सकता है? वे तो दृष्टि विकार के कारण वस्तु तत्त्व को ठीक न समझने वाले मूढ़बुद्धि हैं।

---

१. कर्मास्रव-निमग्नस्य नोत्तारो जायते ततः॥३-४॥ २. मु रमूर्तैः।

किसी में रोष-तोष न करने की सहेतुक प्रेरणा

निग्रहानुग्रहौ कर्तुं कोऽपि शक्तोऽस्ति नात्मनः।
रोष-तोषौ न कुत्रापि कर्तव्याविति तात्त्विकैः॥१०॥

अर्थ—आत्मा का निग्रह तथा अनुग्रह करने में कोई भी समर्थ नहीं है अतः तत्त्वज्ञानियों के द्वारा कहीं भी—किसी भी पर पदार्थों में रोष या तोष नहीं किया जाना चाहिए।

व्याख्या—वास्तव में यदि देखा जाये तो कोई भी पुद्‌गल अथवा परद्रव्य (सम्बन्धाभाव के कारण) आत्मा का उपकार या अपकार करने में समर्थ नहीं है, इसलिए जो तत्त्वज्ञानी हैं वे उपकार या अपकार के होने पर किसी भी परद्रव्य में राग-द्वेष नहीं करते अथवा उन्हें नहीं करना चाहिए। राग-द्वेष के न करने से उनके आत्मा में कर्मों का आना रुकेगा; संवर बनेगा और इस तरह आत्मा की शुद्धि सधेगी।

उपकार-अपकार बनने पर किसमें राग-द्वेष किया जाये

परस्याचेतनं गात्रं दृश्यते न तु चेतनः।
उपकारेऽपकारे क्व रज्यते क्व विरज्यते ॥११॥

अर्थ—दूसरे का अचेतन शरीर तो दिखाई देता है किन्तु चेतन आत्मा दिखाई नहीं पड़ता (अतः) उपकार-अपकार के होने पर किसमें राग किया जाता है तथा किसमें द्वेष?

व्याख्या—पर का चेतन आत्मा जो दिखाई नहीं देता वह तो राग-द्वेष का पात्र नहीं और जो शरीर दिखाई देता है वह (तुम्हारे) राग-विराग को कुछ समझता नहीं, अतः उपकार-अपकार के बनने पर किसी में राग-द्वेष करना व्यर्थ है।

शरीर का निग्रहानुग्रह करने वालों में राग-द्वेष कैसा?

शत्रवः पितरौ दाराः स्वजना भ्रातरोऽङ्गजाः।
निगृह्णन्त्यनुगृह्णन्ति शरीरं, चेतनं न मे ॥१२॥
मत्तश्च तत्त्वतो भिन्नं चेतनात्तदचेतनम्।
द्वेषरागौ ततः कर्तुं युक्तौ तेषु कथं मम ॥१३॥

अर्थ—शत्रु, माता-पिता, स्त्रियाँ, भाई, पुत्र और स्वजन (ये सब) मेरे शरीर के प्रति निग्रह-अनुग्रह करते हैं, मेरे चेतनात्मा के प्रति नहीं। मुझ चेतन आत्मा से यह अचेतन शरीर भिन्न है। अतः उन शत्रुओं में द्वेष और स्वजनादिक में राग करना मेरा कैसे उचित हो सकता है जो मेरे आत्मा का कोई निग्रह तथा अनुग्रह नहीं करते।

व्याख्या—यहाँ सुबुद्ध आत्मा राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए यह भावना करता है कि जितने भी शत्रु, मित्र तथा सगे सम्बन्धी हैं वे सब जो कुछ भी निग्रह-अनुग्रह अथवा उपकार-अपकार करते हैं वे शरीर का करते हैं, मेरे चेतनात्मा का नहीं; और शरीर, जो कि अचेतन है वह मुझ चेतनात्मा से वस्तुतः भिन्न है, ऐसी स्थिति में उन शत्रुओं के प्रति द्वेष और मित्रों तथा सगे सम्बन्धियों के प्रति राग करना मेरा कैसे उचित हो सकता है? नहीं हो सकता।

अदृश्य आत्माओं का निग्रहानुग्रह कैसे?

पश्याम्यचेतनं गात्रं यतो न पुनरात्मनः।
निग्रहानुग्रहौ तेषां ततोऽहं विदधे कथम्॥१४॥

अर्थ—चूँकि मैं उन शत्रु-पितरादि के अचेतन शरीर-समूह को देखता हूँ उनकी आत्माओं को नहीं देख पाता, इसलिए उनका निग्रह-अनुग्रह मैं कैसे करूँ? उनके शरीर के निग्रह-अनुग्रह से तो उनका निग्रह-अनुग्रह नहीं बनता।

व्याख्या—यहाँ भी सुबुद्ध आत्मा की रागद्वेष की निवृत्ति के लिए वही भावना चालू है। यहाँ वह अपने विषय में सोचता है कि मैं तो शत्रु-मित्रादि के अचेतन शरीर को ही देख पाता हूँ उनके आत्मा का मुझे कभी दर्शन नहीं होता, तब मैं उनका निग्रह-अनुग्रह अथवा उपकार अपकार कैसे कर सकता हूँ? नहीं कर सकता। अतः उनके निग्रह-अनुग्रह का विचार मेरा कोरा अहंकार है।

शरीर को आत्मा का निग्रहानुग्राहक मानना व्यर्थ

स्वदेहोऽपि न मे यस्य निग्रहानुग्रहे क्षमः।
निग्रहानुग्रहौ तस्य कुर्वन्त्यन्ये वृथामतिः॥१५॥

अर्थ—मेरा स्वशरीर भी जिसके (मेरे आत्मा के) निग्रह-अनुग्रह में समर्थ नहीं है उसका निग्रह-अनुग्रह दूसरे करते हैं ऐसा मानना मेरा व्यर्थ है।

व्याख्या—यहाँ योगी सोचता है कि जब मेरा शरीर भी मेरा निग्रह-अनुग्रह करने में समर्थ नहीं है तब मेरा निग्रह-अनुग्रह कोई दूसरा करता है ऐसा मानना व्यर्थ है।

किसी के गुणों को करने-हरने में कोई समर्थ नहीं

शक्यन्ते न गुणाः कर्तुं हर्तुमन्येन मे यतः।
कर्तुं हर्तुं परस्यापि न[1] पार्यन्ते गुणा मया॥१६॥
मयान्यस्य ममान्येन क्रियतेऽक्रियते गुणः।
मिथ्यैषा कल्पना सर्वा क्रियते मोहिभिस्ततः॥१७॥

१. आ 'न' नहीं।

अर्थ—चूँकि पर के द्वारा मेरे गुण किये या हरे नहीं जा सकते और न मेरे द्वारा पर के गुण किये या हरे जा सकते हैं अतः पर के द्वारा मेरा और मेरे द्वारा पर का कोई गुण–उपकार किया जाता है या नहीं किया जाता यह सब कल्पना मिथ्या है, जो कि मोह से अभिभूत प्राणियों के द्वारा की जाती है।

व्याख्या—यहाँ योगी तात्त्विकी अथवा निश्चय दृष्टि से सोचता है कि दूसरा कोई भी मेरे गुणों को करने या हरने में समर्थ नहीं है और न मैं किसी दूसरे के गुणों को करने या हरने में समर्थ हूँ; तब मैंने दूसरे का या दूसरे ने मेरा कोई गुण किया है या नहीं किया है, यह सब विकल्प बुद्धि मिथ्या है और इसे वे ही जीव करते हैं जो दर्शनमोह के उदयवश दृष्टि विकार को लिए हुए हैं अथवा यों कहिए सम्यग्दृष्टि न होकर मिथ्यादृष्टि हैं।

ज्ञानादिक गुणों का किसी के द्वारा हरण-सृजन नहीं

ज्ञान-दृष्टि-चरित्राणि ह्रियन्ते नाक्षगोचरैः।
क्रियन्ते न च गुर्वाद्यैः सेव्यमानैरनारतम्॥१८॥
उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिनः।
ततः स्वयं स दाता न, परतो न कदाचन॥१९॥

अर्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र (गुण) इन्द्रिय विषयों के द्वारा हरे नहीं जाते और न निरन्तर सेवा किये गये गुरुओं आदि के द्वारा सृजन (उत्पन्न) किये जाते हैं; परिणामी जीव के (पर्याय दृष्टि से) ये स्वयं उत्पन्न होते तथा विनाश को प्राप्त होते हैं, और इसलिए जीव स्वयं इनका दाता (कर्ता–हर्ता) नहीं और न पर के कारण इनका कदाचित् उत्पाद–व्यय होता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में आत्मा के जिन गुणों की सूचना है उन्हें यहाँ ज्ञान–दर्शन–चारित्र के रूप में उल्लेखित किया है, जिन्हें सम्यक् विशेषण से विशिष्ट समझना चाहिए; तभी वे गुणों की कोटि में आते हैं अन्यथा मिथ्यादर्शनादिक गुण न होकर अवगुण अथवा दोष कहे जाते हैं। इन सम्यग्दर्शनादि गुणों को न तो इन्द्रियों के स्पर्शनादि विषय हरते हैं–इन्द्रिय विषयों के सेवन से उनका नाश नहीं हो जाता और न निरन्तर सेवा किये गये गुरु जनादिक उन्हें उत्पन्न ही करते हैं। जो जीव परिणमनशील हैं, उसके ये गुण पर्याय दृष्टि से उत्पन्न होते तथा विनाश को प्राप्त होते हैं, द्रव्यदृष्टि से नहीं। द्रव्य की अपेक्षा कोई भी वस्तु न कभी उत्पन्न होती और न कभी नाश को ही प्राप्त होती है, उत्पाद और व्यय पर्यायों में–अवस्थाओं में हुआ करता है। ऐसी स्थिति में जीव स्वयं भी इन गुणों का कर्ता–हर्ता नहीं और न कभी पर के कारण इन गुणों का आत्मा में नवोत्पाद अथवा मूलतः विनाश ही होता है।

शरीरादिक व्यवहार से मोह हैं निश्चय से नहीं

शरीरमिन्द्रियं द्रव्यं विषयो विभवो[१] विभु:।
ममेति व्यवहारेण भण्यते न च तत्त्वत:॥२०॥
तत्त्वतो यदि जायन्ते तस्य ते न तदा भिदा।
दृश्यते, दृश्यते चासौ ततस्तस्य न ते मता:॥२१॥

अर्थ—मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियाँ, मेरा द्रव्य, मेरा विषय, मेरी विभूति, मेरा स्वामी यह सब व्यवहार से–व्यवहार नयकी अपेक्षा से कहा जाता है, तत्त्व से नहीं–निश्चयनय की अपेक्षा से नहीं कहा जाता। यदि तत्त्व दृष्टि से ये सब आत्मा के होते हैं ऐसा माना जाये तो आत्मा और शरीरादिक में भेद दिखाई नहीं देना चाहिए, किन्तु भेद प्रत्यक्ष दिखाई देता है इसलिए वे आत्मा के नहीं माने गये।

व्याख्या—शरीर-इन्द्रियों, धनादिक द्रव्यों, इन्द्रिय विषयों, विभव और विभु (स्वामी) को व्यवहारनय की दृष्टि से मेरा कहने में आता है तात्त्विक दृष्टि से नहीं। यदि तात्त्विक दृष्टि से उन्हें आत्मा के माना जाये तो फिर आत्मा से उनका भेद नहीं बनता, परन्तु भेद स्पष्ट नजर आता है इसलिए वे शरीरादिक आत्मा के नहीं और न निश्चय दृष्टि से उन्हें आत्मा के माना गया है।

दोनों नयों से स्व-पर को जानने का फल

विज्ञायेति तयोर्द्रव्यं परं स्वं मन्यते सदा।
आत्म-तत्त्व-रतो योगी[२] विदधाति स संवरम् ॥२२॥

अर्थ—इस प्रकार व्यवहार तथा निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा और शरीरादि दोनों के भेद को जानकर जो योगी सदा स्वद्रव्य को स्व के रूप में और परद्रव्य को पर के रूप में मानता है वह आत्मतत्त्व में लीन हुआ योगी सदा संवर करता है—कर्म के आस्रव को रोकता है।

व्याख्या—यहाँ पिछले कथन का सार खींचते और उसे संवर तत्त्व के साथ संघटित करते हुए यह सूचना की है कि जो पूर्वोक्त प्रकार से निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के द्वारा स्व–पर के भेद को जानकर आत्मतत्त्व में लीन हुआ योगी सदा स्वद्रव्य को अपना और परद्रव्य को पराया मानता है वह शुभाशुभ कर्मों के आस्रव को रोकने वाला संवर का विधाता होता है।

द्रव्य-पर्याय की अपेक्षा कर्म-फल भोग की व्यवस्था

विदधाति [३]परो जीव: किंचित्कर्म शुभाशुभम्।
पर्यायापेक्षया भुङ्क्ते फलं तस्य पुन: पर:॥२३॥

---

१. आ विभयो। २. आ जोगी। ३. आ, ब्या परं।

य एव कुरुते कर्म किंचिज्जीवः शुभाशुभम्।
स एव भजते तस्य द्रव्यार्थापेक्षया फलम्॥२४॥

मनुष्यः कुरुते पुण्यं देवो वेद्यते फलम्।
आत्मा वा कुरुते पुण्यमात्मा वेदयते फलम्॥२५॥

नित्यानित्यात्मके जीवे तत्सर्वमुपपद्यते।
न किंचिद् घटते तत्र नित्येऽनित्ये च सर्वथा॥२६॥

अर्थ—पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से एक जीव कुछ शुभ-अशुभ कर्म करता है और उसका फल दूसरा भोगता है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से जो जीव कुछ शुभ-अशुभ कर्म करता है वही उसका फल भोगता है। जैसे मनुष्य पुण्य कर्म करता है देव उसका फल भोगता है अथवा आत्मा पुण्यकर्म करता है आत्मा ही उसके फल को भोगता है। जीव को कथंचित् नित्य-अनित्य मानने पर उक्त सब कथन ठीक घटित होता है, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने पर कुछ भी घटित नहीं होता।

व्याख्या—इन पद्यों में 'द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से किसी के किये हुए शुभ-अशुभ कर्म के फलका भोक्ता कौन? इस विषय को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि पर्याय की अपेक्षा से तो एक जीव कर्म करता है और दूसरा जीव उसके फल को भोगता है, जैसे मनुष्य जीव ने संयम-तप आदि के द्वारा पुण्योपार्जन किया और देव जीव ने उसके फल को भोगा पर्यायदृष्टि से मनुष्य जीव और देव जीव अलग-अलग हैं। परन्तु द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से जो जीव शुभ या अशुभ कर्म करता है, वही उसके फल को भोगता है, चाहे किसी भी पर्याय में क्यों न हो, जिस जीव ने मनुष्य पर्याय में तप-संयमादि के द्वारा पुण्योपार्जन किया वही मरकर देवगति में गया और वहाँ उसने अपने उस पूर्वकृत पुण्य के फल को भोगा। जीव को द्रव्यदृष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य मानने पर यह सब कुछ ठीक घटित होता है, परन्तु जीव को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने पर यह सब कुछ भी घटित नहीं होता; क्योंकि सर्वथा नित्य में परिणाम, विक्रिया, अवस्था से अवस्थान्तर कुछ भी नहीं बनता। और सर्वथा अनित्य में जब जीव का क्षणभर में मूलतः निरन्वय विनाश हो जाता है तब वह अपने किये कर्म का फल कैसे भोग सकता है? उसके परलोक गमन तथा अन्य शरीर धारणादि ही नहीं बन सकते और भी कितने ही दोष इस सर्वथा अनित्य (क्षणिकैकान्त) की मान्यता में घटित होते हैं, जिनकी जानकारी के लिए स्वामी समन्तभद्र के देवागम और उसकी अष्टशती, अष्टसहस्री आदि टीकाओं को देखना चाहिए।

आत्मा औदयिक भावों के द्वारा कर्म का कर्ता तथा फलभोक्ता

चेतनः कुरुते भुङ्क्ते भावैरौदयिकैरयम्।
न विधत्ते न वा भुङ्क्ते किंचित्कर्म तदत्यये ॥२७॥

अर्थ—यह चेतन आत्मा औदयिक भावों के द्वारा—कर्म के उदय का निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाले परिणामों के सहयोग से कर्म करता है और उसका फल भोगता है। औदयिक भावों का अभाव होने पर वह कोई कर्म नहीं करता और न फल को भोगता है।[१]

व्याख्या—यह चेतन आत्मा किसके द्वारा अचेतन कर्म का कर्ता तथा भोक्ता है। यह एक प्रश्न है, जिसके समाधानार्थ ही इस पद्य का अवतार हुआ जान पड़ता है। पद्य में बतलाया है कि जीव अपने औदयिक भावों के द्वारा—उनके निमित्त से ही कर्म का कर्ता तथा भोक्ता है। औदयिकभावों का अभाव हो जाने पर यह जीव न कोई कर्म करता है और न किसी कर्म के फल को भोगता है। औदयिक भाव मोक्षशास्त्र आदि में मूलतः २१ कहे गये हैं। जिनके नाम हैं—१ नरक गति, २ तिर्यंचगति, ३ मनुष्यगति, ४ देवगति, ५ क्रोधकषाय, ६ मानकषाय, ७ मायाकषाय, ८ लोभकषाय, ९ स्त्रीवेद, १० पुरुषवेद, ११ नपुंसकवेद, १२ मिथ्यादर्शन, १३ अज्ञान, १४ असंयम, १५ असिद्ध, १६ कृष्ण लेश्या, १७ नीललेश्या, १८ कपोत लेश्या, १९ पीतलेश्या, २० पद्मलेश्या, २१ शुक्ललेश्या। नरकगत्यादिरूप गतिनामकर्म के उदय से उत्पन्न नारकादि चार भाव औदयिक होते हैं; क्रोधादि जनक कषाय कर्म के उदय से उत्पन्न क्रोधादिरूप चार भाव भी औदयिक होते हैं; स्त्रीलिंगादि कर्म के उदय से उत्पन्न स्त्रीवेदादि तीन प्रकार के रागभाव भी औदयिक होते हैं। मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से उत्पन्न अतत्त्व श्रद्धानरूप परिणाम मिथ्यादर्शन नाम का औदयिकभाव है; ज्ञानावरण कर्म के उदय से उत्पन्न तत्त्वों के अनवबोधरूप अज्ञान नाम का औदयिकभाव है, चारित्रमोहकर्म के सर्वघाति स्पर्धकों के उदय से उत्पन्न असंयत नाम का औदयिकभाव है; कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा से उत्पन्न असिद्ध नाम का औदयिक भाव है, कषायों के उदय से अनुरंजित जो योग प्रवृत्तिरूप कृष्णादि छह प्रकार की भाव लेश्यायें हैं वे भी औदयिक हैं। इस प्रकार औदयिकभाव २१ प्रकार के हैं[२]।

इन्द्रिय-विषय आत्मा का कुछ नहीं करते

पञ्चाक्षविषयाः किंचिन् नास्य कुर्वन्त्यचेतनाः।
मन्यते स विकल्पेन सुखदा दुःखदा मम॥२८॥

अर्थ—पाँचों इन्द्रियों के विषय, जो कि अचेतन हैं, इस आत्मा का कुछ भी (उपकार या अपकार) नहीं करते। आत्मा विकल्प बुद्धि से (भ्रमवश) उन्हें अपने सुखदाता तथा दुःखदाता मानता

१. गति–कषाय–लिङ्ग–मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध–लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः।–त. सूत्र२–६।
२. देखो, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थसूत्र आदि की टीकाएँ।

है। व्याख्या–स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनके विषय क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द हैं। ये पाँचों विषय चेतना–रहित जड़ हैं, मूर्तिक हैं और चेतनामय अमूर्तिक आत्मा का कुछ भी उपकार या अपकार नहीं करते हैं, फिर भी यह आत्मा विकल्प से–भ्रान्त बुद्धि से इन्हें अपने को सुख का दाता तथा दुःख का दाता मानता है।

द्रव्य के गुण-पर्याय संकल्प बिना इष्टानिष्ट नहीं होते

न द्रव्यगुणपर्यायाः संप्राप्ता बुद्धिगोचरम्।
इष्टानिष्टाय जायेन्ते संकल्पेन विना कृताः॥२८॥

अर्थ–बुद्धिगोचर हुए द्रव्य के गुण–पर्याय बिना संकल्प के किये आत्मा के इष्ट या अनिष्ट रूप नहीं होते संकल्प अथवा भ्रान्त कल्पना के द्वारा ही उन्हें इष्ट या अनिष्ट बनाया जाता है।

व्याख्या–किसी भी परद्रव्य का कोई भी गुण या पर्याय अपने आत्मा के लिए वस्तुतः इष्ट या अनिष्ट नहीं होता, निःसार कल्पना के द्वारा उसे इष्ट या अनिष्ट मान लिया जाता है और इसके कारण यह जीव कष्ट उठाता है। अतः पर पदार्थों में इष्टानिष्ट की कल्पना छोड़ने योग्य है।

निन्दा-स्तुति वचनों से रोष-तोष को प्राप्त होना व्यर्थ

न निन्दा-स्तुति-वाक्यानि श्रूयमाणानि[1] कुर्वते।
संबन्धाभावतः किंचिद् रुष्यते तुष्यते वृथा॥३०॥

अर्थ–सुने गये निन्दा या स्तुतिरूप वाक्य आत्मा का कुछ नहीं करते; क्योंकि वाक्यों के मूर्तिक होने से अमूर्तिक आत्मा के साथ उनके सम्बन्ध का अभाव है। अतः निन्दा–स्तुति वाक्यों को सुनकर वृथा ही रोष–तोष किया जाता है।

व्याख्या–निन्दा तथा स्तुति के जो भी वचन सुनाई पड़ते हैं, वे सब पौद्गलिक तथा मूर्तिक होने से अपने आत्मा के साथ उनका वस्तुतः सम्बन्ध नहीं हो पाता और इसलिए वे अपने आत्मा का उपकार या अपकार नहीं करते तब उन्हें सुनकर रुष्ट होना या सन्तुष्ट होना एक आत्मसाधना करने वाले योगी के लिए व्यर्थ है।

मोह के दोष से बाह्य वस्तु सुख—दुःख की दाता

आत्मनः सकलं बाह्यं शर्माशर्मविधायकम्।
क्रियते मोहदोषेणापरथा न कदाचन ॥३१॥

अर्थ–मोह के दोष से सम्पूर्ण बाह्य पदार्थ समूह को आत्मा के सुख–दुःख का विधाता किया जाता है, अन्यथा मोह के अभाव में कदाचित् भी वैसा नहीं किया जाता।

१. मु श्रूयमाणनि।

व्याख्या—सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों को अपने आत्मा के जो सुख-दुःख दाता कल्पित किया जाता है वह सब मोह का दोष है, मोहकर्म के उदयवश जो दृष्टि विकारादिक उत्पन्न होता है उसी के कारण ऐसी मिथ्या मान्यता बनती है, मोह के अभाव में ऐसा कभी नहीं होता।

वचन—द्वारा वस्तुतः कोई निन्दित या स्तुत नहीं होता

नाञ्जसा वचसा कोऽपि निन्द्यते स्तूयतेऽपि वा।
निन्दितोऽहं स्तुतोऽहं वा मन्यते मोहयोगतः॥३२॥

अर्थ—वास्तव में वचन के द्वारा कोई भी आत्मा निन्दा या स्तुति को प्राप्त नहीं होता। मैं निन्दा किया गया हूँ या स्तुति किया गया हूँ यह (आत्मा) मोह के योग से मानता है।

व्याख्या—वस्तुतः वचन के द्वारा कोई निन्दित या स्तुत नहीं होता; क्योंकि मूर्तिक वचन का अमूर्तिक आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं बनता। ऐसी स्थिति में अमुक ने मेरी निन्दा की, अमुक ने मेरी प्रशंसा की, इस प्रकार की मान्यता केवल मोह से सम्बन्ध रखती है, मोही जीव उस निन्दा-स्तुति का सम्बन्ध यों ही अपने साथ जोड़ लेता है और इस तरह व्यर्थ ही हर्ष-विषाद के चक्कर में पड़कर व्याकुल (परेशान) होता है।

पर-दोष-गुणों के कारण हर्ष-विषाद नहीं बनता

नानन्दो वा विषादो वा परे संक्रान्त्यभावतः।
परदोष-गुणैर्नूनं कदाचिन् न विधीयते ॥३३॥

अर्थ—परद्रव्य के दोष तथा गुणों से आत्मा का कभी आनन्द तथा विषाद नहीं बनता; क्योंकि उन दोष तथा गुणों का आत्मा में संक्रमण का अभाव है, पर के वे दोष या गुण आत्मा में प्रविष्ट नहीं होते।

व्याख्या—पर द्रव्यों के गुण तथा दोष अपने आत्मा में कभी संक्रमण नहीं करते, इसलिए उनके द्वारा वस्तुतः आत्मा के आनन्द तथा विषाद की कोई सृष्टि नहीं बनती। अतः उनसे आत्मा के आनन्द तथा विषाद की उत्पत्ति मानना व्यर्थ है और एकमात्र मोह का परिणाम है।

पर के चिन्तन से इष्ट—अनिष्ट नहीं होता

अयं मेऽनिष्टमिष्टं वा ध्यायतीति वृथा मतिः।
पीड्यते पाल्यते वापि न परः परचिन्तया ॥३४॥

अर्थ—यह मेरा अनिष्ट (अहित) अथवा इष्ट (हित) चिन्तन करता है, यह बुद्धि-विचार निरर्थक है; (क्योंकि) दूसरे की चिन्ता से दूसरा पीड़ित या पालित (रक्षित) नहीं होता।

व्याख्या—२९ वें पद्य में यह बतला आये हैं कि किसी भी पर द्रव्य का कोई भी गुण या पर्याय

अपनी आत्मा के लिए इष्ट या अनिष्टरूप नहीं होता; ऐसी स्थिति में जो यह सोचकर दुःखित होता है कि अमुक मेरा अहित चिन्तन कर रहा है और यह सोचकर आनन्दित होता है कि अमुक मेरे हित की भावना भा रहा है तो ये दोनों ही विचार निरर्थक हैं; क्योंकि कोई भी पर की चिन्ता मात्र से पीड़ा या रक्षा को प्राप्त नहीं होता।

एक दूसरे के विकल्प से वृद्धि—हानि मानने पर आपत्ति

अन्योऽन्यस्य विकल्पेन वर्द्धते[1] हाप्यते यदि।
न सम्पत्तिर्विपत्तिर्वा तदा कस्यापि हीयते ॥३५॥

अर्थ—यदि एक दूसरे के विकल्प से, चिन्तन से, वृद्धि या हानि को प्राप्त होता है तो किसी की भी सम्पत्ति या विपत्ति (कभी) क्षीण नहीं होती।

व्याख्या—यदि पिछले पद्य में निरूपित सिद्धान्त के विरुद्ध यह माना जाये कि पर की चिन्ता से कोई पीड़ित या पालित अथवा वृद्धि-हानि को प्राप्त होता है तो संसार में किसी की भी सम्पत्ति तथा विपत्ति कभी कम नहीं होनी चाहिए; क्योंकि दोनों की वृद्धि-हानि के चिन्तक सज्जन-दुर्जन बराबर पाये जाते हैं, इसी से ऐसा देखने में नहीं आता। प्रत्युत इसके एक के अनिष्ट चिन्तन पर भी दूसरा वृद्धि को और किसी के इष्ट चिन्तन पर भी रातदिन उसके हित की माला जपने पर भी वह हानि को प्राप्त हुआ देखने में आता है, अतः उक्त मान्यता प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है।

वस्तुतः कोई द्रव्य इष्ट—अनिष्ट नहीं

इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा परः।
न द्रव्यं तत्त्वतः किंचिदिष्टानिष्टं हि विद्यते॥३६॥

अर्थ—मोह के कारण जो पदार्थ इष्ट मान लिया जाता है वह अनिष्ट और जिसे अनिष्ट मान लिया जाता है वह इष्ट हो जाता है। वस्तुतः कोई द्रव्य इष्ट या अनिष्ट नहीं है।

व्याख्या—कोई द्रव्य वस्तुतः इष्ट या अनिष्ट नहीं होता है, इस बात को स्पष्ट करते हुए यहाँ पर बतलाया है कि जिसे मोह के वश इष्ट मान लिया जाता है वह पदार्थ कालान्तर में अनिष्ट और जिसे अनिष्ट मान लिया जाता है वह पदार्थ इष्ट होता हुआ देखने में आता है। अतः परद्रव्य को सर्वथा इष्ट या अनिष्ट मानना व्यर्थ है।

पावन रत्नत्रय में जीव का स्वयं प्रवर्तन

रत्नत्रये स्वयं जीवः पावने परिवर्तते।
निसर्गनिर्मलः शङ्खः शुक्लत्वे केन वर्त्यते ॥३७॥

---
१. मु वर्द्धते।

अर्थ—जीव स्वयं पवित्र रत्नत्रय के आराधन में परिवर्तित (प्रवृत्त) होता है। (ठीक है) स्वभाव से निर्मल शंख किसके द्वारा शुक्लता में परिवर्तित किया जाता है? किसी के भी द्वारा नहीं; स्वभाव से ही शुक्लता में परिवर्तित होता है।

व्याख्या—यहाँ जिस पावन रत्नत्रय में जीव के स्वतः प्रवर्तन की बात कही गयी है वह निर्मल दर्शनज्ञानचारित्ररूप जीव का स्वभाव है। स्वभाव में प्रवर्तन के लिए किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं होती विभाव मिटते ही स्वभाव में प्रवृत्ति हो जाती है। जिस मोहरूप परिणाम का पिछले पद्यों में उल्लेख है वह सब जीव का विभाव-परिणमन है, जो संसारावस्था में पर के निमित्त से होता है। पद्य में प्रयुक्त हुआ 'निर्मल' शब्द शुक्लता का वाचक है, जो शंख स्वभाव से शुक्ल है उसे शुक्लता में परिणत करने वाला कोई दूसरा नहीं होता। कर्दम में पड़ा रहने पर भी उसकी शुक्लता कभी नष्ट नहीं होती।

स्वयं आत्मा परद्रव्य को श्रद्धानादि गोचर करता है

स्वयमात्मा परं द्रव्यं श्रद्धत्ते वेत्ति पश्यति।
शङ्ख -चूर्णः किमाश्रित्य धवलीकुरुते परम्॥३८॥

अर्थ—आत्मा स्वयं परद्रव्य को देखता, जानता और श्रद्धान करता है। (ठीक है) शंख का चूर्ण किसका आश्रय लेकर दूसरे को धवल करता है? किसी का भी आश्रय न लेकर स्वयं दूसरे को धवल करता है।

व्याख्या—यह आत्मा स्वयं स्वभाव से पर पदार्थ को देखता, जानता तथा श्रद्धान करता है—उसके इस देखने, जानने आदि में वस्तुतः दूसरे का कोई आश्रय अथवा सहारा नहीं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि शंख का चूर्ण दूसरे को धवल-शुक्ल अथवा निर्मल करने में किसी अन्य का सहारा नहीं लेता।

मोह अपने संग से जीव को मलिन करता है

मोहेन मलिनो जीवः क्रियते निजसंगतः।
स्फटिको रक्त-पुष्पेण रक्ततां नीयते न किम्॥३९॥

अर्थ—जीव मोह के द्वारा अपनी संगति से मलिन किया जाता है। (ठीक है) रक्त पुष्प के योग से क्या स्फटिक रक्तता को प्राप्त नहीं होता? होता ही है।

व्याख्या—यह जीवात्मा अपने निर्मल दर्शनज्ञानचारित्ररूप स्वभाव में जो प्रवृत्त नहीं हो रहा है उसका कारण मोह का संग है। मोह ने अपनी संगति से इस जीव को मलिन कर रखा है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि लाल फूल (रक्त पुष्प) अपने सम्बन्ध से निर्मल-धवल स्फटिक को लाल

बना देता है।

मोह का विलय हो जाने पर स्वरूप की उपलब्धि

निजरूपं पुनर्याति मोहस्य विगमे सति।
उपाध्यभावतो याति स्फटिकः स्वस्वरूपताम् ॥४०॥

अर्थ—मोह के विनष्ट होने पर जीव पुनः अपने निर्मलरूप को प्राप्त होता है (उसी प्रकार जिस प्रकार कि) रक्तपुष्पादिरूप उपाधि का अभाव हो जाने से स्फटिक अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त होता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिस मोह के संग अथवा सम्बन्ध से जीव के मलिन होने की बात कही गयी है, उसी मोह का सम्बन्ध छूट जाने पर यह जीव फिर से अपने स्वरूप उपाधि का अभाव हो जाने पर पुनः अपने स्वच्छ निर्विकार स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। पूर्व पद्य तथा इस पद्य में स्फटिक का दृष्टान्त जीव के निर्विकार और सविकाररूप का अथवा स्वभाव और विभाव का बोध कराने के लिए बड़ा ही सुन्दर एवं तथ्यपूर्ण है।

जो मोह का त्यागी वह अन्य सब द्रव्यों का त्यागी

इत्थं विज्ञाय यो मोहं दुःखबीजं विमुञ्चति।
सोऽन्यद्रव्यपरित्यागी कुरुते कर्म-संवरम्॥४१॥

अर्थ—इस प्रकार मोह को दुःख का बीज जानकर जो (योगी) उसे छोड़ता है वह परद्रव्य का परित्यागी हुआ कर्मों का संवर करता है, कर्मों के आस्रव को रोकता है।

व्याख्या—यहाँ पूर्व कथन का उपसंहार करते हुए, मोह को दुःख का बीज बतलाया है और यह निर्दिष्ट किया है कि जो मोह को दुःख–बीज समझकर छोड़ता है वह परद्रव्यों से अपना सम्बन्ध त्यागता है; क्योंकि वास्तव में मोह ही परद्रव्यों के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है। जो परद्रव्यों का सम्बन्ध त्यागता है वह कर्मों का संवर करता है, अच्छे-बुरे किसी भी प्रकार के कर्मों को अपने आत्मा में प्रवेश होने नहीं देता। निःसन्देह मोह दुःख का बीज है, इसी से मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर, असाता–वेदनीय कर्म अस्तित्व में रहते हुए भी दुःख पहुँचाने में समर्थ नहीं होता, उसे जलकर भस्म हुई रस्सी के समान अपना कार्य करने में असमर्थ बतलाया है।

परद्रव्य में राग-द्वेष-विधाता की तप से शुद्धि नहीं होती

शुभाशुभ - पर - द्रव्य - रागद्वेष - विधायिनः।
न जातु जायते शुद्धिः कुर्वतोऽपि चिरं तपः॥४२॥

अर्थ—शुभ-अशुभरूप परद्रव्य में–परद्रव्य को शुभ–अशुभ मानकर उसमें राग–द्वेष करने

वाले के चिरकाल तक तपश्चरण करने पर भी कभी शुद्धि नहीं होती।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिस मोह तथा परद्रव्य के त्यागने की बात कही गयी है उसे जो नहीं छोड़ता है और अपनी कल्पनानुसार शुभ परद्रव्य में राग और अशुभ परद्रव्य में द्वेष करता है उसकी शुद्धि चिरकाल तक तप करने पर भी नहीं होती। वह तो अपनी राग-द्वेष परिणति के द्वारा प्रतिसमय अपने आत्मा में अशुद्धि का संचय करता रहता है।

कर्म करता और फल भोगता हुआ आत्मा कर्म बाँधता है

कुर्वाणः कर्म चात्मायं भुञ्जानः कर्मणां फलम्।
अष्टधा कर्म बध्नाति कारणं दुःखसन्ततेः॥४३॥

अर्थ—यह आत्मा कर्म करता हुआ और कर्म के फल को भोगता हुआ आठ प्रकार का कर्म बाँधता है, जो कि दुःख सन्तति का-कष्ट परम्परा का कारण है।

व्याख्या—यह आत्मा अपनी उक्त राग-द्वेष परिणति के कारण किसी को इष्ट-अनिष्ट मानकर कर्म करता हुआ और कर्म का फल भोगता हुआ दोनों ही अवस्थाओं में नवीन कर्म का बन्ध करता है, जो ज्ञानावरणादिरूप आठ प्रकार का है और सारी दुःख-परम्परा का मूल कारण हैं।

सारे कर्मफल को पौद्गलिक जानने वाला शुद्धात्मा बनता है

सर्वं पौद्गलिकं वेत्ति कर्मपाकं सदापि यः।
सर्व-कर्म-बहिर्भूतमात्मानं स प्रपद्यते ॥४४॥

अर्थ—जो सारे कर्मविपाक को-कर्म के फल को सदा पौद्गलिक जानता है वह (योगी) संपूर्ण कर्मों से बहिर्भूत आत्मा को प्राप्त होता है, उसे अपने शुद्ध (विविक्त) आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है।

व्याख्या—जो योगी आत्मा के साथ घटित होने वाले सारे कर्मफल को पौद्गलिक और इसलिए आत्मा से वस्तुतः असम्बद्ध समझता है वह अपने आत्मा को सर्वकर्मों से बहिर्भूतरूप में प्राप्त होता है, उसे ही सच्ची स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि की प्राप्ति होती है।

शुद्ध ज्ञाता पर के त्याग-ग्रहण में प्रवृत्त नहीं होता

ज्ञानवांश्चेतनः शुद्धो न गृह्णाति न मुञ्चति।
गृह्णाति मुञ्चते[1] कर्म मिथ्याज्ञान-मलीमसः ॥४५॥

अर्थ—जो आत्मा शुद्ध ज्ञानवान् है वह न कुछ ग्रहण करता है और न छोड़ता है, जो मिथ्याज्ञान

१. आ मुच्यते।

से मलिन है वह कर्म को ग्रहण करता है तथा छोड़ता है।

व्याख्या—जो आत्मा शुद्ध ज्ञान से युक्त है वह वस्तुतः किसी भी पर पदार्थ का ग्रहण-त्याग नहीं करता, जो ग्रहण-त्याग करता है वह मिथ्याज्ञान से युक्त मलिन आत्मा होता है। ग्रहण-त्याग राग-द्वेष के द्वारा हुआ करता है, शुद्ध ज्ञान में राग-द्वेष नहीं होता, इसलिए उसके द्वारा ग्रहण-त्याग नहीं बनता, मिथ्याज्ञान राग-द्वेष से युक्त होता है, इसी से उसके द्वारा ग्रहण-त्याग बनता है।

सामायिकादि षट् कर्मों में सभक्ति प्रवृत्तके संवर।

सामायिके स्तवे भक्त्या वन्दनायां प्रतिक्रमे।
प्रत्याख्याने तनूत्सर्गे वर्तमानस्य संवरः॥४६॥

अर्थ—जो योगी भक्तिपूर्वक सामायिक में, स्तव में, वन्दना में, प्रतिक्रमण में, प्रत्याख्यान में और कायोत्सर्ग में वर्तता है उसके संवर–कर्मास्रव का निरोध होता है।

व्याख्या—यहाँ सामायिकादि षट् आवश्यक क्रियाओं के, जो कि योगी मुनियों के सदा करने योग्य हैं, नाम देकर लिखा है कि इन क्रियाओं में जो भक्ति के साथ सादर प्रवृत्त होता है उसके संवर बनता है–कर्मों का आस्रव रुक जाता है। ये क्रियाएँ सम्यकचारित्ररूप हैं। इनमें से प्रत्येक का स्वरूप जो संवर का कारण है, क्रमशः आगे दिया गया है।

सामायिक का स्वरूप

यत् सर्व-द्रव्य-संदर्भे राग-द्वेष-व्यपोहनम्।
आत्मतत्त्व-निविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते ॥४७॥

अर्थ—जो आत्मतत्त्व में स्थित है उस (योगी) के सर्व द्रव्यों के सन्दर्भ–समूह में राग-द्वेष का जो व्यपोहन–विशेषरूप से परित्याग है, उसे 'सामायिक' कहते हैं।

व्याख्या—सामायिक के इस लक्षण में दो बातें खास तौर से ध्यान में लेने योग्य हैं–एक तो यह कि प्रस्तुत सामायिक का अधिकारी कौन है और दूसरी यह कि उस अधिकारी के सामायिक का स्वरूप क्या है। अधिकारी यहाँ "आत्मतत्त्व–निविष्टस्य" पद के द्वारा आत्मतत्त्व में स्थित (योगी) को बतलाया है अतः जो आत्मा को ठीक जानता-पहचानता नहीं और न उसमें जिसकी प्रवृत्ति तथा स्थिति होती है वह सामायिक का अधिकारी नहीं, भले ही वह मुनि हो, दिगम्बर हो तथा बाह्य में मुनिचर्या का कितना ही पालन क्यों न करता हो। उस अधिकृत सामायिक का स्वरूप है सर्वद्रव्यों के सन्दर्भ में राग-द्वेष का विशेष रूप से (सामान्य रूप से नहीं) परित्याग। 'सर्वद्रव्य सन्दर्भ' पद में सम्पूर्ण चेतन-अचेतन पदार्थों की सभी अवस्थाओं का समावेश होता है चाहे वे शाब्दिक हों, आर्थिक हों अथवा ज्ञान विषयक हों और 'रागद्वेष व्यपोहन में सारा वैषम्य दूर होकर पूर्णतः समताभाव का प्रादुर्भाव होता है, चाहे वह कितने थोड़े काल के लिए क्यों न हो। इस तरह यह संक्षेप

में सामायिक अथवा सन्तुलित समता-भावरूप आवश्यक का स्वरूप है। इसी को सामायिक पाठ आदि में व्रतरूप से निम्न प्रकार प्ररूपित किया है–

समता सर्वभूतेषु संयमः शुभ-भावना।
आर्त-रौद्र-परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥

अर्थात् सर्व भूतों–प्राणियों में समताभाव–राग-द्वेष का अभाव (क्योंकि राग-द्वेष ही आत्मा के भावों की समता–तुला को सम न रखकर विषम बनाते हैं), इन्द्रियों तथा प्राण के दो भेदरूप दोनों प्रकार का संयम, शुभभावना और आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान के परित्याग को 'सामायिक व्रत' कहते हैं।

आवश्यक तथा व्रतरूप से इन दोनों सामायिकों के स्वरूप में जो अन्तर है उससे एक का विषय अल्प (सर्वभूतों तक सीमित) तो दूसरे का विषय महान (सर्वद्रव्यों की सब अवस्थाओं तक व्याप्त) जान पड़ता है। इसी से सामायिक व्रतरूप में गृहस्थों के लिए और आवश्यकरूप में मुनियों के लिए विहित है। व्रतरूप से सामायिक में शुभ भावना आदि के होने से पुण्य का आस्रव भी बनता है जबकि आवश्यकरूप से सामायिक में पुण्य-पाप किसी भी प्रकार का आस्रव न होकर संवर ही होता है। संवर के कारणीभूत सामायिक में मन्त्रादिक जपना अथवा किसी के नाम की माला फेरना नहीं बनता।

स्तव का स्वरूप

रत्नत्रयमयं शुद्धं चेतनं चेतनात्मकम्।
विविक्तं स्तुवतो नित्यं स्तवज्ञैः स्तूयते स्तवः॥४८॥

अर्थ—जो योगी चेतन गुण विशिष्ट, रत्नत्रयमय और कर्म के कलंक से रहित शुद्ध चेतन की नित्य स्तुति करता है, उस स्तव को स्तव-मर्मज्ञों ने 'स्तव' कहा है।

व्याख्या—यहाँ स्तव के लक्षण में केवल शुद्ध चेतन को ही स्तुत्यरूप में ग्रहण किया गया है; जो केवल नाम से चेतन नहीं किन्तु चेतना गुण विशिष्ट है, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप रत्नत्रयमय है, सारे कर्मकलंक से विमुक्त रूप 'विविक्त' है और यही संक्षेप में जिसका स्तवन है। इस स्तवन में सचेतन पुद्गल एवं अचेतन शरीररूप घर का तथा परकृत वचन का स्तवन नहीं आता, जो वस्तुतः उससे भिन्न है।

वन्दना का स्वरूप

पवित्र - दर्शन - ज्ञान - चारित्रमयमुत्तमम्।
आत्मानं वन्द्यमानस्य वन्दनाकथि कोविदैः ॥४९॥

अर्थ—शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय उत्तम आत्मा को वन्दन-नमस्कार करते हुए योगी के

विज्ञपुरुषों ने 'वन्दना' कही है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिस शुद्धात्मा के स्तवन को 'स्तव' कहा गया है उसी शुद्धात्मा की वन्दना करने वाले के प्रस्तुत 'वन्दना' का होना कहा गया है, ऐसा यहाँ सूचित किया है। वन्दना वाक्यरूप है, इसकी कोई सूचना नहीं की, और इसलिए उसका सुप्रसिद्ध रूप वन्द्य के आगे वन्द्य के गुणों का चिन्तन करते हुए हाथ जोड़कर शिरोनति करना—सिर झुकाना अथवा नम्रीभूत होना जैसा समझना चाहिए।

प्रतिक्रमण का स्वरूप

कृतानां कर्मणां पूर्वं सर्वेषां पाकमीयुषाम्।
आत्मीयत्व-परित्यागः प्रतिक्रमणमीर्यते ॥५०॥

अर्थ—पूर्व किये हुए तथा फल को प्राप्त हुए सर्व कर्मों के आत्मीयत्व का जो परित्याग है—उन कर्मों तथा कर्मफलों को अपना न मानना है, उसको 'प्रतिक्रमण' कहा जाता है।

व्याख्या—पूर्वकृत सब कर्म के फलों में जो आत्मीयत्व बुद्धि का परित्याग है, उन्हें अपने अथवा अपने उपादान से बने (निष्पन्न) न मानना है—उसको यहाँ 'प्रतिक्रमण' कहा गया है। वास्तव में जीव के भावों का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए जितने भी पूर्वकृत् कर्म हैं और उनके जो भी फल हैं वे सब पुद्गल द्रव्य के उपादान से उत्पन्न होते हैं, अतः उन्हें आत्मीय-आत्मा के उपादान से उत्पन्न मानना भूल है, इस भूल का ही प्रस्तुत आवश्यक कर्म द्वारा परिमार्जन किया जाता है।

प्रत्याख्यान का स्वरूप

आगाम्यागो[1] निमित्तानां भावानां प्रतिषेधनम्।
प्रत्याख्यानं समादिष्टं विविक्तात्म[2]-विलोकिनः॥५१॥

अर्थ—विविक्तात्मावलोकी को आगामी पापकर्म के निमित्तभूत भावों—परिणामों का जो प्रतिषेध है, न करना है उसे 'प्रत्याख्यान' कहा गया है।

व्याख्या—यहाँ उन परिणामों के परित्याग को 'प्रत्याख्यान' बतलाया है, जो कि भावी कर्मास्रव के निमित्तभूत हों और उसका अधिकारी 'विविक्तात्मविलोकिनः' पद के द्वारा उसी शुद्धात्मदर्शी को सूचित किया है जिसे ४७ वें पद्य में 'आत्मतत्त्व-निविष्टस्य' और ५३ वें पद्य में 'स्वात्मतत्त्वव्यवस्थितः' पद के द्वारा उल्लेखित किया है और इसलिए जो इन सभी आवश्यक कर्मों के अधिकारियों का परमावश्यक विशेषण है।

---

१. मु आगम्यागो। २. आ विविक्तात्मा।

कायोत्सर्ग का स्वरूप

ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्म-निर्मितम्।
न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति सः ॥५२॥

अर्थ—जो योगी काय (शरीर) को अचेतन, नाशवान् और कर्मनिर्मित जानकर उसके कार्य में नहीं वर्तता है वह कायोत्सर्ग करता है।

व्याख्या—यहाँ काय के कार्य में, अंगोपांग के संचालन में, न प्रवृत्त होने का नाम 'कायोत्सर्ग' बतलाते हुए उसके कारणरूप में यह सूचना की है कि काय (शरीर) अचेतन है, जबकि जीव चेतन है अतः चेतन को अचेतन के कार्य में नहीं प्रवर्तना चाहिए; काय कर्म निर्मित है, कर्म के आधार पर बना तथा टिका हुआ है जबकि जीव अपने कर्म के आधार पर अपना अस्तित्व नहीं रखता और इसलिए उसे परकृत और पराश्रित के काम में प्रवृत्त होकर अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए, जितने समय के लिए भी शक्ति के उस दुरुपयोग को बचाया जा सके, उतने समय के लिए उसे अवश्य बचाना चाहिए, यह कायोत्सर्ग की दृष्टि है, जिसे 'ज्ञात्वा' पद के द्वारा जानने की प्रेरणा की गयी है।

यः षडावश्यकं योगी स्वात्मतत्त्व-व्यवस्थितः।
अनालस्यः करोत्येव संवृतिस्तस्य रेफसाम्[१] ॥५३॥

अर्थ—जो योगी अपने आत्मतत्त्व में विशेषतः अवस्थित और निरालस्य हुआ (उक्त प्रकार से) षडावश्यक को—अवश्य करणीय सामायिकादि छहों क्रियाओं को करता है, उसके पापों—कर्मों का संवर ही होता है।

व्याख्या—जिन षट् कर्मों—कार्यों का पिछले पद्यों में उल्लेख है उन्हें यहाँ स्पष्ट रूप से 'आवश्यक' नाम दिया गया है, जिसका आशय है अवश्य ही नित्य करने योग्य, उन कार्यों के करने वाले को 'योगी' नाम दिया है, जिसका अभिप्राय है काय-वचन-मनरूप त्रियोगों की साधना करने वाला उन्हें अपने अधीन रखने वाला साधु-मुनि; और उसके दो विशेषण दिये गये हैं—एक ''स्वात्मतत्त्व व्यवस्थित'' और दूसरा 'अनालस्य' जिसमें पहला इन कार्यों को करने के अधिकारित्व की सूचना करता है जैसा कि ४७ वें पद्य की व्याख्या में व्यक्त किया गया है और दूसरा फल की यथेष्टरूप में साधना से सम्बद्ध है; क्योंकि आलस्य सहित अनादर पूर्वक किये हुए कर्म यथेष्ट फल को नहीं फलते। अन्त में इन सभी आवश्यक कृत्यों के फल का निर्देश किया है और वह है ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव का निरोध, जो उक्त दोनों विशेषण विशिष्ट योगी को प्राप्त होता है। अतः इन छहों क्रियाओं के करने में योगी को अपने इन दोनों विशेषणों को खास तौर से ध्यान में

१. पापानां।

रखना चाहिए, जिनके बिना यथेष्ट फल सम्पत्ति नहीं बनती।

सम्यग्ज्ञानपरायण आत्मज्ञ योगी कर्म का निरोधक

मिथ्याज्ञानं परित्यज्य सम्यग्ज्ञानपरायणः।
आत्मनात्मपरिज्ञायी विधत्ते रोधमेनसाम् ॥५४॥

अर्थ—मिथ्याज्ञान को छोड़कर जो सम्यग्ज्ञान में तत्पर है और आत्मा के द्वारा आत्मा का ज्ञाता है वह कर्म का निरोध करता है, कर्म के आस्रव को रोकता है।

व्याख्या—यहाँ षडावश्यक विधाता से भिन्न एक-दूसरे ही संवर अधिकारी का निर्देश है और वह है, जो मिथ्याज्ञान का परित्याग कर सम्यग्ज्ञान में तत्पर रहता है और अपनी आत्मा को किसी भी पर पदार्थ की अपेक्षा न रखकर अपने आत्मा के द्वारा ही जानता है। ऐसा ज्ञाता बिना कोई दूसरा अनुष्ठान किये ही कर्मों के आस्रव को रोकने में समर्थ होता है।

कोई द्रव्य से भोजक तो भाव से अभोजक, दूसरा इसके विपरीत

द्रव्यतो भोजकः कश्चिद्भावतोऽस्ति त्वभोजकः।
भावतो भोजकस्त्वन्यो द्रव्यतोऽस्ति त्वभोजकः॥५५॥

अर्थ—कोई द्रव्य से भोक्ता है भाव से अभोक्ता है, दूसरा भाव से भोक्ता है द्रव्य से अभोक्ता है।

व्याख्या—जो किसी पदार्थ के भोग में प्रवृत्त है उसे 'भोजक' और जो भोग से निवृत्त है उसे 'अभोजक' कहते हैं। यहाँ द्रव्य तथा भाव से भोजक-अभोजक की व्यवस्था करते हुए यह सूचित किया है कि जो द्रव्य से भोजक है वह भाव से भी भोजक हो अथवा जो भाव से भोजक है वह द्रव्य से भी भोजक हो ऐसा कोई नियम नहीं है, एक द्रव्य से भोजक होते हुए भी भाव से भोजक नहीं होता और दूसरा भाव से भोजक होते हुए भी द्रव्य से भोजक नहीं होता।

द्रव्य-भाव से निवृतों में कौन किसके द्वारा पूज्य

द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति स पूज्यो व्यवहारिभिः।
भावतो यो निवृत्तोऽसौ पूज्यो मोक्षं यियासुभिः॥५६॥

अर्थ—जो द्रव्य से निवृत्त है, अभोजक है वह व्यवहारियों के द्वारा पूज्य है। जो भाव से निवृत्त है, अभोक्ता है, वह मुमुक्षुओं के द्वारा पूज्य-पूजा को प्राप्त होता है।

व्याख्या—जो द्रव्य से-बाह्य पदार्थों का त्याग करके उनके भोग से निवृत्त होता है। वह व्यवहारी जीवों के द्वारा पूजा जाता है; क्योंकि व्यवहारी जीवों की बाह्य दृष्टि होती है वे दूसरे के अन्तरंग को नहीं परख पाते और जो भाव से वस्तुतः भोग से विरक्तचित्त होकर निवृत्त होता है वह

मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाले मुमुक्षुओं के द्वारा पूजा जाता है; क्योंकि मुमुक्षु अन्तरात्माओं की आन्तरिक दृष्टि होने के कारण वे दूसरे के अन्तरंग को परख लेते हैं।

भाव से निवृत्त ही वास्तविक संवर का अधिकारी

द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य नास्ति निर्वृत्तिरेनसाम्।
भावतोऽस्ति निवृत्तस्य तात्त्विकी संवृतिः पुनः ॥५७॥

अर्थ–जो द्रव्य मात्र से निवृत्त है उसके कर्मों की निवृत्ति नहीं होती और जो भाव से निवृत्त है उसके वास्तविक संवृति–कर्मास्रव की निवृत्ति बनती है।

व्याख्या–यहाँ पिछले कथन को संवर तत्त्व के साथ सम्बद्ध करते हुए लिखा है कि जो द्रव्य मात्र से निवृत्त हैं, बाह्य में किसी वस्तु के भोग का त्याग किये हुए है परन्तु अन्तरंग में उसके भोग की लालसा बनी हुई है, उसके कर्म का संवर नहीं होता और जो भाव से निवृत्त है हृदय में उस पदार्थ के भोग का कभी विचार तक भी नहीं लाता उसके वास्तविक संवृति बनती है। इससे स्पष्ट जाना जाता है कि जो भाव से त्याग है वही कल्याणकारी है। लोक दिखावे के रूप में जो भी त्यागवृत्ति है वह कल्याणकारिणी नहीं।

भाव से निवृत्त होने की विशेष प्रेरणा

विज्ञायेति निराकृत्य निवृत्तिं द्रव्यतस्त्रिधा।
भाव्यं भाव-निवृत्तेन समस्तैनोनिषिद्धये॥५८॥

अर्थ–इस प्रकार द्रव्य–भावरूप निवृति को जानकर और द्रव्य निवृति को मन–वचन–काय से छोड़कर–गौण करके समस्त कर्मों को दूर करने के लिए त्रियोग पूर्वक भाव से निवृत्त होना चाहिए।

व्याख्या–पिछले पद्यानुसार जब द्रव्य मात्र की निवृत्ति से कर्मों की निवृत्ति न होकर भाव से निवृत्ति होती है तब फलितार्थ यह निकला कि द्रव्य निवृत्ति का आग्रह न रखकर उसे गौण करके भाव से निवृत्तिरूप होना चाहिए, ऐसा होने से समस्त पापों की–कर्मों की निवृत्ति होती है। यही इस पद्य में निष्कर्ष सूचित किया गया है।

शरीरात्मक लिंग मुक्ति का कारण नहीं

शरीरमात्मनो भिन्नं लिङ्गं येन तदात्मकम्।
न मुक्तिकारणं लिङ्गं जायते तेन तत्त्वतः ॥५९॥
यन्मुक्तिं गच्छता त्याज्यं न मुक्तिर्जायते ततः।
अन्यथा कारणं कर्म तस्य केन निवर्तते ॥६०॥

अर्थ—चूँकि शरीर आत्मा से भिन्न है और लिंग शरीरात्मक है इसलिए वस्तुतः लिंग मुक्ति का कारण नहीं होता है। जो मुक्ति को जाने वाले के द्वारा त्याज्य है उससे मुक्ति नहीं होती। यदि लिंग को मुक्ति का कारण माना जायेगा तो उसके कारण कर्म को किसके द्वारा दूर किया जायेगा? किसी के भी द्वारा उसका दूर किया जाना नहीं बनता और इसलिए कर्म के सद्भाव में मुक्ति का भी अभाव ठहरता है।

व्याख्या—इन दोनों पद्यों में युक्ति पुरस्सर ढंग से यह प्रतिपादित किया गया है कि कोई भी लिंग अथवा वेष वस्तुतः मुक्ति का कारण नहीं है; क्योंकि वह शरीरात्मक है और शरीर आत्मा से भिन्न है। जो शरीर तथा वेष मुक्ति को जाने, प्राप्त होने वाले के द्वारा त्यागा जाता है, वह मुक्ति का कारण नहीं हो सकता, यदि शरीर अथवा तदाश्रित लिंग को मुक्ति का कारण माना जायेगा तो फिर शरीर का कारण जो कर्म है, वह किसी के द्वारा भी दूर नहीं किया जा सकेगा और कर्म के साथ में रहने पर मुक्ति कैसी? वह बनती नहीं। अतः शरीरात्मक द्रव्यलिंग को मुक्ति का कारण मानना तर्क-संगत नहीं, अनुचित है। इसी बात की श्री पूज्यपादाचार्य ने अपने समाधितन्त्र के निम्न पद्य में और भी स्पष्ट घोषणा की है—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्माद्ये ते लिङ्गकृताग्रहाः॥८७॥

इसमें बतलाया है कि लिंग शरीराश्रित है और शरीर आत्मा का भव-संसार है अतः जो लिंग का आग्रह रखते हैं वे संसार से मुक्त नहीं हो पाते एक भव से दूसरा भव धारण करते हुए संसार में ही परिभ्रमण करते रहते हैं। जबकि लिंग आदि का[१] आग्रह छूटता है तभी मुक्ति का स्वामित्व प्राप्त होता है। शरीर अचेतन है चेतनात्मा को उसका आग्रह नहीं रखना चाहिए।

मुमुक्षु के लिए त्याज्य और ग्राह्य

अचेतनं ततः सर्वं परित्याज्यं मुमुक्षुणा।
चेतनं सर्वदा सेव्यं स्वात्मस्थं संवरार्थिना॥६१॥

अर्थ—अतः जो मोक्ष का अभिलाषी और संवर का अर्थी है उसके द्वारा समस्त अचेतन पदार्थ समूह त्यजनीय है और अपने आत्मा में स्थित चेतन सदा सेवनीय है।

व्याख्या—शरीर और वेष की पूर्वोक्त स्थिति में शरीर और वेष ही नहीं, किन्तु सभी अचेतन वस्तु समूह मोक्ष के इच्छुक और इसलिए संवर के अर्थी को त्यागने योग्य है, किसी में भी उसे आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। प्रत्युत इसके वह चेतन सदा सेवनीय एवं उपासनीय है जो अपने

---

१. आदि शब्द से ब्राह्मणादि उच्च जाति का ग्रहण है उसे भी 'जातिर्देहाश्रिता दृष्टा' इत्यादि पद्य (८८) में मुक्ति का कारण नहीं बतलाया।

आत्मा में स्थित है।

कौन योगी शीघ्र कर्मों का संवर करता है

आत्मतत्त्वमपहस्तित-रागं
ज्ञान-दर्शन-चरित्रमयं यः।
मुक्तिमार्गमवगच्छति योगी
संवृणोति दुरितानि स सद्यः॥६२॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते संवराधिकारः॥५॥

अर्थ—जो योगी राग रहित आत्मतत्त्व को और ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग को जानता-पहचानता है, वह शीघ्र कर्मों का संवर करता है।

व्याख्या—यह इस पाँचवें संवराधिकार का उपसंहार-पद्य है। इसमें बतलाया है कि जो योगी राग-द्वेष रहित शुद्ध आत्मतत्त्व को और निर्मल ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग को प्राप्त होता है वह शीघ्र ही कर्मों के आस्रव को शुभ-अशुभ सभी प्रकार के कर्म के आत्म प्रवेश को रोकता है। और इसलिए संवरावस्था में कोई भी नया कर्म आत्मा के साथ बँधने नहीं पाता।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित योगसार प्राभृत में संवर अधिकार नाम का पाँचवाँ अधिकार समाप्त हुआ॥५॥
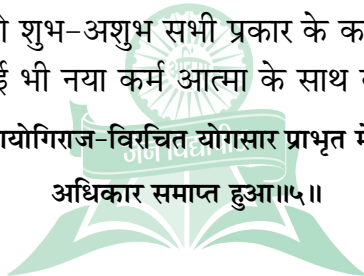
६

निर्जराधिकार

निर्जरा का लक्षण और दो भेद

पूर्वोपार्जित - कर्मैकदेशसंक्षय - लक्षणा।
निर्जरा जायते द्वेधा पाकजापाकजात्वतः॥१॥

अर्थ—पूर्वोपार्जित कर्म का एकदेश क्षय जिसका लक्षण है वह निर्जरा पाकजा तथा अपाकजा के भेद से दो प्रकार की होती है।

व्याख्या—निर्जरा अधिकार का प्रारम्भ करते हुए यहाँ सबसे पहले निर्जरा का लक्षण दिया है और वह लक्षण है 'पूर्वोपार्जित कर्म का एकदेश विनाश'। पूर्वोपार्जित कर्मों में पूर्व जन्म में किये तथा आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त हुए कर्म ही नहीं किन्तु इस जन्म में भी वर्तमान काल से पूर्व किये तथा बन्ध को प्राप्त हुए कर्म भी शामिल हैं और एकदेश संक्षय का अर्थ है 'आंशिक विनाश' पूर्णतः विनाश नहीं, क्योंकि कर्म के पूर्णतः विनाश होने का नाम तो है 'मोक्ष'[१] निर्जरा नहीं। जब तक नये कर्म का आस्रव नहीं रुकता और बन्ध-हेतुओं का अभाव नहीं होता तब तक निर्जरा बनती ही नहीं। उक्त निर्जरा के दो भेद हैं—एक 'पाकजा', दूसरा 'अपाकजा'। इन दोनों का स्वरूप अगले पद्य में दिया है।

पाकजा-अपाकजा निर्जरा का स्वरूप

प्रक्षयः पाकजातायां पक्वस्यैव प्रजायते।
निर्जरायामपक्वायां पक्वापक्वस्य कर्मणः॥२॥

अर्थ—पाकजा निर्जरा में पके हुए कर्म का ही विनाश होता है। अपाकजा निर्जरा में पके-अपके दोनों प्रकार के कर्म का विनाश होता है।

व्याख्या—'पाकजा निर्जरा' वह है जिसमें पके हुए फल देने को उद्यत हुए कर्मों का ही विनाश होता है और 'अपाकजा निर्जरा' वह कहलाती है जिसमें पके हुए, (कालप्राप्त) तथा बिना पके हुए (अकालप्राप्त) दोनों प्रकार के ही कर्मों का विनाश होता है।

अपाकजा निर्जरा को शक्ति का सोदाहरण निर्देश

शुष्काशुष्का यथा वृक्षा दह्यन्ते दव-वह्निना।
पक्वापक्वास्तथा ध्यान-प्रक्रमेणाघसंचयाः ॥३॥

---

१. कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। -त. सूत्र १०-२॥

अर्थ—जिस प्रकार दावानल के द्वारा सूखे-गीले वृक्ष जल जाते हैं उसी प्रकार ध्यान के प्रक्रमण से प्रज्वलन से पक्के-कच्चे कर्म समूह भस्म हो जाते हैं।

व्याख्या—अत्यन्त प्रज्वलित तीक्ष्ण अग्नि का नाम 'दावानल है, जो वन के वन भस्म कर देती है, सूखे की तरह कोई गीला-हरा वृक्ष भी वन में उसकी लपेट में आकर भस्म होने से बच नहीं पाता। एकाग्र चिन्तनरूप ध्यान भी ऐसी ही प्रबल अग्नि है, उसकी लपेट में आया हुआ कोई भी कर्म चाहे वह उदय के योग्य हो या न हो जलकर राख अथवा शक्ति क्षीण हो जाता है। इस तरह यहाँ पिछले पद्य में उल्लिखित 'अपाकजा' निर्जरा की शक्ति को दावानल के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है।

परमनिर्जरा-कारक ध्यान-प्रक्रम का अधिकारी

दूरीकृत-कषायस्य विशुद्धध्यान-लक्षणः।
विधत्ते प्रक्रमः साधोः कर्मणां निर्जरां पराम्॥४॥

अर्थ—जिसने कषाय को दूर किया है उस साधु के विशुद्ध ध्यान-लक्षणरूप जो प्रक्रम-प्रज्वलन होता है वह कर्मों की उत्कृष्ट निर्जरा है।

व्याख्या—जिस साधु ने अपनी आत्मा से क्रोधादि कषायों को दूर कर दिया है उसी के विशुद्ध ध्यान बनता है, कषायाकुलित साधु के नहीं और वह विशुद्ध ध्यान ऐसा प्रक्रम अथवा प्रज्वलन होता है जो कर्मों को भस्मादिरूप परिणत करके बहुत बड़े पैमाने पर उनकी निर्जरा कर देता हैं।

कौन योगी कर्म समूह की निर्जरा का कर्ता

आत्मतत्त्वरतो योगी कृत-कल्मष-संवरः।
यो ध्याने वर्तते नित्यं कर्म निर्जीर्यतेऽमुना ॥५॥

अर्थ—आत्मतत्त्व में लीन हुआ और कल्मष का-कषायादि कर्ममल का संवर किये हुए जो योगी सदा ध्यान में वर्तता है, उसके द्वारा कर्मसमूह निर्जरा को प्राप्त होता है।

व्याख्या—निर्जरा के अधिकारी का वर्णन करते हुए यहाँ उस योगी को कर्मसमूह की उत्कृष्ट निर्जरा का कर्ता लिखा है जो आत्म-तत्त्व में लीन हुआ कषायादि कर्म-मलों के संवर पूर्वक सदा ध्यान में प्रवृत्त होता है।

संवर के बिना निर्जरा वास्तविक नहीं

संवरेण विना साधोर्नास्ति पातक-निर्जरा।
नूतनाम्भःप्रवेशे (शो) ऽस्ति सरसो रिक्तता कुतः॥६॥

अर्थ—संवर के बिना साधु के पातकों-कर्मों की पूर्णतः अविपाक निर्जरा नहीं बनती। (ठीक है) जब नये जल का प्रवेश हो रहा है तब सरोवर की रिक्तता कैसे बन सकती है? नहीं बन सकती।

व्याख्या—पिछले पद्य में संवर-पूर्वक ध्यान में प्रवृत्त होने की जो बात कही गयी है उसके लक्ष्य को इस पद्य में स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि संवर के बिना वास्तव में साधु के पापों–कर्मों की निर्जरा नहीं बनती, उसी प्रकार जिस प्रकार कि सरोवर में नये जल का प्रवेश होते रहने पर उसकी रिक्तता नहीं बनती वह कभी खाली नहीं हो पाता। अतः सरोवर को खाली करने के लिए जिस प्रकार नये जल के प्रवेश–द्वार को रोकने की पहले जरूरत है उसी तरह संचित कर्मों की निर्जरा के लिए नये कर्मों का आत्म–प्रवेश रोकने की, संवर की पहले जरूरत है।

किसका कौन ध्यान कर्मों का क्षय करता है

रत्नत्रयमयं ध्यानमात्म-रूप-प्ररूपकम्।
अनन्यगत-चित्तस्य विधत्ते कर्म-संक्षयम् ॥७॥

अर्थ—जो योगी अन्यत्र चित्तवृति को लिए हुए नहीं है उसके आत्मरूप का प्ररूपक रत्नत्रयमयी ध्यान कर्मों का विनाश करता है।

व्याख्या—जिस ध्यान का पिछले पद्यों में उल्लेख आया है उसे यहाँ 'रत्नत्रयमय' लिखा है, जो कि आत्मतत्त्व का प्ररूपक है, उसमें जो योगी अनन्यगत चित्त होकर किसी दूसरे पदार्थों में अपनी चित्तवृत्ति को न रखकर प्रवृत्त होता है वह कर्मों की भले प्रकार निर्जरा करता है।

कौन योगी सारे कर्ममल को धो डालता है

त्यक्तान्तरेतर-ग्रन्थो निर्व्यापारो जितेन्द्रियः।
लोकाचार-पराचीनो[१] मलं क्षालयतेऽखिलम् ॥८॥

अर्थ—जो योगी अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर इन्द्रियव्यापार से रहित हुआ जितेन्द्रिय है और लोकाचार से पराङ्मुख है, वह सारे कर्ममल को धो डालता है।

व्याख्या—निर्जराधिकारी का वर्णन करते हुए यहाँ यह प्ररूपण किया है कि जो योगी आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित है, इन्द्रियव्यापार में प्रवृत्त नहीं होता, इन्द्रियों को अपने वश में किये हुए हैं और लोकाचार की परवाह नहीं करता वह सब प्रकार के कर्ममल को धोने में समर्थ होता है।

यहाँ आदि–अन्त के दो विशेषण अपना खास महत्त्व रखते हैं, प्रथम विशेषण में अन्तरंग परिग्रह का त्याग प्रधान है, जो मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ और हास्यादि नोकषायों के रूप में चौदह प्रकार का होता है और बाह्य परिग्रह क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन–धान्यादि के रूप में दस प्रकार का कहा गया है। इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का जब तक सच्चे हृदय से त्याग नहीं बनता तब तक इन्द्रिय–व्यापार का रुकना और जितेन्द्रिय होना भी नहीं बनता। रहा अन्तिम विशेषण, वह

१. पराङ्मुखः।

इस बात का सूचक है कि जब तक लोकाचार के कर्ममल का क्षालन नहीं हो सकेगा, लोकाचार के पालन में प्रवृत्तिरूप कर्म का आस्रव होता ही रहेगा। इसी से सच्चे मुनियों की वृत्ति को 'अलौकिकी' कहा गया है।[१] यह अलौकिकी वृत्ति भवाभिनन्दी अथवा लौकिक मुनियों से नहीं बनती। उन्हें तो लोकैषणा सताती रहती है और इसलिए वे लोकाचार से विमुख नहीं हो पाते।

विशुद्ध भाव का धारी कर्मक्षय का अधिकारी

शुभाशुभ-विशुद्धेषु भावेषु प्रथम-द्वयम्।
यो विहायान्तिमं धत्ते क्षीयते तस्य कल्मषम्॥९॥

अर्थ—जो शुभ, अशुभ, विशुद्ध इन तीन भावों में से, प्रथम दो को छोड़कर अन्तिम विशुद्ध भाव को धारण करता है उसके कल्मष-कषायादि कर्ममल-क्षय को प्राप्त होता है।

व्याख्या—यहाँ यह सूचित किया है कि जीव के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं—शुभ, अशुभ, विशुद्ध। इनमें से पहले दो परिणामों को, जो कि कर्मबन्ध के कारण हैं, छोड़कर जो तीसरे विशुद्ध परिणाम को धारण करता है वह नवीन कर्म का आस्रव-बन्ध न करता हुआ पूर्व संचित कर्म के क्षय करने में समर्थ होता है। विशुद्ध परिणाम में दो शक्तियाँ है—एक कर्मों के आस्रव-बन्ध रोकने की और दूसरी पूर्व बाँधे कर्मों को क्षयरूप-निर्जरित करने की।

शुद्धात्मतत्त्व को न जानने वाले का तप कार्यकारी नहीं

बाह्यमाभ्यन्तरं[२] द्वेधा प्रत्येकं कुर्वता तपः।
नैनो निर्जीर्यते शुद्धमात्मतत्त्वमजानता ॥१०॥

अर्थ—जो शुद्ध आत्मतत्त्व को नहीं जानता उसके द्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तप में से प्रत्येक प्रकार के तप का अनुष्ठान करते हुए भी कर्म निर्जरा को प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—मोक्षशास्त्र में 'तपसा निर्जरा च' इस सूत्र के द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि तप से निर्जरा तथा संवर दोनों होते हैं। यहाँ एक खास मौलिक बात और कही गयी है और वह यह कि जब तक योगी-तपस्वी शुद्ध आत्मतत्त्व को नहीं जानता-पहचानता तब तक उसके बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तपों में से किसी भी प्रकार का तप करते हुए कर्मों की निर्जरा नहीं होती। संवर के अधिकार में जिस प्रकार संवराधिकारी के लिए आत्मतत्त्व को जानने और उसमें स्थित होने की बात कही गयी है उसी प्रकार निर्जराधिकारी के लिए भी उसे समझना चाहिए। जो आत्मा को ही नहीं समझता उसका बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का तप, जिसमें ध्यान भी शामिल है, एक प्रकार से निरर्थक होता है उससे न संवर बनता है और न निर्जरा। तपश्चरण के साथ आत्मा को

---

१. अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार-नित्यनिरभिमुखा। एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः। -अमृतचन्द्र सूरि; पु. सिद्ध्यु.॥ २. मु बाह्यमभ्यंतरं।

जानना बिन्दुओं के साथ अंक के समान उसे सार्थक करता है। अत: केवल तपश्चरण के मोह में ही उलझे रहना नहीं चाहिए, आत्मा को जानने तथा पहचाननेका सबसे प्रथम प्रयत्न करना चाहिए।

किस संयमसे किसके द्वारा कर्मकी निर्जरा होती है

कर्म निर्जीर्यते पूतं विदधानेन संयमम्।
आत्म-तत्त्व-निविष्टेन जिनागम-निवेदितम् ॥११॥

अर्थ—आत्मतत्त्व में स्थित जो योगी जिनागम कथित पवित्र संयम का अनुष्ठान करता है उसके द्वारा कर्म निर्जरा को प्राप्त होता है।

व्याख्या—यहाँ संयम के द्वारा कर्म की निर्जरा का वर्णन करते हुए उसके दो विशेषण दिये गये हैं एक तो 'पूत' जो पवित्र एवं शुद्ध अर्थ का वाचक है, दूसरा है 'जिनागमनिवेदितं' जिसका आशय है जिनागम के द्वारा प्रतिपादित। जिनागम में संयम के दो भेद किये गये हैं, एक इन्द्रियसंयम और दूसरा प्राणिसंयम। स्पर्शनादि इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकना 'इन्द्रियसंयम' है और प्राणधारी जीवों के प्रति घातिरूप से प्रवृत्त न होने का नाम 'प्राणिसंयम' है। ये दोनों ही प्रकार के संयम निर्जरा के हेतु हैं। संयम के अधिकारी का यहाँ एक ही विशेषण दिया और वह है आत्मतत्त्व में स्थित। जो आत्मतत्त्व में स्थित नहीं वह संयम का पात्र नहीं और इसलिए उसके द्वारा संयमजनित निर्जरा नहीं बनती।

कौन योगी कर्मरज को स्वयं धुन डालता है

अन्याचार-परावृत्त: स्वतत्त्व-चरणादृत:।
संपूर्ण-संयमो योगी विधुनोति रज: स्वयम् ॥१२॥

अर्थ—जो योगी अन्य आचार से विमुख हुआ स्वरूपाचरण में तत्पर है और पूर्णत: संयम का पालक है वह स्वयं कर्मरज को छिन्न-भिन्न कर डालता है।

व्याख्या—यहाँ पूर्णत: संयमी योगी की बात को लिया गया है और वह वही होता है जो स्वरूपाचरण से भिन्न अन्याचरण में रुचि नहीं रखता और स्वरूपाचरण में सदा तत्पर रहता है। ऐसा योगी बिना किसी की सहायता अथवा अपेक्षा के स्वयं कर्ममल को विशेषत: धुन डालता है।

लोकाचार को अपनाने वाले योगी का संयम क्षीण होता है

हित्वा लोकोत्तराचारं लोकाचारमुपैति य:।
संयमो हीयते तस्य निर्जरायां निबन्धनम्॥१३॥

अर्थ—जो योगी लोकोत्तराचार को छोड़कर लोकाचार को अपनाता है उसका संयम, जो कि निर्जरा का कारण है, क्षीण हो जाता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिस स्वरूपाचरण का उल्लेख है वही यहाँ 'लोकोत्तराचार' के रूप में विवक्षित है उसे छोड़कर जो योगी लोकाचार में–लौकिकजनों जैसी प्रवृति में प्रवृत्त होता है उसका संयम हीन–क्षीण हो जाता है और इसलिए कर्म की निर्जरा करने में समर्थ नहीं होता।

अर्हद्वचन की श्रद्धा न करने वाला सुचरित्री भी शुद्धि को नहीं पाता

चारित्रं विदधानोऽपि पवित्रं यदि तत्त्वतः।
श्रद्धत्ते नार्हतं वाक्यं न शुद्धिं श्रयते तदा ॥१४॥

अर्थ—पवित्र चारित्र को पालते हुए भी यदि (योगी) वस्तुतः अर्हन्त के वाक्य का श्रद्धान नहीं करता, उसे अपनी चर्या का आधार नहीं बनाता तो वह शुद्धि को प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—जिस पवित्र संयम का ११ वे पद्य में उल्लेख है और जिसको वहाँ 'जिनागमनिवेदितं' विशेषण दिया है उसी को यहाँ 'चारित्र' शब्द से उल्लेखित करते हुए उसके उस विशेषण का स्पष्टीकरण किया गया है, जिनागम को आर्हतवाक्य (अर्हत्प्रवचन) बतलाया है और यह घोषणा की है कि जो योगी अर्हन्त के प्रवचन की श्रद्धा नहीं करता है, श्रद्धापूर्वक जिनागम–कथित संयम का पालन नहीं करता है वह वास्तव में पवित्र संयम का पालन करता हुआ भी शुद्धि को प्राप्त नहीं होता। इससे अर्हत्प्रतिपादित संयम के अनुष्ठान में श्रद्धा की खास जरूरत है बिना श्रद्धा का चारित्र स्वयं शुद्ध होते हुए भी शुद्धि विधान में असमर्थ है, श्रद्धा उसमें शक्ति का संचार करती है।

जिनागम को न जानता हुआ संयमी अन्धे के समान

विचित्रे चरणाचारे वर्तमानोऽपि संयतः।
जिनागममजानानः सदृशो गतचक्षुषः ॥१५॥

अर्थ—नाना प्रकार के चारित्राचार में प्रवर्तमान हुआ भी जो संयमी जिनागम को नहीं जानता वह चक्षुहीन के समान है–उसका वह आचरण अन्धाचरण के तुल्य हैं।

व्याख्या—यहाँ उस योगी के चारित्र को अन्धाचरण के समान बतलाया है जो जिनागम को नहीं जानता। ऐसे ही आगम–शास्त्र को लक्ष्य करके किसी नीतिकार ने कहा है–

अनेक-संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥

अनेक संशयों का उच्छेदन करने वाला और परोक्ष पदार्थ समूह का दिखलाने वाला सबका लोचन (नेत्र) शास्त्र है, जो इस लोचन से विहीन है वही अन्धा है।

किसका कौन नेत्र

[1]साधूनामागमश्चक्षुर्भूतानां चक्षुरिन्द्रियम्।
देवानामवधिश्चक्षुर्निर्वृताः सर्व-चक्षुषः ॥१६॥

अर्थ–साधुओं की चक्षु (आँख) आगम-शास्त्र है, साधारण प्राणियों की चक्षु इन्द्रिय है, देवों की चक्षु अवधिदर्शन है और जो निर्वृत हैं–मुक्ति को प्राप्त हैं–वे सर्वचक्षु हैं।

व्याख्या–यहाँ किसका कौन नेत्र, इसका निर्देश करते हुए साधुओं का नेत्र आगम को, भूतों का–सर्व प्राणियों का, नेत्र इन्द्रिय को और देवों का नेत्र अवधिदर्शन को बतलाया है। साथ ही जो संसार से मुक्त हो गये हैं उन्हें 'सर्वचक्षु' सब ओर से देखने वाले ने लिखा है। प्रवचनसार में भी 'आगमचक्खू साहू' जैसे वाक्य के द्वारा साधु को आगमचक्षु–आगमनेत्र से देखने वाला बतलाया है। इससे साधु का आगमज्ञाता होना और आगम के अनुसार आचरण करना, ये दोनों ही आवश्यक होते हैं।

आगम प्रदर्शित सारा अनुष्ठान किसके निर्जरा का हेतु

प्रदर्शितमनुष्ठानमागमेन तपस्विनः।
निर्जराकारणं सर्वं ज्ञात-तत्त्वस्य जायते ॥१७॥

अर्थ–आगम के द्वारा प्रदर्शित सारा अनुष्ठान तत्त्वज्ञ-तपस्वी के निर्जरा का कारण होता है।

व्याख्या–यहाँ आगम-द्वारा प्रदर्शित सारे अनुष्ठान को निर्जरा का कारण बतलाते हुए उसके अनुष्ठाता तपस्वी-साधु का एक खास विशेषण 'ज्ञाततत्त्वस्य' दिया गया है और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि जो साधु तत्त्वों का ज्ञाता नहीं है अथवा जिसने आत्मतत्त्व को नहीं समझा है, उसका आगम-प्रदर्शित अनुष्ठान निर्जरा का कारण नहीं होता है अतः आगम प्रदर्शित अनुष्ठान के लिए तत्त्वों का ज्ञाता होने की परम आवश्यकता है यों ही तोता रटन्त के रूप में वह न होना चाहिए। ऐसा कोरा अनुष्ठान प्रायः भावशून्य होता है और इसलिए अनुष्ठान के सम्यक् फल को नहीं फलता। इसी बात को कल्याणमन्दिर स्तोत्र में "**यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः**" इस वाक्य के द्वारा प्रदर्शित किया है। ऐसी भावशून्य क्रियाओं को बकरी के गले में लटकते हुए स्तनों (थनों) की उपमा दी गयी है, जो देखने में स्तनाकार होते हुए भी स्तनों का काम नहीं देते दूध उनसे नहीं निकलता। भावशून्य क्रियाएँ भी देखने में अच्छी भली ठीक जान पड़ती हैं, परन्तु उनसे फल की प्राप्ति नहीं होती। इसी से भावहीन की पूजादिक, तप, दान, जपादिक और दीक्षादिक को व्यर्थ बतलाया गया है–

१. आगमचक्खू साहू इंदयचक्खूणि सव्वभूदाणि। देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥–प्रवचनसार ३–३४

भावहीनस्य पूजादिः तपोदान-जपादिकम्।
व्यर्थ दीक्षादिकं च स्यादजाकण्ठे स्तनाविव॥

अज्ञानी-ज्ञानी के विषय-सेवन का फल

अज्ञानी बध्यते यत्र सेव्यमानेऽक्षगोचरे।
तत्रैव मुच्यते ज्ञानी पश्यताश्चर्यमीदृशम् ॥१८॥

अर्थ—इन्द्रिय विषय के सेवन करने पर जहाँ अज्ञानी कर्मबन्ध को प्राप्त होता है, वहाँ ज्ञानी कर्मबन्धन से छूटता है कर्म की निर्जरा करता है, इस आश्चर्य को देखो!

व्याख्या—पिछले पद्य में साधु के लिए 'ज्ञाततत्त्व' होने की जो बात कही गयी है उसके महत्त्व की इस पद्य में आश्चर्य के साथ यह कहकर सूचना की गयी कि अज्ञानी जिस काम को करता हुआ कर्म-बन्धन से बँधता है उसी काम को करता हुआ ज्ञानी कर्म-बन्धन से छूटता है कर्म की निर्जरा करता है। इसमें 'ज्ञायक' और 'वेदक' के भेद की वह दृष्टि समायी हुई है जिसका वर्णन ग्रन्थ में अन्यत्र[१] (चौथे अधिकार में) किया गया है।

कर्मफल को भोगते हुए किसके बन्ध और किसके निर्जरा

शुभाशुभ-विकल्पेन कर्मायाति शुभाशुभम्।
भुज्यमानेऽखिले द्रव्ये निर्विकल्पस्य निर्जरा ॥१९॥

अर्थ—शुभ-अशुभ विकल्प के द्वारा शुभ-अशुभ कर्म का आगमन होता है। सम्पूर्ण द्रव्य समूह के भोगते हुए भी जो निर्विकल्प है राग-द्वेषादि रूप किसी प्रकार का विकल्प नहीं करता उसके कर्म की निर्जरा होती है।

व्याख्या—यहाँ पिछले पद्य को कुछ स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि जिस किसी कर्म में करते अथवा भोगते हुए शुभ-अशुभ का विकल्प किया जाता है, उसे अच्छा या बुरा समझा जाता है उससे शुभ-अशुभ कर्म का आस्रव-बन्ध होता है और इसलिए जो ज्ञानी साधु कर्म का फल भोगते समय निर्विकल्प रहता है किसी भी प्रकार का राग-द्वेष नहीं करता उस का वह भोग निर्जरा का कारण होता है बन्ध का नहीं। अज्ञानी के द्वारा यह बात नहीं बनती वह अपने अज्ञानवश उसमें राग-द्वेषादि का विकल्प किये बिना नहीं रहता और इसलिए नये कर्म-बन्ध को प्राप्त होता हैं।

---

१. ज्ञानिना सकलं द्रव्यं ज्ञायते वेद्यते न च। अज्ञानिना पुनः सर्व वेद्यते ज्ञायते न च॥२३॥ यथा वस्तुपरिज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते। राग-द्वेष-मद-क्रोधैः सहितं वेदनं पुनः॥२४॥ बन्धाधिकार।

निष्किंचन-योगी भी निर्जरा का अधिकारी

अहमस्मि न कस्यापि न ममान्यो बहिस्ततः।
इति निष्किचनो योगी[१] धुनीते निखिलं रजः ॥२०॥

अर्थ—मैं किसी का भी नहीं हूँ और न अन्य कोई बाह्य पदार्थ मेरा है, इस प्रकार पर को न अपनाता हुआ निष्किंचन–निःसंग–योगी सारे कर्मरज को धुन डालता है।

व्याख्या—यहाँ निर्जरा के एक दूसरे अधिकारी का उल्लेख है और वह है 'निष्किंचन योगी', जिस का स्वरूप है "मैं किसी का नहीं हूँ और इसलिए दूसरा कोई भी बाह्य पदार्थ मेरा नहीं है।" वस्तुतः अकिंचन, निःसंग अथवा अपरिग्रही योगी का यही रूप है। जो दूसरे चेतन–अचेतन पदार्थों को अपने बनाये रखता है वह अपरिग्रही अथवा अकिंचन कैसा ? और इसलिए निर्जरा का अधिकारी नहीं।

विविक्तात्मा को छोड़कर अन्योपासक की स्थिति

मुक्त्वा विविक्तमात्मानं मुक्त्यै येऽन्यमुपासते।
ते भजन्ति हिमं मूढा विमुच्याग्निं हिमच्छिदे ॥२१॥

अर्थ—विविक्त–कर्म कलंक विमुक्त–आत्मा को छोड़कर जो अन्य की उपासना करते हैं वे मूढ़ शीत का नाश करने के लिए अग्नि को छोड़कर हिम का–बर्फ का सेवन करते हैं।

व्याख्या—यहाँ मुक्ति के लिए अकिंचन भाव अथवा निःसंगता की साधना में पर की उपासना को भी बाधक बतलाते हुए यह प्रतिपादन किया है कि अपने शुद्ध खालिस आत्मा को छोड़कर जो पर की उपासना करते हैं वे मूढ़ शीत के विनाशार्थ अग्नि को छोड़कर शीतकारी पदार्थों का ही सेवन करते हैं।

स्वदेहस्थ परमात्मा को छोड़कर अन्यत्र देवोपासक की स्थिति

योऽन्यत्र वीक्षते देवं देहस्थे परमात्मनि।
सोऽन्ने सिद्धे गृहे शङ्के भिक्षां भ्रमति मूढधीः॥२२॥

अर्थ—परमात्मदेव के (स्व) देह में स्थित होने पर भी जो देव को अन्यत्र ढूँढ़ता है, मैं समझता हूँ, वह मूढ बुद्धि घर में भोजन के तैयार होने पर भी भिक्षा के लिए भ्रमण करता है।

व्याख्या—यहाँ अपने देह में स्थित परमात्मा की उपासना को प्रधानता देते हुए लिखा है कि–जो देहस्थ परमात्मा को छोड़कर अन्यत्र उसकी उपासना करता है वह उस मूढबुद्धि के समान है जो घर में भोजन के तैयार होते हुए भी, उसके न होने की आशंका करके, भिक्षा के लिए बाह्य भ्रमण

१. आ भावो।

करता है।

कौन कर्म-रज्जुओं से बँधता और कौन छूटता है

कषायोदयतो जीवो बध्यते कर्मरज्जुभिः।
शान्त-क्षीणकषायस्य त्रुटयन्ति रभसेन ताः॥२३॥

अर्थ—कषाय के उदय से यह जीव कर्म रज्जुरूप बन्धनों से बँधता है, जिसके कषाय शान्त अथवा क्षीण हो जाते हैं उसके वे रज्जु-बन्धन शीघ्र टूट जाते हैं।

व्याख्या—जिन कषायों के उदय से यह जीव कर्मबन्धनों से बँधता है वे सब कर्मों के बन्धन कषायों के शान्त तथा क्षीण होने पर शीघ्र ही स्वयं टूट जाते हैं और इस तरह उनकी निर्जरा हो जाती है।

प्रमादी सर्वत्र पापों से बँधता और अप्रमादी छूटता है

सर्वत्र प्राप्यते पापैः प्रमाद्-निलयीकृतः।
प्रमाद-दोष-निर्मुक्तः सर्वत्रापि हि मुच्यते ॥२४॥

अर्थ—जिसने प्रमाद का आश्रय लिया है, जो सदा प्रमाद से घिरा प्रमादी बना हुआ है वह सर्वत्र पापों से-पाप कर्मों से-ग्रहीत होता अथवा बँधता रहता है, और जो प्रमाद के दोष से रहित निष्प्रमादी है वह सब ठौर पापों से मुक्त होता रहता है नये पाप कर्मों के बँधने की तो बात ही दूर है।

व्याख्या—यहाँ प्रमाद के दोष से निर्मुक्त को निर्जरा का अधिकारी बतलाते हुए लिखा है कि-जो प्रमाद का आश्रय लिए रहता है वह जहाँ कहीं भी हो पापों से बँधता है और जो प्रमाद से निर्मुक्त है वह कहीं भी हो पापों से छुटकारा पाता है, उसके साथ नये कर्म बन्ध को प्राप्त नहीं होते और पुराने बँधे कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

स्वनिर्मलतीर्थ को छोड़कर अन्य को भजने वालों की स्थिति

स्वतीर्थममलं हित्वा शुद्धयेऽन्यद् भजन्ति ये।
ते मन्ये मलिनाः स्नान्ति सरः संत्यज्य पल्वले ॥२५॥

अर्थ—अपने निर्मल आत्मतीर्थ को छोड़कर जो शुद्धि के लिए अन्य तीर्थ को भजते हैं, मैं समझता हूँ, वे मलिन प्राणी सरोवर को छोड़कर जोहड़ में स्नान करते हैं।

व्याख्या—२३वें पद्य में परमात्मा के देहस्थ होने की बात कही गयी है और उस परमात्मा को छोड़कर अन्यत्र देव की खोज पर कुछ आपत्ति की गयी है, यहाँ उसी देहस्थ परमात्मा को अपना निर्मल तीर्थ बतलाया है और यह सूचित किया है कि जो शुद्धि के इच्छुक मलिन प्राणी अपने उस निर्मल तीर्थ को छोड़कर अन्य तीर्थ की उपासना करते हैं, वे सरोवर को छोड़कर जोहड़ में स्नान

करते हैं; क्योंकि दूसरे एक तो आत्मतीर्थ से परतीर्थ को प्रधानता प्राप्त होती है, जो कि अतत्त्वश्रद्धारूप मिथ्यात्व का द्योतक एक प्रकार का विकार है; दूसरे पर में राग के कारण आत्मा कर्ममल से लिप्त होता है। अतः स्वतीर्थ को छोड़कर परतीर्थ का सेवन जोहड में स्नान के समान है, जिससे निर्मलता के स्थान पर कुछ मल का ही ग्रहण होता है। ऐसी आचार्य महोदय ने कल्पना की है।

स्वात्मज्ञानेच्छुक को परीषहों का सहना आवश्यक

स्वात्मानमिच्छुभिर्ज्ञातुं सहनीयाः परीषहाः।
नश्यत्यसहमानस्य स्वात्म-ज्ञानं परीषहात्॥२६॥

अर्थ—अपने आत्मा को जानने के इच्छुकों को परीषह सहन करनी चाहिए, जो परीषहों को सहन नहीं करता उस का स्वात्मज्ञान परीषहों के उपस्थित होने पर स्थिर नहीं रहता, नाश को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिस निर्मल आत्मतीर्थ की बात कही गयी है, उसे जो जानने पहचानने के इच्छुक हैं उनके लिए यहाँ परीषहों का सहन करना आवश्यक बतलाया है, जिनकी संख्या आगम में बाईस बतलायी गयी है और उनके नाम हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, डाँस, मच्छर, नग्नता, अरति, स्त्रीचर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन। इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं आदि ग्रन्थों में विस्तार के साथ दिया है। इन परीषहों को जो सहन नहीं करता है इसका स्वात्मज्ञान नष्ट हो जाता है अर्थात् प्रथम तो उत्पन्न नहीं होता और यदि उत्पन्न होता भी है तो स्थिर नहीं रहता। इसी से श्री पूज्यपादाचार्य ने लिखा है—

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसंनिधौ।
तस्माद्यथा बलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥

अर्थ—जो आत्मज्ञान अदुःख-भावित है दुःख की भावना-संस्कृति को साथ में लिए हुए नहीं है वह परीषहजन्य दुःख के उपस्थित होने पर क्षीण हो जाता है, इसलिए जितनी भी अपने में शक्ति हो उसके अनुसार मुनि को परीषहजन्य दुःखों से अपने को भावित-संस्कारित करना चाहिए।

सुख-दुःख में अनुबन्ध का फल

अनुबन्धः सुखे दुःखे न कार्यो निर्जरार्थिभिः।
आर्तं तदनुबन्धेन जायते भूरिकर्मदम् ॥२७॥

अर्थ—जो निर्जरा के अर्थी अभिलाषी हैं उनके द्वारा सुख में तथा दुःख में अनुबन्ध अनुवर्तन रूप सम्बन्ध नहीं किया जाना चाहिए; क्योंकि उस अनुबन्ध से आर्तध्यान उत्पन्न होता है, जो बहुत कर्मों का दाता है।

व्याख्या—जो कर्मों की निर्जरा के इच्छुक हैं उन्हें आचार्य महोदय ने यहाँ एक बड़ा ही सुन्दर एवं हितकारी उपदेश दिया है और यह कि उन्हें परीषहों के उपस्थित होने पर जो दुःख होते हैं और परीषहों के अभाव में जो सुख प्राप्त होता है उन सुख-दुःख दोनों के साथ अपने को बाँधना नहीं चाहिए, सुखी-दुःखी नहीं होना चाहिए, क्योंकि सुखी-दुःखी होने से आर्तध्यान बनता है, जो बहुत ज्यादा कर्मबन्ध का कारण होता है और उससे निर्जरा का लक्ष्य नष्ट हो जाता है। पिछले एक पद्य (६) में कहा भी है कि यदि सरोवर में नये जल का प्रवेश हो रहा है तो सरोवर की रिक्तता कैसी? अतः नये कर्मबन्ध को प्राप्त न हों और पुराने कर्मों का विच्छेद हो जाये तभी निर्जरा की सार्थकता है। इसके लिए उदय को प्राप्त हुए कर्मों में रागद्वेष न करके समता भाव के रखने की बड़ी जरूरत है।

आत्मशुद्धि का साधन आत्मज्ञान, अन्य नहीं

आत्मावबोधतो नूनमात्मा शुद्ध्यति नान्यतः।
अन्यतः शुद्धिमिच्छन्तो विपरीतदृशोऽखिलाः ॥२८॥

अर्थ—निश्चय से आत्मा आत्मज्ञान से शुद्ध होता है, अन्य से नहीं। जो अन्य पदार्थ से शुद्धि चाहते है वे सब विपरीत बुद्धि अथवा मिथ्यादृष्टि हैं।

व्याख्या—जिस स्वात्मा को जानने के लिए २६वें पद्य में परीषहों को सहने की बात कहीं गयी है उसके परिज्ञान से ही आत्मा में उत्तरोत्तर शुद्धि की प्राप्ति होती है। जो लोग किसी दूसरे उपाय से आत्मा की शुद्धि मानते अथवा करना चाहते हैं उन्हें यहाँ विपरीत दृष्टि-मिथ्यादृष्टि बतलाया है। इससे आत्मशुद्धि के लिए आत्मज्ञान का होना परमावश्यक है और सब तो सहायक अथवा निमित्तकारण हो सकते हैं।

परद्रव्य से आत्मा स्पष्ट तथा शुद्ध नहीं होता

स्पृश्यते शोध्यते नात्मा मलिनेनामलेन वा।
पर-द्रव्य-बहिर्भूतः परद्रव्येण सर्वथा ॥२९॥

अर्थ—आत्मा जो परद्रव्य से सर्वथा बहिर्भूत है वह परद्रव्य के द्वारा, चाहे वह समल हो या निर्मल, किसी तरह स्पृष्ट तथा शुद्ध नहीं किया जाता।

व्याख्या—इस पद्य में आत्मा की शुद्धि के सिद्धान्त का निर्देश करते हुए यह बतलाया है कि आत्मा परद्रव्यों से बहिर्भूत है, किसी भी परद्रव्य का उसके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं बनता, ऐसी स्थिति में किसी भी परद्रव्य से, चाहे वह निर्मल हो या समल, जब आत्मा सर्वदा स्पर्शित नहीं होता तब उसके द्वारा शुद्धि को प्राप्त कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। इस तरह आत्मा को शुद्धि में स्वात्मज्ञान को छोड़कर दूसरे सब उपायों को वस्तुतः असमर्थ बतलाया है।

स्वात्मरूप की भावना का फल परद्रव्य का त्याग

स्वरूपमात्मनो भाव्यं परद्रव्य-जिहासया।
न जहाति परद्रव्यमात्मरूपाभिभावकः॥३०॥

अर्थ—परद्रव्य के त्याग की इच्छा से आत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिए। जो परद्रव्य को नहीं छोड़ता वह आत्मस्वरूप का अभिभावक है, अनादर करने वाला है।

व्याख्या—पिछले पद्यानुसार जब आत्मा परद्रव्य से सर्वथा बहिर्भूत है तब परद्रव्यों के त्याग की इच्छा से ही उस की भावना की जानी चाहिए न कि परद्रव्यों को साथ लेकर। जो परद्रव्य को नहीं छोड़ता, परद्रव्य में आसक्ति बनाये रखता है वह अपने आत्मस्वरूप की अवज्ञा करता है और इसलिए स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता।

आत्मद्रव्य को जानने के लिए परद्रव्य का जानना आवश्यक

विज्ञातव्यं परद्रव्यमात्मद्रव्य-जिघृक्षया[1]।
अविज्ञातपरद्रव्यो नात्मद्रव्यं जिघृक्षति ॥३१॥

अर्थ—आत्मद्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा से परद्रव्य को जानना चाहिए। जो परद्रव्य के ज्ञान से रहित है वह आत्मद्रव्य के ग्रहण की इच्छा नहीं करता।

व्याख्या—यहाँ परद्रव्य को जानने की दृष्टि का निर्देश किया गया है और वह है अपने आत्मद्रव्य को ग्रहण की दृष्टि। जो अपने साथ रलेमिले परद्रव्य को नहीं जानता-पहचानता उसे अपने आत्मद्रव्य को पृथक्‌रूप से ग्रहण की इच्छा ही नहीं होती। जिसको स्व-पर का भेदविज्ञान न होने से आत्मद्रव्य के पृथक्‌रूप से ग्रहण की इच्छा तथा भावना नहीं होती वह पिछले पद्य में वर्णित परद्रव्य के त्याग की इच्छा से स्वात्मरूप की भावना कैसे कर सकता है ? नहीं कर सकता। अतः शुद्धस्वात्मद्रव्य की उपलब्धिरूप सिद्धि की दृष्टि से परद्रव्य का जानना आवश्यक है अन्यथा स्वात्मोपलब्धि नहीं होती।

जगत् के स्वभाव की भावना का लक्ष्य

स्व-तत्त्वरक्तये नित्यं परद्रव्य-विरक्तये।
स्वभावो जगतो[2] भाव्यः समस्तमलशुद्धये॥३२॥

अर्थ—स्वतत्त्व में अनुरक्ति, परद्रव्यों से विरक्ति और समस्त कर्ममल की शुद्धि के लिए जगत् का स्वभाव भावना किये जाने के योग्य है।

व्याख्या—यहाँ जगत् के स्वभाव की सदा भावना करने का उपदेश दिया है और उसके तीन उद्देश्य बतलाये हैं-एक स्वात्मद्रव्य में रति, दूसरा परद्रव्य से विरक्ति और तीसरा समस्त कर्ममल से

१. गृहीतुमिच्छया। २. मु जगतां।

आत्मा की शुद्धि। समस्त कर्ममल में द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप तीनों प्रकार का कर्ममल आता है। जगत् छह द्रव्यों से बना है–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन छहों के यथार्थ स्वरूप के चिन्तन में जगत् के स्वभाव की सारी भावना आ जाती है। ग्रन्थ के प्रथमादि अधिकारों में इनका कितना ही वर्णन आ चुका है।

एक आश्चर्य की बात

यत् पश्चाभ्यन्तरैः पापैः सेव्यमानः प्रबध्यते।
न तु पञ्चबहिर्भूतैराश्चर्यं[1] किमतः परम्॥३३॥

अर्थ–जो जीव अन्तरंग में स्थित पाँच पापों से सेव्यमान है वह तो बन्ध को प्राप्त होता है किन्तु जो बहिर्भूत पाँचों पापों से सेव्यमान नहीं है, वह बन्ध को प्राप्त नहीं होता इससे ज्यादा आश्चर्य की बात और क्या है?

व्याख्या–अन्तरंग सेना के अंगरक्षक जवानों की सेवा को प्राप्त एवं सुरक्षित हुआ राजा शत्रु से बाँधा नहीं जाता; परन्तु जब वे अंगरक्षक उसकी सेवा में नहीं होते और राजा अकेला पड़ जाता है तब वह शत्रु से बाँध लिया जाता है। यहाँ इस लोक-स्थिति के विपरीत यह दिखलाया है कि जो जीव अन्तरंग में स्थित पाँच पापरूप अंगरक्षकों से सेवित है वह तो कर्मशत्रु से बँध जाता है परन्तु जिसके उक्त पाँच सेवक बहिर्भूत हो जाते हैं, उसकी सेवा में नहीं रहते और वह अकेला पड़ जाता है, उसे कर्मशत्रु बाँधने में असमर्थ हैं। लोकव्यवहार एवं प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से इस पर भारी आश्चर्य व्यक्त किया गया है और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि जिन पापों को तुम अपने संगी-साथी एवं रक्षक समझते हो वे सब वस्तुतः तुम्हारे बन्ध के कारण हैं, उनका साथ छोड़ने पर ही तुम बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकोगे। अज्ञानी प्राणी समझता है कि मैं हिंसा करके, झूठ बोलकर, चोरी करके, विषय सेवन करके और परिग्रह को बढ़ाकर आत्मसेवा करता हूँ–अपनी रक्षा करता हूँ, यह सब भूल है; इन पाँचों पापों से, जो कि वास्तव में सेवक-संरक्षक न होकर अन्तरंग शत्रु हैं, कर्मों का बन्धन दृढ़ होता है अतः जो कर्मों के बन्धन से बँधना नहीं चाहते उन्हें अपने हृदय से इन पाँचों पापों को निकाल बाहर कर देना चाहिए, तभी अबन्धता और अपनी रक्षा बन सकेगी।

ज्ञान की आराधना ज्ञान को, अज्ञान की अज्ञान को देती है

[2]ज्ञानस्य ज्ञानमज्ञानमज्ञानस्य प्रयच्छति।
आराधना कृता यस्माद् विद्यमानं प्रदीयते॥३४॥

अर्थ–ज्ञान की आराधना ज्ञान को, अज्ञान की आराधना अज्ञान को प्रदान करती है; क्योंकि

---

१. मु पंचबहिर्भूतमाश्चर्यं।

२. अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः। ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः॥२३॥–इष्टोपदेशे पूज्यपादः।

जिसके पास जो वस्तु विद्यमान है वही दी जाती है।

व्याख्या—जिसके पास जो वस्तु विद्यमान है उसी को वह दे सकता है, यह एक सिद्धान्त की बात है। ज्ञान के पास ज्ञान को छोड़कर और अज्ञान के पास अज्ञान को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं अतः ज्ञान की आराधना करने पर ज्ञान और अज्ञान की आराधना करने पर अज्ञान प्राप्त होता है।

ज्ञान के ज्ञात होने पर ज्ञानी जाना जाता है

न ज्ञान-ज्ञानिनोर्भेदो विद्यते सर्वथा यतः।
ज्ञाने ज्ञाते ततो ज्ञानी ज्ञातो भवति तत्त्वतः॥३५॥

अर्थ—चूँकि ज्ञान और ज्ञानी में सर्वथा भेद विद्यमान नहीं हैं इसलिए ज्ञान के ज्ञात होने पर वस्तुतः ज्ञानी ज्ञात होता है—जाना जाता है।

व्याख्या—ज्ञान और ज्ञानी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। ज्ञान गुण है, ज्ञानी गुणी है, गुण-गुणी में सर्वथा भेद नहीं होता; दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध होता है और इसलिए वास्तव में ज्ञान के मालूम पड़ने पर ज्ञानी (आत्मा) का होना जाना जाता है। यहाँ सर्वथा भेद न होने की जो बात कही गयी है वह इस बात को सूचित करती है कि दोनों में कथंचित् भेद है, जो कि संज्ञा (नाम), संख्या, लक्षण तथा प्रयोजनादि के भेद की दृष्टि से हुआ करता है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के निम्न वाक्य से प्रकट है—

संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च स्वलक्षण-विशेषतः।
प्रयोजनादि-भेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ देवागम ॥७२॥

ज्ञानानुभव से हीन के अर्थज्ञान नहीं बनता

ज्ञानं स्वात्मनि सर्वेण प्रत्यक्षमनुभूयते।
ज्ञानानुभवहीनस्य नार्थज्ञानं प्रसिद्ध्यति॥३६॥

अर्थ—सबके द्वारा अपने आत्मा में ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है। जो ज्ञान के अनुभव से रहित है, उसके पदार्थ का ज्ञान सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—सभी प्राणी किसी भी इन्द्रिय के द्वारा अपने आत्मा में ज्ञान का अनुभव करते हैं, यह प्रत्यक्ष देखने में आता है। जिसे अपने में कुछ भी ज्ञान का अनुभव नहीं होता उसके किसी भी पदार्थ का कोई ज्ञान नहीं बनता। छुईमुई (लाजवन्ती) नाम का पौधा जब स्पर्शन-इन्द्रिय के द्वारा यह महसूस करता है कि उसको किसी ने छुआ-उस पर कोई आपत्ति आयी तो वह अपने को संकुचित कर लेता अथवा मृतरूप में प्रदर्शित करता है, इससे उसके स्पर्श-विषयक अर्थज्ञान का होना पाया जाता है और इसलिए उसमें ज्ञान-गुण धारक ज्ञानी का अस्तित्व सिद्ध होता है चाहे वह ज्ञान कितनी ही थोड़ी मात्रा में विकसित क्यों न हो।

जिस परोक्षज्ञान से विषय को प्रतीति उससे ज्ञानी की प्रतीति क्यों नहीं?

प्रतीयते परोक्षेण ज्ञानेन विषयो यदि।
सोऽनेन परकीयेण तदा किं न प्रतीयते ॥३७॥

अर्थ—परोक्ष ज्ञान के द्वारा यदि विषय प्रतीत किया जाता है तो इस परकीय (परोक्ष) ज्ञान के द्वारा ज्ञानी आत्मा की प्रतीति क्यों नहीं होती?

व्याख्या—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच सम्यग्ज्ञानों में आदि के दो ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहे जाते हैं। इन परोक्ष ज्ञानों से जब इन्द्रियों का विषय समूह प्रतीति-गोचर होता है तब आत्मा जो ज्ञान का विषय ज्ञेय है वह इस परोक्ष ज्ञान के द्वारा क्यों प्रतीति-गोचर नहीं किया जाना चाहिए? किया जाना ही चाहिए। ज्ञेय होने से वह भी ज्ञान अथवा ज्ञानी का विषय है भले ही परोक्ष रूप में क्यों न हो।

जिससे पदार्थ जाना जाय उससे ज्ञानी न जाना जाय, यह कैसे?

येनार्थो ज्ञायते तेन ज्ञानी न ज्ञायते कथम्।
उद्योतो दृश्यते येन दीपस्तेन तरां न किम् ॥३८॥

अर्थ—जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसके द्वारा ज्ञानी (ज्ञाता) कैसे नहीं जाना जाता? जिसके द्वारा उद्योत (प्रकाश) देखा जाता है उसके द्वारा क्या दीपक नहीं देखा जाता? देखा ही जाता है।

व्याख्या—पिछले पद्य के विषय को यहाँ दीपक और उसके प्रकाशदर्शन के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश को देखने वाला दीपक को भी देखता है उसी प्रकार जो ज्ञेय रूप पदार्थ को जानता है वह उसके ज्ञायक अथवा ज्ञानी को भी जानता है, न जानने की बात कैसी?

वेद्य को जानना वेदक को न जानना आश्चर्यकारी

विदन्ति दुर्धियो वेद्यं वेदकं न विदन्ति किम्।
द्योत्यं पश्यन्ति न द्योतमाश्चर्यं बत कीदृशम्॥३९॥

अर्थ—दुर्बुद्धि वेद्य को तो जानते हैं वेदक को क्यों नहीं जानते? प्रकाश्य को तो देखते हैं किन्तु प्रकाश को नहीं देखते, यह कैसा आश्चर्य है?

व्याख्या—निःसन्देह ज्ञेय को जानना और ज्ञायक को ज्ञान या ज्ञानी को न जानना एक आश्चर्य की बात है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि प्रकाश से प्रकाशित वस्तु को तो देखना किन्तु प्रकाश को न देखना। ऐसे ज्ञायक विषय में अज्ञानियों को यहाँ दुर्बुद्धि, विकारग्रसित बुद्धि वाले बतलाया है। पिछले पद्य में दीपक और उसके उद्योत की बात को लेकर विषय को स्पष्ट किया गया है, यहाँ

उद्योत और उसके द्वारा द्योतित (द्योतनीय) पदार्थ की बात को लेकर उसी विषय को स्पष्ट किया गया है। द्योतक, द्योत और द्योत्य का जैसा सम्बन्ध है वैसा ही सम्बन्ध ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का है। एक के जानने से दूसरा जाना जाता है। जिसे एक को जानकर दूसरे का बोध नहीं होता वही सचमुच दुर्बुद्धि है।

ज्ञेय के लक्ष्य से आत्मा के शुद्धरूप को जानकर-ध्याने का फल

ज्ञेय-लक्ष्येण[1] विज्ञाय स्वरूपं परमात्मनः।
व्यावृत्त्य लक्ष्यतः शुद्धं ध्यायतो हानिरंहसाम् ॥४०॥

अर्थ—ज्ञेय के लक्ष्य-द्वारा आत्मा के परमस्वरूप को जानकर और लक्ष्यरूप से व्यावृत होकर शुद्ध स्वरूप का ध्यान करने वाले के कर्मों का नाश होता है।

व्याख्या—जो लोग ज्ञेय को जानने में प्रवृत्त होते हुए भी ज्ञायक को जानने में अपने को असमर्थ बतलाते हैं उन्हें यहाँ ज्ञेय के लक्ष्य से आत्मा के उत्कृष्ट स्वरूप को जानने की बात कही गयी है और साथ ही यह सुझाया गया है कि इस तरह शुद्धस्वरूप के सामने आने पर ज्ञेय के लक्ष्य को छोड़कर अपने उस शुद्धस्वरूप का ध्यान करो, इससे कर्मों की निर्जरा होती है।

पूर्व कथन का उदाहरण-द्वारा स्पष्टीकरण

[2]चट्टुकेन यथा भोज्यं गृहीत्वा स विमुच्यते।
गोचरेण तथात्मानं विज्ञाय स विमुच्यते ॥४१॥

अर्थ—जिस प्रकार कड़छी-चम्मच से भोजन ग्रहण करके उसे छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार गोचर के-ज्ञेय लक्ष्य द्वारा आत्मा को जानकर वह छोड़ दिया जाता है।

व्याख्या—यहाँ कड़छी-चम्मच के उदाहरण द्वारा पूर्व पद्य में वर्णित विषय को स्पष्ट किया गया है। कड़छी-चम्मच का उपयोग जिस प्रकार भोजन के ग्रहण करने में किया जाता है उसी प्रकार आत्मा के जानने में ज्ञेय के लक्ष्य का उपयोग किया जाता है। आत्मा का ग्रहण (जानना) हो जाने पर ज्ञेय का लक्ष्य छोड़ दिया जाता है और अपने ग्रहीत स्वरूप का ध्यान किया जाता है।

आत्मोपलब्धि पर ज्ञानियों की सुख-स्थिति

उपलब्धं यथाहारे दोषहीने सुखासिकः[3]।
आत्मतत्त्वे तथा क्षिप्रमित्यहो ज्ञानिनां रतिः॥४२॥

---

१. आ ज्ञायलक्षेण।

२. दीपहस्तो यथा कश्चित्किंचिदालोक्य तं त्यजेत्। ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तं ज्ञानमुत्सृजेत्॥ —यशस्तिलक।

३. आ सुखासिकका।

अर्थ—दोषरहित आहार के उपलब्ध होने पर जिस प्रकार सुख मिलता है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व के उपलब्ध होने पर शीघ्र सुख मिलता है, यह ज्ञानियों की आत्मतत्त्व में कैसी रति है।

व्याख्या—निर्दोष भोजन के मिलने पर जिस प्रकार प्राणियों की शीघ्र ही सुख से स्थिति होती है उसी प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्वरूप भोजन के मिल जाने पर ज्ञानियों की सुखपूर्वक स्थिति होती है, यह ज्ञानियों की आत्मतत्त्व में रुचि का वैचित्र्य है, वे उसी में लीन रहकर सुख का अनुभव करते हैं।

आत्मतत्त्वरतों के द्वारा परद्रव्य का त्याग

परद्रव्यं यथा सद्भिर्ज्ञात्वा दुःख-विभीरुभिः।
दुःखदं त्यज्यते दूरमात्मतत्त्वरतैस्तथा ॥४३॥

अर्थ—जिस प्रकार दुःख से भयभीत सत्पुरुषों के द्वारा परद्रव्य दूर से ही छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार आत्म-तत्त्व में लीन व्यक्तियों के द्वारा परद्रव्य दूर से ही छोड़ दिया जाता है।

व्याख्या—दुःख से भयभीत हुए सज्जन जिस प्रकार परद्रव्य को दुःखदायी समझकर उसे दूर से ही त्याग देते हैं-ग्रहण नहीं करते उसी प्रकार जो आत्मतत्त्व में रत हैं वे परद्रव्य की ग्रहण नहीं करते उसमें आसक्त नहीं होते।

विशोधित ज्ञान तथा अज्ञान की स्थिति

ज्ञाने विशोधिते ज्ञानमज्ञानेऽज्ञानमूर्जितम्।
शुद्धं स्वर्णमिव स्वर्णे लोहे लोहमिवाश्नुते[1]॥४४॥

अर्थ—ज्ञान के विशोधित होने पर ज्ञान और अज्ञान के विशोधित होने पर अज्ञान ऊर्जित-अतिशय को प्राप्त होता है, जैसे स्वर्ण के विशोधित होने पर शुद्ध स्वर्ण और लोहे के विशोधित होने पर शुद्ध लोहा गुणवृद्धि को प्राप्त होता है।

व्याख्या—ज्ञान में जो कुछ अज्ञान मिला हो उसको दूर करना 'ज्ञान का विशोधन' और अज्ञान में जो कुछ ज्ञान मिला हो उसका दूर करना 'अज्ञान का विशोधन' कहलाता है। यह विशोधित हुआ ज्ञान विशोधित शुद्ध स्वर्ण के समान सातिशय शुद्ध ज्ञान होता है और यह विशोधित हुआ अज्ञान विशोधित शुद्ध लोहे के समान विशुद्ध (खालिस) अज्ञान होता है।

निर्मल चेतन में मोहक दिखाई देने का हेतु

प्रतिबिम्बं यथादर्शे दृश्यते परसंगतः।
चेतने निर्मले मोहस्तथा[2] कल्मषसंगतः॥४५॥

---

१. लभते। २. आ मोहिस्तथा।

अर्थ—जिस प्रकार निर्मल दर्पण में पर के संयोग से प्रतिबिम्ब दिखाई देता है उसी प्रकार निर्मल चेतन में कर्म के सम्बन्ध से मोह दिखाई देता है।

व्याख्या—निर्मल दर्पण में जो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, उसका कारण उस परद्रव्य का सम्बन्ध है जो लेपादि के रूप में पृष्ठभाग पर लगा रहता है। निर्मल आत्मा में भी जो मोह दिखाई पड़ता है उसका कारण कषायादिरूप द्रव्यकर्म का सम्बन्ध है। यदि द्रव्यकर्म का सम्बन्ध न हो तो भाव मोह का दर्शन नहीं हो सकता।

शुद्धि के लिए ज्ञानाराधन में बुद्धि को लगाने की प्रेरणा

धर्मेण वासितो जीवो धर्मे पापे न वर्तते।
पापेन वासितो नूनं पापे धर्मे न सर्वदा॥४६॥
ज्ञानेन वासितो ज्ञाने नाज्ञानेऽसौ कदाचन।
यतस्ततो मतिः कार्या ज्ञाने शुद्धिं[१] विधित्सुभिः॥४७॥

अर्थ—धर्म से वासित–संस्कारित हुआ जीव, निश्चय से धर्म में प्रवर्तता है, अधर्म में नहीं। पाप से वासित–संस्कारित हुआ जीव, सदा पाप में प्रवृत्त होता है, धर्म में नहीं। चूँकि ज्ञान से संस्कारित हुआ जीव ज्ञान में प्रवृत्त होता है अज्ञान में कदाचित् नहीं, इसलिए शुद्धि की इच्छा रखने वालों के द्वारा ज्ञान में–ज्ञान की उपासना, आराधना में बुद्धि लगायी जानी चाहिए।

व्याख्या—यहाँ 'धर्म' शब्द के द्वारा पुण्य-प्रसाधक कर्म का उल्लेख करते हुए, पुण्य-पाप तथा ज्ञान की वासना-भावना अथवा संस्कृति को प्राप्त व्यक्तियों की अलग-अलग प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। जो लोग पुण्य धर्म की भावना से भावित अथवा संस्कारित होते हैं वे पुण्यकर्म में प्रवृत्त होते हैं, पापकर्म में नहीं। जो पाप की वासना से वासित अथवा संस्कारित होते हैं वे सदा पापकर्म में प्रवृत्ति करते हैं, पुण्य कर्म में नहीं और जो ज्ञानभावना से भावित अथवा संस्कारित होते हैं वे सदा ज्ञानाराधन में प्रवृत्त होते हैं–अज्ञान की साधना में कभी नहीं। प्रथम दो प्रवृत्तियों तथा निवृत्तियों का फल शुभ-अशुभ कर्म का बन्ध है, जिससे आत्मा की शुद्धि नहीं बनती अतः आत्मा की शुद्धि चाहने वालों के लिए यहाँ ज्ञानाराधन में अपनी बुद्धि को लगाने की प्रेरणा की गयी है। ज्ञानाराधन में बुद्धि को लगाना एक बड़ा तपश्चरण है, जिससे निरन्तर कर्मों की निर्जरा होती है।

१. आ सिद्धि।

निर्मलता को प्राप्त ज्ञानी अज्ञान को नहीं अपनाता

ज्ञानी निर्मलतां प्राप्तो नाज्ञानं प्रतिपद्यते।
मलिनत्वं कुतो याति[1] काञ्चनं हि विशोधितम्॥४८॥

अर्थ—निर्मलता को प्राप्त हुआ ज्ञानी अज्ञान को प्राप्त नहीं होता (ठीक है) विशोधित स्वर्ण मलिनता को कैसे प्राप्त होता है? नहीं होता।

व्याख्या—अनादि सम्बन्ध को प्राप्त किट्ट–कालिमा से विशोधित हुआ सुवर्ण जिस प्रकार पुनः उस मलिनता को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार अनादि कर्ममल का सम्बन्ध पूर्णतः छूटने पर निर्मलता को प्राप्त हुआ ज्ञानी पुनः अज्ञान को प्राप्त नहीं होता। यहाँ जिस निर्मल ज्ञानी का उल्लेख है, वह मोहक्षय के अनन्तर ज्ञानावरण और अन्तराय नाम के घातिया कर्मों के क्षय से समुत्पन्न केवलज्ञान का धनी ज्ञानी है।

विद्वान् के अध्ययनादि कर्मों की दिशा का निर्देश

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयं
पृच्छ्यं श्रव्यं भवति विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयम्।
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयं[3]
दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मस्थिरत्वम् ॥४९॥

अर्थ—इस लोक में विद्वान् के द्वारा वह कोई भी पदार्थ स्थिर चित्त से अध्ययन के योग्य, ध्यान के योग्य, आराधन के योग्य, पूछने के योग्य, सुनने के योग्य, अभ्यास के योग्य, संग्रहण के योग्य, जानने के योग्य, कहने के योग्य, प्रार्थना के योग्य, प्राप्त करने के योग्य, देखने के योग्य और स्पर्श के योग्य होता है, जिससे, जिसके अध्ययनादि से आत्मस्वरूप की स्थिरता सदा वृद्धि को प्राप्त होती है।

व्याख्या—इस पद्य में एक विद्वान् के लिए अध्ययनादि–विषयक जीवन के लक्ष्य को बड़ी सुन्दरता के साथ व्यापकरूप में व्यक्त किया है। वह लक्ष्य है अपने आत्मस्वरूप में स्थिरता की उत्तरोत्तर वृद्धि। इसी लक्ष्य को लेकर किसी भी पदार्थ का अध्ययन, ध्यान, आराधन, पृच्छन, श्रवण, अभ्यसन, ग्रहण, वेदन, कथन, याचन, दर्शन तथा स्पर्शन होना चाहिए। यदि उक्त लक्ष्य नहीं तो अध्ययनादि प्रायः व्यर्थ है। उससे कोई खास लाभ नहीं, उलटा शक्ति का दुरुपयोग होता है।

१. आ जाति। २. आ पृश्यं। ३. आ, व्या नीत्वा।

योगी का संक्षिप्त कार्यक्रम और उसका फल

इत्थं योगी व्यपगतपर-द्रव्य-संगप्रसङ्गो
नीत्वा कामं चपल-करण-ग्राममन्तर्मुखत्वम्।
ध्यात्वात्मानं विशदचरण-ज्ञान-दृष्टिस्वभावं,
[१]नित्यज्योतिः पदमनुपमं याति निर्जीर्णकर्मा ॥५०॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते निर्जराधिकारः॥६॥

अर्थ—इस प्रकार पर-द्रव्य के संग-प्रसंग से रहित हुआ कर्मों की निर्जरा करने वाला योगी चंचल इन्द्रिय समूह को यथेष्ट (अथवा पर्याप्त) अन्तर्मुख करके और विशुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव रूप आत्मा का ध्यान करके उस शाश्वत ज्योतिरूप परमात्मपद को प्राप्त होता है जिसकी कोई उपमा नहीं।

व्याख्या—इस पद्य में छठे अधिकार का उपसंहार करते हुए कर्मों की निर्जरा करने वाले योगी के स्वरूप को, ध्यान विषय को और ध्यान के फल को संक्षेप में स्पष्ट किया गया है। योगी का स्वरूप है परद्रव्यों के संग-प्रसंग से अलग होकर इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने वाला। इस योग्यता-सम्पादन के साथ उसके ध्यान का विषय है सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव को लिए हुए शुद्ध आत्मा और इस ध्यान का अन्तिम फल है शाश्वत ज्योति स्वरूप अनुपम परमात्म-पद की प्राप्ति।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंग योगिराज-विरचित योगसार-प्राभृत में निर्जरा अधिकार नाम का छठा अधिकार समाप्त हुआ॥६॥

१. मु नित्यं।

७

मोक्षाधिकार

मोक्ष का स्वरूप

[१]अभावे बन्ध-हेतूनां निर्जरायां च भास्वरः[२]।
समस्तकर्म-विश्लेषो मोक्षो वाच्योऽपुनर्भवः॥१॥

अर्थ—कर्मबन्ध के कारणों का अभाव होने पर और (संचित कर्मों की) निर्जरा होने पर (आत्मा से) निःशेष कर्म का जो विश्लेष है—सम्बन्धाभाव अथवा पृथकीभवन है वह भास्वर मोक्ष है, जिसे 'अपुनर्भव' कहते हैं, क्योंकि मोक्ष के पश्चात् फिर संसार में जन्म नहीं होता।

व्याख्या—'मोक्ष' नामक सातवें अधिकार का प्रारम्भ करते हुए यहाँ सबसे पहले मोक्ष का स्वरूप दिया गया है और वह है आत्मा से समस्त कर्म का पूर्णतः सम्बन्धाभाव, जिसे 'विश्लेष' तथा 'विप्रमोक्ष' भी कहते हैं और वह तभी बनता है, जब बन्ध के मिथ्यादर्शनादि वे सभी हेतु नष्ट हो जाते हैं, जिनका आस्रव तथा बन्ध अधिकारों में वर्णन है, साथ ही संचित कर्मों की पूर्णतः निर्जरा भी हो जाती है, जिससे न कोई नया कर्मबन्ध को प्राप्त हो सकता है और न कोई पुराना कर्म अवशिष्ट ही रहता है। इस तरह सर्व प्रकार के समस्त कर्म का जो सदा के लिए पृथकीभवन (सम्बन्धाभाव) है उसे 'मोक्ष' कहते हैं जिसका दूसरा नाम यहाँ 'अपुनर्भव' बतलाया है, क्योंकि भव प्राप्ति अथवा संसार में पुनः जन्म लेने का कारण कर्मरूपी बीज था, वह जब जलकर नष्ट हो गया तब फिर उसमें अंकुर नहीं उगता। कहा भी है—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्म-बीजे तथा दग्धे न प्ररोहति भवाङ्कुरः॥

—तत्त्वार्थसार ८-७।

आत्मा में केवलज्ञान का उदय कब होता है

उदेति केवलं जीवे[३] मोह-विघ्नावृति-क्षये।
भानु-बिम्बमिवाकाशे भास्वरं तिमिरात्यये॥२॥

अर्थ—मोह अन्तराय और आवरणों का क्षय होने पर आत्मा में केवलज्ञान उसी प्रकार उदय को प्राप्त होता है जिस प्रकार (रात्रि का घोर) अन्धकार दूर होने पर आकाश में सूर्य बिम्ब उदय को प्राप्त होता है।

---

१. बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः। -त० सूत्र १०-२। २. आ निर्जरायाश्च भावतः। ३. आ जीवो।

व्याख्या—यहाँ 'मोह' शब्द से समूचा मोहनीय कर्म विवक्षित है, जिसकी मिथ्यात्व तथा कषायादि के रूप में २८ प्रकृतियाँ हैं; 'विघ्न' शब्द से सारा अन्तराय कर्म विवक्षित है, जिसकी दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य नाम से ५ प्रकृतियाँ हैं, 'आवृति' शब्द से आवरण विवक्षित है, जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के रूप में दो प्रकार का है। इस तरह जिन चार मूल प्रकृतियों का यहाँ उल्लेख है, उन्हें घातिकर्म प्रकृतियाँ कहा जाता है। उनके पूर्णतः क्षय होने पर आत्मा में केवलज्ञान का उदय उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार कि रात्रि का घोर अन्धकार नष्ट होने पर आकाश में देदीप्यमान सूर्यबिम्ब का उदय होता है।

दोषों से मलिन आत्मा में केवलज्ञान उदित नहीं होता

न दोषमलिने तत्र प्रादुर्भवति केवलम्।
आदर्शे न मलग्रस्ते किंचिद् रूपं प्रकाशते ॥३॥

अर्थ—आत्मा के दोषों से मलिन होने के कारण उसमें केवलज्ञान प्रादुर्भूत नहीं होता (जैसे) मल से अभिभूत दर्पण में रूप कुछ प्रकाशित नहीं होता।

व्याख्या—यहाँ पिछली (केवलज्ञान के पद्य की) बात को और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो आत्मा दोषों से राग, द्वेष, काम, क्रोधादि मलों से मलिन है उसमें केवलज्ञान उसी प्रकार से उदय को प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार धूल-धूसरित दर्पण में कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। रूप के ठीक दिखलाई देने के वास्ते जिस प्रकार दर्पण का निर्मल होना परमावश्यक है उसी प्रकार केवलज्ञान के उदय के लिए उस चतुर्विध घाति कर्ममल का नष्ट होना परमावश्यक है। जिसका पिछले पद्य में उल्लेख है।

मोहादि-दोषों का नाश शुद्धात्मध्यान के बिना नहीं होता

न मोह-प्रभृतिच्छेदः शुद्धात्मध्यानतो विना।
कुलिशेन विना येन भूधरो भिद्यते न हि ॥४॥

अर्थ—शुद्ध आत्मा के ध्यान के बिना मोहादि कर्मों का छेद उसी प्रकार नहीं बनता जिस प्रकार कि वज्र के बिना पर्वत नहीं भेदा जाता।

व्याख्या—जिन मोहादि चार घातिया कर्मों के पूर्णतः क्षय होने पर केवलज्ञान का उदय अवलम्बित है उनका वह क्षय शुद्ध आत्मा के ध्यान के बिना नहीं बनता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि वज्र के बिना पर्वत का भेदन नहीं हो सकता। इस तरह यहाँ शुद्ध आत्मा के ध्यान को कर्मरूपी पर्वतों के विदारणार्थ उपायरूप में निर्दिष्ट किया है, जो किसी के अधीन न होकर स्वाधीन है। मोहादिकर्म समूह को भूधर की उपमा उसके कठिनता से विदीर्ण होने का सूचक है।

ध्यान-वज्र से कर्मग्रन्थि का छेद अतीवानन्दोत्पादक

विभिन्ने सति दुर्भेदकर्म ग्रन्थि-महीधरे।
तीक्ष्णेन ध्यानवज्रेण भूरि-संक्लेश कारिणि[१]॥५॥
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः।
औषधेनेव सव्याधेर्व्याधेरभिभवे[२] कृते॥६॥

अर्थ—बहुत भारी संक्लेश का कारण जो कर्म ग्रन्थिरूप दुर्भेद पर्वत है उसके ध्यानरूपी तीक्ष्ण वज्र से छिन्न-भिन्न होने पर इस योगी महात्मा के अतीव तात्त्विक (असली) आनन्द उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि रोग से पीड़ित रोगी के औषध से रोग के दूर हो जाने पर यथेष्ट आनन्द प्राप्त होता है।

व्याख्या—जिस पर्वत के भेदन की बात पिछले पद्य में कही गयी है वह कर्मों की गाँठों वाला बड़ा ही दुर्भेद और अतीव दुःखदायी पर्वत है। उसे शुद्धात्मा के ध्यानरूप तीक्ष्ण वज्र के द्वारा ही भेदन किया जाता है—अन्य के द्वारा उसका आत्मा से पूर्णतः भेदन-विघटन नहीं बनता। उस दुर्भेद एव महादुःखदायी कर्म पर्वत का उक्त ध्यानवज्र से भेदन-विश्लेषण हो जाने पर ध्याता महात्मा को अत्यन्त वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि व्याधि से पीड़ित रोगी को औषध-द्वारा व्याधि के मूलतः नष्ट हो जाने पर होती है।

किस केवली की कब धर्म-देशना होती है

साक्षादतीन्द्रियानर्थान् दृष्ट्वा केवलचक्षुषा[३]।
प्रकृष्ट-पुण्य-सामर्थ्यात् प्रातिहार्यसमन्वितः॥७॥
अवन्ध्य-देशनः श्रीमान् यथाभव्य-नियोगतः।
महात्मा केवली कश्चिद् देशनायां प्रवर्तते॥८॥

अर्थ—केवलज्ञान-दर्शनरूप चक्षु से अतीन्द्रिय पदार्थों को साक्षात्, देख-जानकर, प्रकृष्ट पुण्य के सामर्थ्य से (अष्ट) प्रातिहार्य से युक्त श्रीसम्पन्न अमोघ-देशना-शक्ति को प्राप्त कोई केवली महात्मा, जैसा भव्य जीवों का नियोग होता है उसके अनुसार, देशना में—धर्मोपदेश के देने में प्रवृत्त होता है।

व्याख्या—जो पदार्थ इन्द्रियगोचर नहीं थे उन अतीन्द्रिय पदार्थ का भी केवलज्ञानी को केवल नेत्र के द्वारा साक्षात् दर्शन होता है। यह बात यहाँ पहले पद्य में बतलायी गयी है, उसके पश्चात् महात्मा केवली की धर्मोपदेश के देने में प्रवृत्ति की दूसरी बात कही गयी है। इस दूसरी बात के

१. आ संश्लेशकारणि। २. आ व्याधिरभिभवे। ३. आ केवलि चक्षुषा।

प्ररूपण में केवली का 'कश्चित्' विशेषण अपना खास महत्त्व रखता है और इस बात को सूचित करता है कि सभी केवलज्ञानी धर्मोपदेश के देने में प्रवृत्त नहीं होते उसमें से कोई महात्मा ही धर्मोपदेश के देने में प्रवृत्त होते हैं और वे वही होते हैं, जो सातिशय पुण्योदय के प्रभाव से उन प्रातिहार्यों को प्राप्त करते हैं, जिनकी संख्या आगम में आठ कही गयी है और वे हैं–१. अशोकवृक्ष, २. सुरपुष्पवृष्टि, ३. दिव्यध्वनि, ४. चँवर, ५. छत्र, ६. सिंहासन, ७. भामंडल ८. दुन्दुभि।[1] साथ ही अमोघ देशना शक्ति से युक्त होते हैं–जिनकी धर्मदेशना कभी निष्फल नहीं जाती; परन्तु वे उस फल की एषणा (इच्छा) से कभी आतुर नहीं होते[2] और उनकी उस धर्मदेशना का निमित्त कारण होता है भव्य जीवों के भाग्य का उदयादिक, जिसे 'यथाभव्य-नियोगतः' पद के द्वारा सूचित किया गया है। अन्तरंग कारण तीर्थंकर प्रकृति के उदय को समझना चाहिए; जैसा कि आप्तपरीक्षा के ''विना तीर्थकरत्वेन नाम्ना नार्थोपदेशता (१६)'' इस वाक्य से जाना जाता है। मोहनीयकर्म का सर्वथा अभाव हो जाने से केवलज्ञानी में इच्छा तथा राग का अस्तित्व नहीं बनता अतः बिना इच्छा तथा राग के ही अन्तरंग और बहिरंग दोनों कारणों के मिलने पर उनकी धर्मदेशना में स्वतः प्रवृत्ति होती है।

ज्ञान किस प्रकार आत्मा का स्वभाव है

विभावसोरिवोष्णत्वं चरिष्णोरिव[3] चापलम्।
शशाङ्कस्येव शीतत्वं स्वरूपं ज्ञानमात्मनः॥९॥

अर्थ–ज्ञान आत्मा का उसी प्रकार से स्वभाव है जिस प्रकार कि सूर्य का उष्णपना, वायु का चंचलपना और चन्द्रमा का शीतलपना स्वरूप है।

व्याख्या–जिस केवलज्ञान के उदय का दूसरे पद्य में उल्लेख है वह आत्मा में किसी नयी वस्तु का उत्पाद नहीं है किन्तु आत्मा का उसी प्रकार से स्वभाव है जिस प्रकार कि सूर्य का उष्णत्व, चन्द्रमा का शीतलत्व और वायु का चंचलत्व स्वभाव है। स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता भले ही प्रतिबन्धक कारणों के वश उसका तिरोभाव, आच्छादन या गोपन हो जाये।

आत्मा का चैतन्यरूप क्यों स्वकार्य में प्रवृत्त नहीं होता

चैतन्यमात्मनो रूपं तच्च ज्ञानमयं विदुः।
प्रतिबन्धक-सामर्थ्यान्न स्वकार्ये प्रवर्तते॥१०॥

अर्थ–आत्मा का रूप चैतन्य है और वह ज्ञानमय कहा गया है, प्रतिबन्धक की सामर्थ्य से वह अपने कार्य में प्रवृत्त नहीं होता।

---

१. अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च। भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्।
२. नाऽपि शासन-फलैषरतातुरः। –समन्तभद्र। ३.आ चरणोरिव; आ चरण्योरिव।

व्याख्या—चैतन्य भी आत्मा का स्वरूप कहा जाता है, उसके विषय को यहाँ स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि वह ज्ञानमय है–ज्ञान से भिन्न चैतन्य दूसरी कोई वस्तु नहीं है। साथ ही यह भी बतलाया है कि जो ज्ञान या चैतन्य आत्मा का पिछले पद्यानुसार स्वभाव है वह प्रतिबन्धक कारणों के बल से अपने कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। केवलज्ञान के प्रतिबन्धक कारण वे चार घातिया कर्म हैं जिनका दूसरे पद्य में उल्लेख है और इसी से उनके पूर्णतः विनाश पर केवलज्ञान के उदय की बात कही गयी है।

सांख्यमत में आत्मा का स्वरूप चैतन्यमात्र बतलाया गया है और उस चैतन्य को ज्ञान शून्य लिखा है।[१] यहाँ 'तच्च ज्ञानमयं' वाक्य के द्वारा उसका प्रतिवाद किया गया है।

प्रतिबन्धक के बिना ज्ञानी ज्ञेय-विषय में अज्ञ नहीं रहता

[२]ज्ञानी ज्ञेये[३] भवत्यज्ञो नासति प्रतिबन्धके।
प्रतिबन्धं विना वह्निर्न दाह्येऽदाहकः कदा ॥११॥

अर्थ—ज्ञेय के होने और उसका कोई प्रतिबन्धक न होने पर ज्ञानी उस विषय में अनभिज्ञ नहीं होता–उसे जानकर ही रहता है। (ठीक है) अग्नि दाह के योग्य (सूखे) ईंधन के होते हुए प्रतिबन्धक के अभाव में कभी अदाहक नहीं होती, वह उसको जलाकर ही रहती है।

व्याख्या—जो ज्ञानमय है अथवा ज्ञान जिसका रूप-स्वभाव है उसको 'ज्ञानी' कहते हैं। ज्ञान और ज्ञानी में सर्वथा भेद नहीं होता, यह बात छठे अधिकार के ३५ वें पद्य में बतलायी जा चुकी है और पिछले पद्य में यह बतलाया गया है कि प्रतिबन्धक के बल से ज्ञान अपने कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। वहाँ उस केवलज्ञानी का उल्लेख है जिसके ज्ञान के समस्त प्रतिबन्धक कारण नष्ट हो चुके हैं और इसलिए वह किसी भी ज्ञेय के ज्ञान के विषयभूत पदार्थ के जानने में अज्ञानी नहीं होता, यह प्रतिपादन किया गया है। साथ ही एक सुन्दर उदाहरण के द्वारा उसे स्पष्ट किया गया है। वह उदाहरण है दाह्य और दाहक का, 'दाहक' अग्नि को और 'दाह्य' त्वरित जलने योग्य सूखे ईंधन को कहते हैं। अग्नि और उस ईंधन के सम्बन्ध में यदि कोई बाधक न हो तो अग्नि उस ईंधन को न जलाये यह कभी नहीं होता। इसी तरह केवलज्ञानी के ज्ञान-विषयक जब कोई प्रतिबन्धक-बाधक कारण नहीं रहा तब वह किसी ज्ञेय को न जाने यह कभी नहीं हो सकता।

---

१. ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मा इति सांख्यमतम्'–इष्टोपदेशटीकायामाशाधरः। २. ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने। दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने।–अष्टसहस्री में उद्धृत पुरातन वाक्य। ३.मु ज्ञेयो।

ज्ञानी के देशादि का विप्रकर्ष कोई प्रतिबन्ध नहीं

प्रतिबन्धो न देशादि-विप्रकर्षोऽस्य युज्यते।
तथानुभव-सिद्धत्वात् सप्तहेतेरिव[1] स्फुटम्॥१२॥

अर्थ—इस केवलज्ञानी के देशादि का विप्रकर्ष दूर स्थितिरूप प्रतिबन्ध-युक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा अनुभव से सिद्ध होता है, सूर्य के समान।

व्याख्या—पिछले पद्य में प्रतिबन्ध के न होने की जो बात कही गयी है उसे न मानकर यदि कोई कहे कि देशादिक की दूरी केवलज्ञान का प्रतिबन्ध है तो यह कहना ठीक 'नहीं है; क्योंकि केवलज्ञानी के यह प्रतिबन्ध नहीं बनता, ऐसा अनुभव से सिद्ध होता है, जो लाखों मील की दूरी पर स्थित होने पर भी पृथ्वी के पदार्थ को प्रकाशित करता है। पृथ्वी और सूर्य के मध्य की दूरी में जितने भी पुद्‌गल परमाणु स्थित हैं, वे सभी सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, तब दूरी का विषय प्रकाशकत्व में बाधक नहीं कहा जा सकता। केवलज्ञानी के ज्ञान और उस दूरवर्ती पदार्थ के मध्य में भी जितने पुद्‌गल परमाणु तथा आकाशादि द्रव्यों के प्रदेश स्थित हैं, उन सबको भी केवलज्ञान जब जानता है, तब उस दूरवर्ती पदार्थ की दूरी उसके जानने में बाधक कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। निकट और दूरवर्ती सभी ज्ञेय ज्ञान का विषय होने से उनके जानने में केवलज्ञानी के बाधा के लिए कोई स्थान नहीं रहता। इसी तरह काल का कोई अन्तर तथा वस्तु के स्वभाव की सूक्ष्मता भी किसी वस्तु के जानने में केवली के लिए बाधक नहीं होती। सभी ज्ञेय होने से उसके ज्ञान के विषय हैं और वह उन्हें साक्षात् रूप में जानता है। इसी से स्वामी समन्तभद्र ने सूक्ष्म, अन्तरित, और दूरवर्ती सभी पदार्थ को केवलज्ञानी सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय बतलाया है।[2]

यदि यह कहा जाये कि एक सूर्य एक समय में सारे विश्व को प्रकाशित करता हुआ नहीं देखा जाता, एक जगह दिन हैं तो दूसरी जगह रात्रि है, इससे उसकी शक्ति सीमित जान पड़ती है अतः सूर्य का दृष्टान्त ठीक घटित नहीं होता, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि दृष्टान्त विषय को समझने के लिए प्रायः एकदेशी होता है-सर्वदेशी नहीं। रही शक्ति-की बात, सूर्य को शक्ति सीमित जरूर है परन्तु केवली की शक्ति वीर्यान्तराय कर्म का अभाव हो जाने से सीमित नहीं होती असीमित तथा अनन्त होती हैं।

ज्ञानस्वभाव के कारण आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी

सामान्यवद् विशेषाणां स्वभावो ज्ञेयभावतः।
ज्ञायते स च वा साक्षाद् विना विज्ञायते कथम् ॥१३॥

---

१. अग्नेरिव। २. सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा। अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥ -देवागम।

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च ततो[1] ज्ञानस्वभावतः।
नास्य ज्ञान-स्वभावत्वमन्यथा घटते स्फुटम्॥१४॥

अर्थ—सामान्य की तरह विशेषों का स्वभाव ज्ञेयभाव से जाना जाता है और वह स्वभाव प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना कैसे स्पष्ट जाना जाता है? नहीं जाना जाता है। अतः ज्ञानस्वभाव के कारण (आत्मा) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है अन्यथा यदि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी नहीं तो स्पष्टतः ज्ञानस्वभावपना भी इस आत्मा के घटित नहीं होता।

व्याख्या—सर्व पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक होते हैं। ऐसा कोई भी पदार्थ संसार में नहीं जो केवल सामान्यरूप हो या केवल विशेषरूप ही हो। सामान्य के साथ विशेष का और विशेष के साथ सामान्य का अविनाभाव-सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में सामान्य को जो द्रव्यरूप में होता है, जिस प्रकार ज्ञेयभाव से जाना जाता है उसी प्रकार उसके विशेषों-पर्यायों के स्वभाव को भी ज्ञेयभाव से जाना जाता है। स्वभाव का यह परिज्ञान चूँकि बिना उस पदार्थ को साक्षात् किये प्रत्यक्ष अनुभव में लाये नहीं बन सकता अतः ज्ञानस्वभाव के कारण यह आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है, अन्यथा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी न होने की हालत में इस आत्मा के ज्ञान-स्वभाव भी नहीं बनता। यहाँ ज्ञानस्वभावहेतु से आत्मा का सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व सिद्ध किया गया है। जब आत्मा ज्ञानरूप है (आत्मा ज्ञानं) और सर्वपदार्थ ज्ञेयरूप है तब कोई भी पदार्थ चाहे वह कितनी ही दूरी पर क्यों न स्थित हो और काल के कितने ही अन्तर को लिए हुए क्यों न हो, उस केवलज्ञान का विषय होने से नहीं बच सकता जो कि सर्वथा ज्ञानावरणादिरूप प्रतिबन्धक से रहित, निर्बाध और असीम (अनन्त) है।

केवली शेष किन कर्मों को कैसे नष्ट कर निर्वृत होता है

वेद्यायुर्नाम-गोत्राणि यौगपद्येन केवली।
शुक्लध्यान-कुठारेण छित्त्वा गच्छति निर्वृतिम् ॥१५॥

अर्थ—केवलज्ञानी वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र (इन चार अघातिया) कर्मों को शुक्लध्यानरूपी कुठार से एक साथ छेदकर मुक्ति को प्राप्त होता है।

व्याख्या—कर्मों की आठ मूल प्रकृतियों में से जिन चार प्रकृतियों का यहाँ उल्लेख है वे अघातिया कर्म प्रकृतियाँ कहलाती हैं, जब तक उनका छेद नहीं होता तब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। केवलज्ञानी उनका किसी क्रम से छेद नहीं करता किन्तु एक साथ सबका छेद कर डालता है। जिस शक्तिशाली कुठार से यह छेद कर्म किया जाता है उसको यहाँ शुक्लध्यान के नाम से उल्लेखित किया है। शुक्लध्यान के चार भेद आगम में वर्णित हैं, यहाँ 'व्युपरतक्रियानिवृत्ति' नाम का अन्तिम

---
१. मु तथा।

(चौथा) शुक्लध्यान ही विवक्षित जान पड़ता है, जिसके अनन्तर मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसी से उक्त शुक्लध्यान द्वारा अघातिया कर्म का विच्छेद करके मुक्ति को प्राप्त करना लिखा है। उक्त कर्मों के विच्छेद से पूर्व उनकी स्थिति को योग-निरोध द्वारा आयुकर्म की स्थिति के तुल्य कर लिया जाता है, तभी शुक्लध्यान के एक ही झटके में उन सबका युगपत् छेद बनता है।

शुक्लध्यान से कर्म नहीं छिदता, ऐसा वचन अनुचित

कर्मैव भिद्यते[1] नास्य शुक्ल-ध्यान-नियोगतः।
नासौ विधीयते कस्य नेदं वचनमञ्चितम्॥१६॥
कर्म-व्यपगमे(मो) राग-द्वेषाद्यनुपपत्तितः।
आत्मनः संग (ना सह) रागाद्याः न नित्यत्वेन संगताः॥१७॥

अर्थ—यदि यह कहा जाये कि इस केवली के शुक्लध्यान के नियोग से कर्म सर्वथा भेद को प्राप्त नहीं होता और न किसी के मोक्ष बनता है तो यह वचन ठीक नहीं है; क्योंकि राग-द्वेषादि की उत्पत्ति न होने में कर्म का विनाश होता है, नये कर्म बँधते नहीं तथा पूर्व बँधे कर्मों की निर्जरा हो जाती है और आत्मा के साथ रागादि का कोई शाश्वत सम्बन्ध नहीं है वे उपजते तथा विनशते देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में शुक्लध्यान द्वारा राग-द्वेष का अभाव होने से कर्म का अभाव और कर्म के अभाव से मोक्ष का होना सुघटित है। इसमें शंका तथा आपत्ति के लिए कोई स्थान नहीं।

व्याख्या—यहाँ शंकाकार ने अपनी शंका के समर्थन में कोई हेतु नहीं दिया; प्रत्युत इसके समाधानरूप प्रतिवाद में एक अच्छे हेतु का प्रयोग किया गया है और वह है राग-द्वेषादि की अनुपपत्ति। राग-द्वेषादिकरूप परिणाम कर्मों की उत्पत्ति स्थिति आदि के कारण हैं और किसी भी राग-द्वेषादि का आत्मा के साथ कोई शाश्वत सम्बन्ध नहीं है, वे अपने-अपने निमित्त को पाकर उत्पन्न होते तथा विनाश को प्राप्त होते रहते हैं। केवली में मोहनीयकर्म का अभाव हो जाने से राग-द्वेषादि की उत्पत्ति स्थिति आदि का कोई कारण नहीं रहता, राग-द्वेषादि की उत्पत्ति स्थिति आदि का पूर्णतः अभाव हो जाने से कर्म का विनाश होना स्वाभाविक है और कर्म के सर्वथा विनाश हो जाने पर मोक्ष का होना अवश्यम्भावी है, उसे फिर कोई रोक नहीं सकता।

सुखीभूत निर्वृत जीव फिर संसार में नहीं आता

न निर्वृतः सुखीभूतः पुनरायाति संसृतिम्।
सुखदं हि पदं हित्वा दुःखदं कः प्रपद्यते ॥१८॥

अर्थ—(इसके सिवाय) सुखीभूत मुक्तात्मा पुनः संसारी नहीं बनता। (ठीक है) सुखदायी पद

---

१. आ, व्या विद्यते।

को छोड़कर कौन (स्वेच्छा से) दुःखद पद को प्राप्त होता है? कोई भी नहीं होता।

व्याख्या—१५ वें पद्य के अनुसार निर्वृत्ति (निर्वाण) को प्राप्त हुआ केवली क्या फिर से संसार में आता है संसारी बनता है? यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर इस पद्य में दिया गया है और वह है नकारात्मक अर्थात् नहीं आता और उसका कारण यह बतलाया है कि निर्वाण को प्राप्त हुआ जीव सुखीभूत होता हैं, अपने स्वाधीन शुद्ध सुख को प्राप्त कर लेता है, तब वह अपने उस सुख को छोड़कर दुःख के ग्रहण में कैसे प्रवृत्त हो सकता हैं? नहीं हो सकता; क्योंकि कोई भी स्वाधीन जीव स्वेच्छा से सुखदायी पद को छोड़कर दुःखदायी पद ग्रहण नहीं करता, यह प्रत्यक्ष देखने में आता हैं। निर्वाण जिसे निर्वृत्ति, निःश्रेयस तथा मोक्ष भी कहते हैं, वह जन्म, जरा, रोग, मरण, शोक, दुःख और भय आदि से परिमुक्त, शाश्वत शुद्ध सुख के रूप में होता है; जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के समीचीन-धर्मशास्त्रगत निम्न वाक्य से प्रकट है—

जन्म-जरामय-मरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१३१॥

ऐसे शुद्ध और सदा के लिए प्राप्त स्वाधीन सुख पद को छोड़कर कोई भी विवेकी जीव बिना किसी परतन्त्रता के सांसारिक दुःख पद को ग्रहण करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता। यदि किसी के विषय में यह कहा जाता है कि उसने अमुक का उद्धार करने अथवा संसार के अमुक वर्गीय जीवों का दुःख मिटाने के लिए अवतार धारण किया है तो समझ लेना चाहिए कि वह मुक्ति को प्राप्त अथवा पूर्णतः सुखी जीव नहीं है, मोह से अभिभूत संसार का ही एक प्राणी है, चाहे कितने ही सांसारिक ऊँचे पद को प्राप्त क्यों न हो।

कर्म का अभाव हो जाने से पुनः शरीर का ग्रहण नहीं बनता

शरीरं न स गृह्णाति भूयः कर्म-व्यपायतः।
कारणस्यात्यये कार्यं न कुत्रापि प्ररोहति॥१६॥

अर्थ—वह मुक्तामा कर्म का विनाश हो जाने से पुनः शरीर ग्रहण नहीं करता। (ठीक है) कारण का नाश हो जाने पर कहीं भी कार्य उत्पन्न नहीं होता।

व्याख्या—मुक्त हुआ जीव फिर से शरीर को ग्रहण नहीं करता; क्योंकि संसारावस्था में शरीर के ग्रहण का कारण 'नाम' कर्म था, वह जब सर्वथा नष्ट हो गया तब कारण के अभाव में कार्य का उत्पाद कैसे हो सकता है? अतः जिनके मन में मुक्ति से पुनरागमन की अथवा मुक्तात्मा के शरीर धारण कर सांसारिक कार्यों को करने-कराने की बात कही गयी वह दो कारणों से युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती, एक कारण का पिछले पद्य में निर्देश है और दूसरे का इस पद्य में निर्देश किया गया है।

ज्ञान को प्रकृति का धर्म मानना असंगत

न ज्ञानं प्राकृतो धर्मो मन्तव्यो मान्य-बुद्धिभिः।
अचेतनस्य न ज्ञानं कदाचन विलोक्यते॥२०॥

अर्थ—जो मान्य बुद्धि हैं उनके द्वारा ज्ञान प्रकृति का धर्म नहीं माना जाना चाहिए; (क्योंकि) अचेतन पदार्थ के ज्ञान कभी देखा नहीं जाता।

व्याख्या—सांख्यमत में आत्मा को ज्ञानशून्य चैतन्य मात्र बतलाया है और ज्ञान को प्रकृति का धर्म निर्दिष्ट किया है, यहाँ उसका प्रतिषेध करते हुए माननीय बुद्धि के धारकों से–विवेकशील विद्वानों से यह अनुरोध किया है कि उन्हें ऐसा नहीं मानना चाहिए; क्योंकि अचेतन के–प्रकृतिजन्य के कभी भी ज्ञान का होना देखने में नहीं आता। अतः ज्ञान को प्रकृतिजन्य मानना प्रत्यक्ष के विरुद्ध है।

ज्ञानादि गुणों के अभाव में जीव की व्यवस्थिति नहीं बनती

दुरितानीव न ज्ञानं निर्वृतस्यापि गच्छति।
काञ्चनस्य मले नष्टे काञ्चनत्वं न नश्यति॥२१॥
न ज्ञानादि-गुणाभावे जीवस्यास्ति व्यवस्थितिः।
लक्षणापगमे लक्ष्यं न कुत्राप्यवतिष्ठते॥२२॥

अर्थ—मुक्तात्मा के कर्मों की तरह ज्ञान नष्ट नहीं होता। (ठीक है) सुवर्ण का मल नष्ट होने पर सुवर्ण नष्ट नहीं होता। ज्ञानादि गुणों का अभाव होने पर जीव की अवस्थिति नहीं बनती। (ठीक है) लक्षण का अभाव होने पर लक्ष्य कहीं भी नहीं ठहरता है।

व्याख्या—यदि कोई वैशेषिक मत का पक्ष लेकर यह कहे कि मुक्तात्मा के जिस प्रकार कर्म नष्ट होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान भी नष्ट हो जाता है तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि सुवर्ण का मल नष्ट होने पर जिस प्रकार सुवर्णत्व नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार मुक्तात्मा ज्ञानी के ज्ञान-मल नष्ट होने पर ज्ञान नष्ट नहीं होता। वास्तव में ज्ञानादि गुणों का अभाव होने पर तो जीव की कोई व्यवस्थिति ही नहीं बनती; क्योंकि ज्ञान-दर्शन गुण जीव के लक्षण हैं; जैसा कि जीवाधिकार में बतलाया जा चुका है। लक्षण का अभाव होने पर लक्ष्य का फिर कोई अस्तित्व नहीं बनता। ऐसी स्थिति में वैशेषिकों ने बुद्ध्यादि वैशेषिक गुणों के उच्छेद को मोक्ष माना है, वह तर्कसंगत मालूम नहीं होता, उनके यहाँ तब जीव का अस्तित्व भी नहीं बनता। गुणों का अभाव हो जाये और गुणी बना रहे यह कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

बिना उपाय के बन्ध को जानने मात्र से कोई मुक्त नहीं होता

विविधं बहुधा बन्धं बुध्यमानो न मुच्यते।
कर्म-बद्धो विनोपायं गुप्ति[1]-बद्ध इव ध्रुवम् ॥२३॥

विभेदं लक्षणैर्बुद्ध्वा स द्विधा जीव-कर्मणोः।
मुस्तकर्मात्मतत्त्वस्थो मुच्यते सदुपायवान् ॥२४॥

अर्थ—कर्मों से बँधा हुआ जीव नाना प्रकार के कर्मबन्धनों को बहुधा (प्रायः) जानता हुआ भी निश्चय से बिना उपाय किये मुक्त नहीं होता, जैसे कि कारागृह में पड़ा हुआ बन्दी। जो जीव और कर्म को उनके लक्षणों से दो प्रकार के (भिन्न पदार्थ) जानकर कर्म को छोड़ता—कर्म से उपेक्षा धारण करता और आत्मतत्त्व में लीन होता है वह सद् उपायवान् है और कर्मों से छूटता है।

व्याख्या—जिस प्रकार बाँध जूड़कर डाला हुआ कोई मनुष्य यह जानते हुए भी कि मुझे अमुक ने बाँध जूड़ कर डाला है, अमुक प्रकार की रस्सी आदि के बन्धनों में मैं बँधा हुआ हूँ और मेरे शरीर के अमुक-अमुक अंगों पर अमुक प्रकार के बन्धन हैं अपने इस जानने मात्र से बिना उपाय किये उन बन्धनों से छुटकारा नहीं पा सकता; जो ठीक उपाय करता है वह छुटकारा पाता है। उसी प्रकार कर्मों से बँधा हुआ यह संसारी जीव अपने को कर्मों से बँधा हुआ और कर्मों के प्रकारों-प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध के रूप से बन्ध के भेदों आदि को जानता हुआ भी बिना उपाय किये उन कर्मबन्धनों से छुटकारा नहीं पा सकता, यह बात गहरे गर्त में बँधे पड़े अथवा कारागृह में सदा के लिए बन्द किये कैदी के उदाहरण द्वारा प्रथम पद्य में सुझायी गयी और दूसरे पद्य में कर्मबन्धन से छूटने के समीचीन उपाय को प्रदर्शित किया गया है, जो कि अपने आत्मस्वरूप और कर्मस्वरूप को लक्षणों से जानकर कर्म में उपेक्षा धारण रूप विरक्ति और अपने आत्मस्वरूप में स्थिति के रूप में है। इस श्रेष्ठ उपाय का करने वाला भव्य मानव अवश्य ही कर्मबन्धनों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त होता है। इसी बात को श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार की निम्न चार गाथाओं में प्रदर्शित किया है—

इय कम्मबंधणाणं पएस-ठिइ-पयडिमेवमणुभावं।
जाणंतो वि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जदि सुद्धो॥२९०॥
जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावइ विमोक्खं॥२९१॥
जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं॥२९२॥

---

१. कारागार।

बंधाणं च सहाबं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्म-विमोक्खणं कुणई॥२९३॥

इस प्रकार मुक्ति के लिए सच्चारित्र शून्य ज्ञान को निरर्थक बतलाया गया है।

जीव के शुद्धाशुद्ध की अपेक्षा दो भेद

एको जीवो द्विधा प्रोक्तः शुद्धाशुद्ध-व्यपेक्षया।
सुवर्णमिव लोकेन व्यवहारमुपेयुषा॥२५॥

संसारी कर्मणा युक्तो मुक्तस्तेन विवर्जितः।
अशुद्धस्तत्र संसारी मुक्तः शुद्धोऽपुनर्भवः[१]॥२६॥

अर्थ—एक जीव शुद्ध-अशुद्ध की अपेक्षा से दो प्रकार का कहा गया है, जिस प्रकार व्यवहारीजन के द्वारा सुवर्ण शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का कहा जाता है। जो कर्म से युक्त है वह 'संसारी' और जो कर्म से रहित है वह 'मुक्त' जीव है। दोनों में संसारी अशुद्ध और मुक्त जीव शुद्ध माना है, जो पुनः भवधारण नहीं करता।

व्याख्या—वस्तुतः देखा जाये तो अपने गुण-स्वभाव की दृष्टि से सुवर्ण धातु एक है, परन्तु लोकव्यवहार में उसके शुद्ध सुवर्ण और अशुद्ध सुवर्ण ऐसे दो भेद किये जाते हैं। जो सुवर्ण किट्ट-कालिमादि मल से युक्त है अथवा चाँदी, ताँबा, लोहा आदि अन्य धातुओं के सम्बन्ध को प्राप्त उनसे मिश्रित है उसे 'अशुद्ध सुवर्ण' कहते हैं और जो सुवर्ण सारे मल तथा पर सम्बन्ध से रहित होता है उसे 'शुद्ध (खालिस) सुवर्ण' कहा जाता है। इसी प्रकार जीवद्रव्य वस्तुतः अपने गुण-स्वभाव की दृष्टि से एक है; परन्तु शुद्ध-अशुद्ध की अपेक्षा से उसके दो भेद किये गये हैं एक 'संसारी' दूसरा 'मुक्त'।[२] इनमें संसारी जीव कर्ममल से युक्त होने के कारण अशुद्ध और मुक्त जीव कर्म मल से रहित हो जाने के कारण शुद्ध माना गया है, जिसे 'अपुनर्भव' भी कहते हैं।

शुद्ध जीव के अपुनर्भव कहने का हेतु

भवं वदन्ति संयोगं यतोऽत्रात्म-तदन्ययोः।
वियोगं तु भवाभावमापुनर्भविकं[३] ततः॥२७॥

अर्थ—चूँकि आत्मा और तद्भिन्न (पुद्गलकर्म) के संयोग को 'भव' और वियोग को 'भवाभाव' कहते हैं, जो फिर से उत्पन्न न होने का नाम है अतः फिर से उत्पन्न न होने के कारण शुद्ध-मुक्त जीव को 'अपुनर्भव' कहा जाता है।

---

१. मु शुद्धः पुनर्मतः। २. संसारिणो मुक्ताश्च-त. सूत्र. २-१०॥ ३. मु भवाभावमपुनर्भाविकं।

व्याख्या—पिछले पद्य में मुक्त जीव का जो 'अपुनर्भव' नाम दिया है उसी का इस पद्य में निरुक्ति-पूर्वक स्पष्टीकरण किया गया है। लिखा है कि जीव और जीव से भिन्न जो पुद्गलकर्म हैं उनके संयोग का नाम 'भव' है और दोनों के वियोग का नाम 'भवाभाव' (अभव) है, जिसका फिर कभी संयोग न हो; फिर से कर्म का संयोग न हो सकने के कारण मुक्त जीव को 'अपुनर्भव' कहा गया है।

मुक्ति में आत्मा किस रूप से रहता है

निरस्तापर-संयोगः स्व-स्वभाव-व्यवस्थितः।
सर्वौत्सुक्यविनिर्मुक्तः स्तिमितोदधि-संनिभः[१]॥२८॥
एकान्त-क्षीण-संक्लेशो निष्ठितार्थो निरञ्जनः।
निराबाधः सदानन्दो मुक्तावात्मावतिष्ठते॥२९॥

अर्थ—मुक्ति अवस्था में आत्मा परसंयोग से रहित, स्वस्वभाव में अवस्थित, निस्तरंग समुद्र के समान, सर्व प्रकार की उत्सुकता से मुक्त, सर्वथा क्लेशवर्जित, कृतकृत्य, निष्कलंक, निराबाध और सदा आनन्दरूप तिष्ठता है, यही परब्रह्म का रूप है।

व्याख्या—मुक्ति को प्राप्त हुआ जीव किस रूप में रहता है। इसका इन दोनों पद्यों में बड़ा ही सुन्दर एवं अच्छा व्यापक स्पष्टीकरण किया गया है और वह यह है कि मुक्तात्मा समस्त परसम्बन्धों से रहित हुआ अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव में पूर्णतः अवस्थित होता है, निस्तरंग समुद्र के समान समस्त रागादि विकल्पों से शून्य रहता है, किसी भी प्रकार का दुःख-क्लेश कभी उसके पास नहीं फटकता, उसका कोई भी प्रयोजन सिद्ध होने के लिए शेष नहीं रहता, द्रव्य-भावादिरूप से सर्व प्रकार के मलों एवं विकारों से वह रहित होता है, वह किसी को कोई बाधा नहीं पहुँचाता और न उसे कोई किसी प्रकार की बाधा पहुँचा सकता है, वह अपने स्वरूप में मग्न हुआ सदा आनन्दमय बना रहता है; क्योंकि उससे अधिक सुन्दर एवं स्पृहणीय दूसरा कोई भी रूप विश्व में कहीं नहीं है, सारा विश्व उसके ज्ञान में प्रतिबिम्बित है।

प्रथम पद्य में 'निरस्तापरसंयोगः' विशेषण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और इस बात को सूचित करता है कि जब तक पर-सम्बन्ध बना रहता है तब तक किसी की भी अपने स्वभाव में व्यवस्थिति नहीं हो पाती; जैसे स्फटिक की उपाधि के संग से। दूसरे पद्य में 'एकान्त-क्षीणसंक्लेशः' विशेषण भी अपना खास महत्त्व रखता है और उसके द्वारा उन सारे ही दुःखों के सर्वथा अभाव को सूचित किया गया है जिनकी स्वामी समन्तभद्र ने निर्वाण सुख का वर्णन करते हुए ''जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तं'' इस वाक्य के द्वारा सूचना की है।[२]

---
१. निस्तरंगोदधिवत्। २. देखो, समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्डक)।

ध्यान का मुख्य फल और उसमें यत्न की प्रेरणा

ध्यानस्येदं फलं मुख्यमैकान्तिकमनुत्तरम्।
आत्मगम्यं परं ब्रह्म ब्रह्मविद्भिरुदाहृतम्॥३०॥

अतोऽत्रैव महान् यत्नस्तत्त्वतः[१] प्रतिपत्तये।
प्रेक्षावता सदा कार्यो मुक्त्वा वादादिवासनाम्॥३१॥

अर्थ—जो ब्रह्मवेत्ता हैं उन्होंने परंब्रह्म को आत्मगम्य करना यह ध्यान का मुख्य, अव्यभिचारी और अद्वितीय फल बतलाया है। अतः समीक्ष्यकारी के द्वारा वस्तुतः उसकी प्राप्ति के लिए वादादि की वासना को छोड़कर सदा इस ध्यान में ही महान् यत्न किया जाना चाहिए।

व्याख्या—इन दोनों पद्यों में से प्रथम पद्य में ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा निर्दिष्ट ध्यान के उस फल का निर्देश किया गया है जो प्रधान है, कभी अन्यथा नहीं होता तथा जिसकी जोड़ का दूसरा कोई फल नहीं है और वह है परंब्रह्म को आत्मगम्य करना अपने आत्मा में शुद्धात्मा का साक्षात् दर्शन करना। दूसरे पद्य में उस परंब्रह्म को आत्मगम्य करने के लिए संपूर्ण वाद प्रतिवाद के संस्कारों को छोड़कर महान् प्रयत्न करने की परीक्षकों को प्रेरणा की गयी है।

ध्यानमर्मज्ञ योगियों का हितरूप वचन

ऊचिरे ध्यान-मार्गज्ञा ध्यानोद्धूत-रजश्चयाः।
भावि-योगि-हितायेदं ध्वान्त-दीपसमं वचः॥३२॥

वादानां प्रतिवादानां भाषितारो विनिश्चितम्।
नैव गच्छन्ति तत्त्वान्तं गतेरिव विलम्बिनः॥३३॥

अर्थ—जिन्होंने ध्यान के द्वारा कर्मरज के समूह को आत्मा से दूर किया उन ध्यान मार्ग के मर्मज्ञ योगियों ने भावी योगियों के हितार्थ यह अन्धकारध्वंसक दीपक के समान वचन कहा है कि जो वादों-प्रतिवादों के चक्कर में पड़े रहते हैं वे निश्चित रूप से तत्त्व के अन्त को—परंब्रह्म पद की प्राप्ति रूप अन्तिम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार जिस प्रकार कि गति-विलम्बी मनुष्य मार्ग को तय नहीं कर पाते।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिन वाद-प्रतिवादों के संस्कारों को छोड़ने की बात कहीं गयी है। उसी के सम्बन्ध में यहाँ ध्यान के मर्मज्ञ और ध्यान के द्वारा आत्मा से कर्म-मल के समूह को दूर करने वाले योगियों के एक वचन को उद्धृत किया है जिसे उन पूर्व योगियों ने भावी योगियों के

---
१. आ तत्त्वत।

हित के लिए कहा है और जिसे अन्धकार को दूर करने वाले दीपस्तम्भ के समान बतलाया है। वह वचन यह है कि–वादों–प्रतिवादों के चक्कर में फँसे रहने वाले योगी परंब्रह्म की प्राप्ति रूप अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार जिस प्रकार कि चलने में विलम्ब करने वाले प्रमादी जन इधर–उधर के झगड़े–टंटों में फँसकर समय पर रास्ता तय करके मंजिल को पहुँच नहीं पाते।

परंब्रह्म की प्राप्ति का उपाय

विभक्तचेतन–ध्यानमत्रोपायं[1] विदुर्जिना:।
गतावस्तप्रमादस्य सन्मार्ग–गमनं यथा ॥३४॥

अर्थ–जिनेन्द्रों ने–अर्हन्तों ने परंब्रह्म की प्राप्ति अथवा तत्त्वान्तगति में विभक्त चेतन के कर्मों से पृथग्भूत विविक्त एवं शुद्ध आत्मा के ध्यान को उपाय बतलाया है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि प्रमादरहित का सन्मार्गगमन–ठीक मार्ग पर चलना अभीष्ट स्थान की प्राप्ति में उपाय है।

व्याख्या–जिस फल का ३०वें पद्य में उल्लेख है, उसकी प्राप्ति के उपाय रूप में यहाँ उस ध्यान का निर्देश किया गया है, जो कर्मों से पृथक् हुए अन्य सम्पर्क से रहित विविक्त, शुद्ध एवं खालिस आत्मा का ध्यान है। यह ध्यान ही परंब्रह्म की प्राप्ति में सहायक होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि अप्रमादी का ठीक मार्ग पर चलना अभीष्ट स्थान की प्राप्ति में सहायक होता है।

आत्मा ध्यान–विधि से कर्म का उन्मूलक कैसे?

योज्यमानो यथा मन्त्रो विषं घोरं निषूदते।
तथात्मापि विधानेन कर्मानेकभवार्जितम् ॥३५॥

अर्थ–जिस प्रकार (ठीक) मन्त्र की योजना किये जाने पर घोर विष दूर किया जाता है उसी प्रकार आत्मा भी अनेक भवों के उपार्जित कर्मसमूह से विविक्तात्म ध्यान के द्वारा पृथक् किया जाता है।

व्याख्या–पिछले पद्य में जिस शुद्धात्मा के ध्यान की बात कही गयी है उसी को यहाँ एक दूसरे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है, वह है विषहर मन्त्र का उदाहरण। ठीक योजना किया हुआ ऐसा मन्त्र जिस प्रकार घोर विष को सारे शरीर से खींचकर दूर कर देता है, उसी प्रकार आत्मा भी विविक्त आत्मा की ध्यान विधि से अनेक भवों के संचित कर्ममल को दूर कर देता है।

विविक्तात्मा का ध्यान अचिन्त्यादि फल का दाता

चिन्त्यं चिन्तामणिर्दत्ते कल्पितं कल्पपादप:।
अविचिन्त्यमसंकल्प्यं विविक्तात्मानुचिन्तित:॥३६॥

---

१. मात्रोपायं।

अर्थ—चिन्तामणि चिन्तित पदार्थ को, कल्पवृक्ष कल्पना में स्थित पदार्थ को देता है; परन्तु ध्यान किया गया विविक्त आत्मा अचिन्तित और अकल्पित फल को प्रदान करता है।

व्याख्या—यहाँ ध्यान किये गये विविक्तात्मा के माहात्म्य को चिन्तामणि और कल्पवृक्ष से भी अधिक व्यक्त किया गया है, क्योंकि वह स्वयं अचिन्तित और अकल्पित पदार्थ को प्रदान करता है, जबकि चिन्तामणि चिन्तित और कल्पवृक्ष कल्पित पदार्थों को ही प्रदान करते हैं।

उक्त ध्यान से कामदेव का सहज हनन

जन्म-मृत्यु-जरा-रोगा हन्यन्ते येन दुर्जयाः।
मनोभू-हनने तस्य नायासः कोऽपि विद्यते ॥३७॥

अर्थ—जिस ध्यान के द्वारा दुर्जय जन्म, जरा, मरण और रोग नाश को प्राप्त होते हैं उसको कामदेव के हनने में कोई भी श्रम करना नहीं पड़ता—वह तो उससे सहज ही विनाश को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—यदि कोई पूछे कि क्या विविक्तात्मा का ध्यान कामविकार को दूर करने में भी समर्थ होता है तो उसके उत्तर में कहा गया है कि विविक्तात्मा के जिस ध्यान से जन्म, जरा, मरण और रोग जैसे दुर्जय विकार नष्ट हो जाते हैं उसको काम-विकार के दूर करने में कुछ भी श्रम करना नहीं पड़ता—वह तो स्वतः उसके प्रभाव से दूर हो जाता है।

वाद-प्रवाद को छोड़कर अध्यात्म-चिन्तन की प्रेरणा

मुक्त्वा वाद-प्रवादाद्यमध्यात्मं चिन्त्यतां ततः।
नाविधूते तमःस्तोमे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥३८॥

अर्थ—अतः वाद-प्रवाद आदि को छोड़कर अध्यात्म को—आत्मा के परमरूप को चिन्तित करना चाहिए। अन्धकार समूह के नाश हुए बिना ज्ञान ज्ञेय में प्रवृत्त नहीं होता। वाद-प्रवादादि सब अन्धकार हैं, जो कि शुद्धात्मा के चिन्तन में बाधक हैं।

व्याख्या—जिस वाद-प्रतिवाद को छोड़ने की बात पिछले कुछ पद्यों (३१-३३) में कही गयी है उसको यहाँ फिर से दोहराते हुए उसकी महत्ता को व्यक्त किया गया है। यह बतलाया है कि ध्यान के उक्त माहात्म्य को देखते हुए सब वाद-प्रतिवादादि को छोड़कर, जो कि घने अन्धकार के समान है, अपने शुद्धात्मा का चिन्तन करना चाहिए; क्योंकि अन्धकार के दूर हुए बिना ज्ञान की ज्ञेय में प्रवृत्ति नहीं होती।

विद्वानों को सिद्धि के लिए सदुपाय कर्तव्य

उपेयस्य यतः प्राप्तिर्जायते सदुपायतः।
सदुपाये ततः प्राज्ञैर्विधातव्यो महादरः ॥३३॥

अर्थ—चूँकि उपेय की प्राप्ति समीचीन उपाय से होती है अतः विद्वानों के द्वारा समीचीन उपाय करने में महान् आदर किया जाना चाहिए।

व्याख्या—उपाय के द्वारा जो साध्य अथवा प्राप्य हो उसे 'उपेय' कहते हैं और उपेय यहाँ शुद्धात्मा परंब्रह्म विवक्षित है उसकी प्राप्ति के लिए उपाय का सच्चा ठीक अथवा यथार्थ होना परम आवश्यक है; अन्यथा मिथ्या उपाय के द्वारा उपेय की प्राप्ति—शुद्धात्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में जो विद्वान् हैं, उन्हें अपनी आत्मसिद्धि के लिए सदा सच्चे समीचीन उपाय को महान् आदर के साथ करना चाहिए। यह आचार्य महोदय का अपना कल्याण चाहने वालों के लिए हितोपदेश है।

अध्यात्म-ध्यान से भिन्न सदुपाय नहीं

नाध्यात्म-चिन्तनादन्यः सदुपायस्तु विद्यते।
दुरापः स परं जीवैर्मोहव्यालकदर्थितैः॥४०॥

अर्थ—अध्यात्मचिन्तन से भिन्न दूसरा कोई भी समीचीन उपाय (परंब्रह्म की प्राप्ति का) नहीं है, जो जीव मोह-व्याल से कदर्थित हैं-मोहसर्प से डसे हुए अथवा मोहरूपी हस्ती से पीड़ित हैं—उनके द्वारा वह उपाय दुर्लभ है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिस सच्चे समीचीन उपाय के प्रति महान् आदर की बात कही गयी है वह अध्यात्मचिन्तन से—शुद्धात्मा के ध्यान से भिन्न दूसरा और कोई नहीं है, यह इस पद्य में बतलाया है। साथ ही यह भी बतलाया है कि इस समीचीन उपाय की प्राप्ति उन जीवों को नहीं होती जो मोह से मूर्छित अथवा पीड़ित हैं।

उक्त ध्यान की बाह्य सामग्री

उत्साहो निश्चयो धैर्यं संतोषस्तत्त्वदर्शनम्।
जनपदात्ययः[१] षोढा सामग्रीयं बहिर्भवा ॥४१॥

अर्थ—(अध्यात्मचिन्तनरूप ध्यान के लिए) उत्साह, निश्चय (स्थिर विचार), धैर्य, सन्तोष, तत्त्वदर्शन और जनपदत्याग यह छह प्रकार की बाह्य सामग्री है।

व्याख्या—जिस ध्यान का पिछले पद्य में उल्लेख है, उसकी सिद्धि के लिए यहाँ बाह्य सामग्री के रूप में छह बातें बतलायी गयी हैं, जिनमें उत्साह को प्रथम स्थान दिया गया है। यदि उत्साह नहीं तो किसी भी कार्य-सिद्धि के लिए प्रवृत्ति ही नहीं बनती। यदि ध्येय का निश्चय ही नहीं तो सब कुछ व्यर्थ है। यदि धैर्य नहीं तो साधना में विघ्न-कष्टादि के उपस्थित होने पर स्खलित हो जाना बहुत

---
१. जनसंकुलरहितः।

कुछ स्वाभाविक है, इसी से नीतिकारों ने ''धैर्यं सर्वार्थ साधनं'' जैसे वाक्यों द्वारा धैर्य को सर्वप्रयोजनों का साधक बतलाया है। विषयों में लालसा के अभाव का नाम सन्तोष है, यह सन्तोष भी साधना की प्रगति में सहायक होता है, यदि सदा असन्तोष बना रहता है तो वह एक बड़ी व्याधि का रूप ले लेता है, इसी से ''असंतोषो महाव्याधिः'' जैसे वाक्यों के द्वारा असन्तोष को महाव्याधि माना गया है। जीवादि तत्त्वों का यदि भले प्रकार दर्शन-स्वरूपानुभवन न हो तो फिर उत्साह, निश्चय, धैर्य तथा सन्तोष से भी क्या बन सकता है और ध्यान में प्रवृत्ति भी कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। अतः 'तत्त्वदर्शन' का होना परमावश्यक है, इसी से इस योग ग्रन्थ में तत्त्वों का आवश्यक निरूपण किया गया है। अन्त की छठी सामग्री है 'जनपदत्याग', जब तक जनपद और जनसम्पर्क का त्याग नहीं किया जाता तब तक साधना की पूर्णता नहीं बनती। जनसम्पर्क से वाक्प्रवृत्ति, वाक्प्रवृत्ति से मन का चंचल होना और मन की चंचलता से चित्त में अनेक प्रकार के विकल्प तथा क्षोभ होते हैं, जो सब ध्यान में बाधक हैं। इसी से श्री पूज्यपादाचार्य ने समाधितन्त्र में निम्न वाक्य द्वारा योगी को जनसम्पर्क के त्यागने की खास प्रेरणा की है-

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥७२॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तो प्रवचनसार में यहाँ तक लिखा है कि जो लौकिकजनों का संसर्ग नहीं छोड़ता है वह निश्चित सूत्रार्थपद (आगम का ज्ञाता), शमितकषाय और तप में बढ़ा-चढ़ा होते हुए भी संयत-मुनि नहीं रहता।[१] संसर्ग के दोष से अग्नि के संसर्ग को प्राप्त जल की तरह अवश्य ही विकार को प्राप्त हो जाता है। अतः ध्यानसिद्धि के लिए नगरों का वास छोड़कर प्रायः पर्वतादि निर्जन स्थानों में रहने की आवश्यकता है।

बुद्धि के त्रेधा संशोधक को ध्यान की प्राप्ति

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यास-रसेन च।
त्रेधा विशोधयन् बुद्धिं ध्यानमाप्नोति पावनम्॥४२॥

अर्थ—आगम के द्वारा, अनुमान के द्वारा और ध्यानाभ्यास रूप रस के द्वारा तीन प्रकार से बुद्धि को विशुद्ध करता हुआ ध्याता पवित्र ध्यान को प्राप्त होता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में ध्यान की बाह्य सामग्री का उल्लेख करके यहाँ अन्तरंग सामग्री के रूप में बुद्धि की शुद्धि को पावन ध्यान का कारण बतलाया है और उस बुद्धिशुद्धि के लिए तीन उपायों का निर्देश किया है, जो कि आगम, अनुमान तथा ध्यानाभ्यास रस के रूप में है। आगमजन्य

१. णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिको चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि॥६८॥ -प्रवचनसार।

श्रुतज्ञान के द्वारा जीवादि तत्त्वों का स्वरूप जानना 'आगमोपाय' है, आगम से जाने हुए जीवादि के स्वरूप में अनुमान प्रमाण से दृढ़ता लाना 'अनुमानोपाय' है और ध्यान का अभ्यास करते हुए उसमें जो एक प्रकार का रुचिवृद्धि के रूप में रस–आनन्द उत्पन्न होता है उसे 'ध्यानाभ्यास रस' कहते हैं। इन तीनों उपायों के द्वारा बुद्धि का जो संशोधन होता है और उससे वह शुद्ध आत्मध्यान बनता है जिसमें विविक्त आत्मा का साक्षात् दर्शन होता है। श्री पूज्यपादाचार्य ने इन्हीं उपायों से बुद्धि का संशोधन करते हुए विविक्त आत्मा का साक्षात् निरीक्षण किया था और तभी केवलज्ञान के अभिलाषियों के लिए उन्होंने समाधितन्त्र में विविक्त आत्मा के कथन की प्रतिज्ञा का यह वाक्य कहा है–

श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्तिसमाहितान्तःकरणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्य-सुख-स्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये॥३॥

इसमें 'समीक्ष्य' पद के द्वारा आत्मदर्शन का उल्लेख है, जो कि उक्त तीनों उपायों का लक्ष्यभूत एवं ध्येय है। पं॰ आशाधरजी ने अध्यात्म-रहस्य में इन चारों का श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टि के रूप में उल्लेख करते हुए इन चारों शक्तियों को क्रम से सिद्ध करने वाले योगी का पारगामी लिखा है–

शुद्धे श्रुति-मति-ध्याति-दृष्टयः स्वात्मनि क्रमात्।
यस्य सद्गुरुतः सिद्धाः स योगी योगपारगः॥३॥

इन चारों के सुन्दर वर्णन के लिए अध्यात्म-रहस्य को देखना चाहिए।

विद्वत्ता का परम फल आत्मध्यान रति

आत्म-ध्यान-रतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम्[१]।
अशेष-शास्त्र[२]-शास्तृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः॥४३॥

अर्थ–विद्वत्ता का उत्कृष्ट फल आत्मध्यान में रति–लीनता जानना चाहिए। अशेष शास्त्रों को शास्त्रीपन बुद्धिधन के धारक महान् विद्वानों द्वारा 'संसार' कहा गया है।

व्याख्या–एक विद्वान् की सफलता ही नहीं किन्तु ऊँचे दर्जे की सफलता इसी में है कि उसकी आत्मध्यान में रति हो–रुचिपूर्वक लीनता हो। यदि यह नहीं तो उसका सम्पूर्ण शास्त्रों का शास्त्रीपना पठन-पाठन विवेचनादि कार्य संसार के सिवा और कुछ नहीं उसे भी सांसारिक धन्धा अथवा संसार परिभ्रमण का ही एक अंग समझना चाहिए। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि उस विद्वान् ने शास्त्रों का महान् ज्ञान प्राप्त करके भी अपने जीवन में वास्तविक सफलता की प्राप्ति नहीं की।

---

१. आ, व्या फलं परं। २. ज्ञातृत्वं।

मूढ़चेतों और अध्यात्मरहित पण्डितों का संसार क्या?

संसारः पुत्र-दारादिः पुंसां संमूढ़चेतसाम्।
संसारो विदुषां शास्त्रमध्यात्मरहितात्मनाम् ॥४४॥

अर्थ—जो मनुष्य अच्छी तरह मूढ़चित्त हैं उनका संसार 'स्त्री-पुत्रादिक' हैं और जो अध्यात्म से रहित विद्वान् हैं उनका संसार 'शास्त्र' है।

व्याख्या—इस पद्य में पिछले पद्य की बात को और स्पष्ट करते हुए यह बतलाया है कि किसका कौन संसार है। जो मानव मूढ़चित्त हैं—शास्त्राभ्यासादि से रहित अज्ञानी हैं उनका संसार तो स्त्री-पुत्र-धनादिक हैं, वे दिन-रात उसी के चक्कर में फँसे रहते हैं और जो शास्त्रों के अच्छे अभ्यासी विद्वान् हैं किन्तु अध्यात्म से रहित हैं, अपने आत्मा को जिन्होंने शुद्धस्वरूप में नहीं पहचाना उनका संसार शास्त्र है वे शास्त्रों का शास्त्रीपन करते-करते ही अपना जीवन समाप्त कर देते हैं और अपना आत्महित कुछ भी करने नहीं पाते।

ज्ञानबीजादि को पाकर भी कौन सद्ध्यान की खेती नहीं करते

ज्ञान-बीजं परं प्राप्य मनुष्यं कर्मभूमिषु।
न सद्ध्यानकृषेरन्तः प्रवर्तन्तेऽल्पमेधसः॥४५॥

अर्थ—कर्मभूमियों में मनुष्यता और उत्कृष्ट ज्ञान-बीज को पाकर जो प्रशस्त ध्यानरूप खेती के भीतर प्रवृत्त नहीं होते ध्यान की खेती नहीं करते वे अल्पबुद्धि हैं।

व्याख्या—इस पद्य में उन महाशास्त्राभ्यासी विद्वानों को 'अल्पबुद्धि' (अविवेकी) बतलाया है जो कर्मभूमियों में मनुष्य जन्म लेकर और उत्कृष्ट ज्ञान-बीज को पाकर भी श्रेष्ठध्यान की खेती करने में प्रवृत्त नहीं होते और इस तरह अपने ध्यानकृषियोग्य मनुष्य जन्म और उत्कृष्ट ज्ञानबीज को व्यर्थ गँवाते हैं। ऐसे हीनबुद्धि-अविवेकीजन वे ही होते हैं जो अपनी बुद्धि को पिछले ४२ वें पद्य में वर्णित तीन प्रकार के उपायों से संशोधन नहीं करते।

भोगासक्ति में ध्यान त्यागी विद्वानों के मोह को धिक्कार

बडिशाभिषवच्छेदो[१] दारुणो भोग-शर्मणि।
[२]सक्तास्त्यजन्ति सद्ध्यानं धिगहो ! मोह-तामसम्॥४६॥

अर्थ—भोग सुख में बंशी संलग्न मांस की तरह दारुण छेद होता है, (फिर भी) जो भोगों के सुख में आसक्त हैं वे प्रशस्त ध्यान का त्याग करते हैं, इस मोह अन्धकार को धिक्कार है, जिससे भोग में जो दारुण दुःख छिपा है वह दिखाई नहीं पड़ता।

---

१. आ वतयादो। २. आ शक्ता।

व्याख्या—जिन विद्वानों को पिछले पद्य में अल्पबुद्धि अविवेकी बतलाया है। प्रायः उन्हीं को लक्ष्य करके इस पद्य में तथा आगे भी कुछ हितकर बातें कही गयी हैं अथवा सूचनाएँ की गयी हैं। यहाँ भोगसुख की लालसा में उस दारुण दुःख की सूचना की गयी है जो मछली को शिकारी की वंशी में लगे हुए मांस के टुकड़े को खाने की इच्छा से कण्ठ छेद द्वारा प्राप्त होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय-भोग सुख में आसक्त हुए जो विद्वान् उत्कृष्ट ज्ञानबीज को पाकर भी सद्ध्यान की खेती करने में उपेक्षा धारण करते हुए उसे त्यागते हैं उनके उस मोहान्धकार को धिक्कार कहा है, जिसके कारण भोगसुख में छिपा हुआ दारुण दुःख उन्हें दिखलाई नहीं पड़ता।

मोही जीवों-विद्वानों आदि की स्थिति

आत्म-तत्त्वमजानाना विपर्यास-परायणाः।
हिताहित-विवेकान्धाः खिद्यन्ते सांप्रतेक्षणाः॥४७॥

अर्थ—जो आत्मतत्त्व को नहीं जानते, हित-अहित के विवेक में अन्धे हैं, अपने हित-अहित को नहीं पहचानते और विपरीताचरण में चतुर हैं वे वर्तमान दृष्टि—मौजूदा विषयसुख की ओर लक्ष्य रखने वाले अन्त में खेद को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—जिनके मोहान्धकार को पिछले पद्य में धिक्कार कहा है वे वास्तव में बहुत कुछ शास्त्राभ्यास कर लेने और ज्ञान की बातें दूसरों को सुनाते रहने पर भी स्वयं आत्मतत्त्व के विषय में अनजान (अनभिज्ञ) होते हैं, अपने हित-अहित के विवेक में अन्धे बने रहते हैं, इसी से विपरीत आचरण में प्रवृत्त होते हैं। ऐसे मौजूदा सुख की ओर ध्यान रखने वाले विद्वानों आदि को यहाँ 'सांप्रतेक्षण' (वर्तमान सुख दृष्टि) कहा गया है और लिखा है कि वे अन्त में खेद एवं पश्चात्ताप को प्राप्त होते हैं।

आधि-व्याधि-जरा-जाति-मृत्यु-शोकाद्युपद्रवम्।
पश्यन्तोऽपि भवं भीमं नोद्विजन्तेऽत्र मोहिनः॥४८॥

अर्थ—जो मोही जीव हैं, वे इस संसार को आधियों—मानसिक पीड़ाओं, व्याधियों—शारीरिक कष्टप्रद रोगों, जन्म, जरा, मरण और शोकादि उपद्रवों से युक्त भयंकररूप में देखते हुए भी उससे विरक्त नहीं होते हैं। यह मोह का कैसा माहात्म्य है।

व्याख्या—जिस मोह को अन्धकार बतलाते हुए पिछले एक पद्य में धिक्कारा गया है, उससे व्याप्त मोही जीवों की दयनीय एवं विवेक-विकल स्थिति को इस पद्य में दर्शाते हुए उस पर खेद व्यक्त किया गया है। वास्तव में संसार को जिन उपद्रवों के रूप में यहाँ चर्चित किया गया है, वे सब प्रत्यक्ष हैं और उनसे वह भयंकर बना हुआ है। उसकी इस भयंकरता को देखते हुए भी जो उससे विरक्त नहीं होते हैं, उन्हें मोह में अन्धे अथवा विवेकशून्य न कहा जाये तो और क्या कहा जाये?

अकृत्यं दुर्धियः कृत्यं कृत्यं चाकृत्यमञ्जसा।
अशर्म शर्म मन्यन्ते कच्छू-कण्डूयका इव ॥४९॥

अर्थ—जो दुर्बुद्धि हैं—मोह संस्कारित अथवा विकारग्रसित बुद्धि को लिए हुए हैं—वे वास्तव में अकृत्य को कृत्य, न करने योग्य कुकर्म को सुकर्म, कृत्य को अकृत्य—करने योग्य सुकर्म को कुकर्म और दुःख को सुख मानते हैं; उसी प्रकार जिस प्रकार दाद खुजाने वाले दाद के खुजाने को अच्छा और सुखदायी समझते हैं, जबकि वह ऐसा न होकर दुःखदायी है।

व्याख्या—उक्त प्रकार के मोही जीवों को यहाँ दुर्बुद्धि—दूषित ज्ञानी बतलाते हुए लिखा है कि वे अकरणीय को नोकरणीय, करणीय को अकरणीय और दुःख को सुख मानते हैं और साथ ही उन्हें दाद के खुजाने वालों की उपमा दी है जो दाद को खुजाने में सुख का अनुभव करते हुए उसे खूब खुजाकर बढ़ा लेते हैं और फिर दुःखी होते हैं।

ध्यान के लिए तत्त्वश्रुति की उपयोगिता

क्षाराम्भस्त्यागतः क्षेत्रे मधुरोऽमृत-योगतः।
प्ररोहति यथा बीजं ध्यानं तत्त्वश्रुतेस्तथा ॥५०॥

अर्थ—जिस प्रकार खेत में पड़ा हुआ बीज खारे जल के त्याग से और मीठे जल के योग से मधुर उत्पन्न होता है उसी प्रकार तत्त्वश्रुति के योग से तत्त्व वार्ता सुनने के प्रभाव से उत्तम ध्यान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—यहाँ ध्यान की उत्पत्ति एवं वृद्धि में तत्त्वों के श्रवण एवं अतत्त्व श्रवण के परिहार को उसी प्रकार से उपयोगी बतलाया है जिस प्रकार खेत में बीज की उत्पत्ति और वृद्धि के लिए उसे खारे जल से न सींचकर मीठे जल से सींचना होता है।

भोगबुद्धि त्याज्य और तत्त्वश्रुति ग्राह्य

क्षाराम्भःसदृशी त्याज्या सर्वदा भोग-शेमुषी।
मधुराम्भोनिभा ग्राह्या यत्नात्तत्त्वश्रुतिर्बुधैः॥५१॥

अर्थ—(ध्यान की सिद्धि के लिए) बुधजनों के द्वारा भोगबुद्धि, जो खारे जल के समान है, सदा त्यागने योग्य है और तत्त्वश्रुति, जो कि मधुर जल के समान है, सदा ग्रहण करने योग्य है।

व्याख्या—पिछले पद्य में बीज के उगने—अंकुरित होने आदि के लिए खारे जल के त्याग और मीठे जल से सिंचन की जो बात कही गयी है, उसे यहाँ ४५ वें पद्य में उल्लिखित ध्यान—कृषि पर घटित करते हुए भोगबुद्धि को खारे जल के समान त्याज्य और तत्त्वश्रुति को मीठे जल के समान ग्राह्य बतलाया है और उस त्याग तथा ग्रहण में यत्न करने की खास तौर से प्रेरणा की है। बिना यत्न के कोरे ज्ञान से कुछ नहीं बनता।

ध्यान का शत्रु कुतर्क त्याज्य

बोधरोधः शमापायः श्रद्धाभङ्गोऽभिमानकृत्।
कुतर्को मानसो व्याधिर्ध्यानशत्रुरनेकधा॥५२॥
कुतर्केऽभिनिवेशोऽतो न युक्तो मुक्ति-काङ्क्षिणाम्।
आत्मतत्त्वे पुनर्युक्तः सिद्धिसौध-प्रवेशके॥५३॥

अर्थ—कुतर्क ज्ञान को रोकने वाला, शान्ति का नाशक, श्रद्धा को भंग करने वाला और अभिमान को बढ़ाने वाला मानसिक रोग है, जो कि अनेक प्रकार से ध्यान का शत्रु है। अतः मोक्षाभिलाषियों को कुतर्क में अपने मन को लगाना युक्त नहीं, प्रत्युत इसको आत्मतत्त्व में लगाना योग्य है, जो कि स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि सदन में प्रवेश कराने वाला है।

व्याख्या—यहाँ कुतर्क को ध्यान का शत्रु बतलाते हुए एक महाव्याधि के रूप में चित्रित किया गया है, जिसके फल हैं—ज्ञान में रुकावट का होना, शान्ति का विनाश, श्रद्धा का भंग, और अहंकार की उत्पत्ति। साथ ही मुमुक्षुओं को यह प्रेरणा की गयी है कि वे कुतर्क में अपने मन को न लगाकर आत्मतत्त्व में संलग्न रहें, जो कि सिद्धिरूप मुक्ति के महल में प्रवेश कराने वाला है।

यहाँ कुतर्क का अभिप्राय उसी व्यर्थ के वाद-प्रवाद से है जिसका उल्लेख इसी अधिकार के ३१ से ३३ तक के पद्यों में किया जा चुका है और जिसे परंब्रह्म की प्राप्ति में बाधक बतलाया है।

मोक्षतत्त्व का सार

विविक्तमिति चेतनं परम-शुद्ध-बुद्धाशयाः
विचिन्त्य सतताहता भवमपास्य दुःखास्पदम्।
निरन्तमपुनर्भवं[1] सुखमतीन्द्रियं स्वात्मजं
समेत्य[2] हतकल्मषं निरुपमं सदैवासते[3]॥५४॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते मोक्षाधिकारः सप्तमः।

अर्थ—जो परम शुद्ध-बुद्ध आशय के धारक हैं वे चेतनात्मा को विविक्त रूप कर्मकलंक से रहित चिन्तन कर ध्यान का विषय बनाकर उसके प्रति आदररूप परिणत हुए दुःखस्थान संसार का त्याग कर उस अपुनर्भवरूप मोक्ष को प्राप्त करके सदा तिष्ठते हैं जो कि अपने आत्मा से उत्पन्न कल्मष रहित अतीन्द्रिय, अनुपम और अनन्त सुख स्वरूप है।

व्याख्या—यह सातवें अधिकार का उपसंहार-पद्य है, जिसमें मोक्षतत्त्व का सारा सार खींचकर

---

१. मु निरंतरमपुनर्भवं। २. प्राप्य। ३. तिष्ठन्ति।

रखा गया है। मोक्ष को 'अपुनर्भव' नाम के द्वारा, जो कि आत्मा के पुनःभव (जन्म) धारण तथा पुनः कर्म-संयोग का निषेधक है, उल्लेखित करते हुए उसे सुखस्वरूप बतलाया है जो कि अतीन्द्रिय है-इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं-बिना किसी की सहायता के अपने आत्मा से उत्पन्न सदा स्वाधीन रहने वाला है, कषायादि मल-दोष से रहित है, संसार में जिसकी कोई उपमा नहीं और जो कभी नाश तथा ह्रास को प्राप्त नहीं होता। यह मोक्ष भव का-संसार का जो कि दुःखों का स्थान है, त्याग करने पर उन्हें प्राप्त होता है जो कि शुद्ध बुद्ध आशय के निर्मल सविवेक परिणाम के धारक होते हैं और उसकी प्राप्ति का उपाय है अपने आत्मा को कर्मकलंक से रहित शुद्ध खालिस एवं विविक्त रूप में ध्याना और उस रूप में आदरवान बने रहना। इस उपाय के द्वारा भव का विनाश करके जो शुद्ध-बुद्धाशय मोक्ष को प्राप्त करते हैं वे सदा के लिए सिद्धालय में उक्त अनुपम सुखरूप होकर तिष्ठते हैं।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंग योगिराज-विरचित योगसार-प्राभृत में मोक्ष अधिकार नाम का सातवाँ अधिकार समाप्त हुआ॥७॥

८

चारित्राधिकार

मुमुक्षु को जिनलिङ्ग धारण करना योग्य

विमुच्य विविधारम्भं पारतन्त्र्यकरं गृहम्।
मुक्तिं यियासता धार्यं जिनलिङ्गं पटीयसा॥१॥

अर्थ—जो मुक्ति प्राप्त करने का इच्छुक अति निपुण एवं विवेकसम्पन्न मानव है उसे नाना प्रकार के आरम्भों से युक्त और पराधीनता-कारक घर को (गृहस्थ को) त्याग कर जिनलिंग को धारण करना चाहिए।

व्याख्या—सात तत्त्वों के स्वरूप को भले प्रकार जान लेने और समझ लेने के अनन्तर जिसके अन्तरात्मा में मोक्ष प्राप्त करने की सच्ची एवं तीव्र इच्छा जागृत हो उस विवेकसम्पन्न मुमुक्षु को घर गृहस्थी का त्याग कर जिनलिंग धारण करना चाहिए ऐसा मानव ही जिनलिंग धारण के लिए योग्य पात्र होता है, गृह त्याग में उसकी दृष्टि नाना प्रकार के आरम्भों तथा परतन्त्रताओं के त्याग की होती है, जो सब मुक्ति की प्राप्ति में बाधक हैं।

जिनलिङ्ग का स्वरूप

सोपयोगमनारम्भं लुञ्चित-श्मश्रुमस्तकम्।
निरस्त-तनु-संस्कारं सदा संग-विवर्जितम्॥२॥
निराकृत-परापेक्षं निर्विकारमयाचनम्।
जातरूपधरं लिङ्गं जैनं निवृत्ति-कारणम्॥३॥

अर्थ—जो सदा ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग से युक्त है, सावद्यकर्मरूप आरम्भ से रहित है, जिसमें दाढ़ी तथा मस्तक के केशों का लोंच किया जाता है, (तेल मर्दनादि रूप में) शरीर का संस्कार नहीं किया जाता, जो बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों से मुक्त, पर की अपेक्षा से रहित, याचनाविहीन, विकार-विवर्जित और नवजात-शिशु के समान वस्त्राभूषण से रहित दिगम्बर रूप को लिए हुए है वह जैन लिंग है, जो कि मुक्ति का कारण है-मोक्ष की प्राप्ति में सहायक है।

व्याख्या—जिस जिनलिंग को धारण करने की पिछले पद्य में सच्चे मुमुक्षु को प्रेरणा की गयी है उसका स्वरूप इन दो पद्यों में बतलाया गया है, जो बहुत कुछ स्पष्ट है। यह नौ मुख्य विशेषणों से युक्त जैन लिंग मुक्ति की प्राप्ति में सहायक है। ऐसा यहाँ निर्दिष्ट किया गया है और इसी से मुमुक्षु

१.जधजादरूवजादं उप्पाडिदके समं सुगं सुद्धं। रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥५॥
मुच्छारंभविमुक्कं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं। लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं॥६॥ प्रवचनसार अ. ३

को उसे धारण करना चाहिए।

जिन-दीक्षा देने के योग्य गुरु और श्रमणत्व की प्राप्ति

नाहं भवामि कस्यापि न किंचन ममापरम्।
इत्यकिंचनतोपेतं निष्कषायं जितेन्द्रियम्॥४॥
नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या जिनमुद्रा-विभूषितः।
जायते श्रमणो[१]ऽसङ्गो विधाय व्रत-सङ्ग्रहम्॥५॥

अर्थ—मैं किसी का नहीं हूँ और न दूसरा कोई मेरा है, इस अपरिग्रह भाव से युक्त, कषाय से रहित और जितेन्द्रिय गुरु को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके तथा व्रतसमूह को धारण करके जो परिग्रह रहित हुआ जिनमुद्रा से विभूषित होता है वह 'श्रमण' है।

व्याख्या—जिनलिंग को धारण करने के लिए जिस गुरु के पास जाना चाहिए उसका यहाँ प्रथम पद्य में प्रमुख रूप दिया है और वह तीन बातों को लिए हुए है एक तो यह कि मैं किसी का नहीं और न दूसरा कोई परपदार्थ मेरा है। इस अकिंचन भाव को वह लिए हुए होना चाहिए, दूसरे कषायों से रहित और तीसरे इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किये हुए होना चाहिए। ये गुण जिसमें नहीं वह जिनलिंग की दीक्षा देने के योग्य नहीं और इसलिए ऐसे गुरु से जिनदीक्षा नहीं लेनी चाहिए। दूसरे पद्य में यथोक्त गुरु को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके (अपने दीक्षा-ग्रहण के भाव को निवेदन करके) और गुरु के द्वारा उपदिष्ट व्रतों को ग्रहण करके जिनमुद्रा से विभूषित निःसंग हुआ वह मुमुक्षु 'श्रमण' होता है। श्रमण-संज्ञा के अतिरिक्त उसे यति, मुनि आदि नामों से भी उल्लेखित किया जाता है; जैसा कि अगले पद्यों में प्रयुक्त 'यतेः' 'यतिः' आदि पदों से जाना जाता है।

श्रमण के कुछ मूलगुण

[२]महाव्रत-समित्यक्षरोधाः स्युः पञ्च चैकशः।
परमावश्यकं षोढा, लोचोऽस्नानमचेलता॥६॥
अदन्तधावनं भूमिशयनं[३] स्थिति-भोजनम्।
एकभक्तं च सन्त्येते पाल्या मूलगुणा यतेः॥७॥

अर्थ—पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रिय निरोध, छह परमावश्यक, केशलोंच, अस्नान, अचेलता (नग्नता), अदन्तधावन, भूमिशयन, खड़े होकर भोजन और एक बार भोजन ये योगी के (अट्ठाईस) मूल गुण हैं जो (सदा) पालन किये जाने के योग्य हैं।

---

१. आ श्रवणो। २. वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं। खिदिसयणमदंतधावणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च॥८॥ एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता॥९॥ (पूर्वार्ध)—प्रवचनसार अ. चा.। ३. व्या भूम्नि शयनं।

व्याख्या—श्रमण-मुनि के लिए जिस व्रतसमूह के ग्रहण की सूचना पिछले पद्य में की गयी है वे सुप्रसिद्ध२८ मूलगुण हैं, जिनका इन दोनों पद्यों में उल्लेख है और जिनके विस्तृत स्वरूप लक्ष्य एवं उपयोगितादि के वर्णन से मूलाचार, भगवती आराधना, अनगारधर्मामृत आदि ग्रन्थ भरे हुए हैं, विशेष जानकारी के लिए उन्हें देखना चाहिए। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियों के नाम हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ, जिनका निरोधन—वशीकरण यहाँ विवक्षित है। सामायिक, स्तव, वन्दना, कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान ये छह परमावश्यक हैं, जिनका स्वरूप इस ग्रन्थ के पिछले अधिकार में आ चुका है। ये सब मूलगुण उक्त श्रमण दिगम्बर जैन मुनि के द्वारा अवश्य पालनीय हैं।

इन २८ मूलगुणों में महाव्रत मुख्य हैं, शेष सब उनके परिकर हैं परिवार के रूप में स्थित हैं। और ये सब निर्विकल्प सामायिक संयम के विकल्प होने से श्रमणों के मूलगुण ही हैं। ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार की टीका में प्रतिपादन किया है।[1]

मूलगुणों के पालन में प्रमादी मुनि छेदोपस्थापक

[2]निष्प्रमादतया पाल्या योगिना हितमिच्छता।
सप्रमादः पुनस्तेषु छेदोपस्थापको यतिः॥८॥

अर्थ—जो योगी अपना हित चाहता है उसके द्वारा ये मूलगुण निष्प्रमादता के साथ पालनीय हैं। जो इनके पालन में प्रमादरूप प्रवर्तता है वह योगी 'छेदोपस्थापक' होता है।

व्याख्या—उक्त मूलगुणों के पालने में थोड़ा-सा भी प्रमाद नहीं होना चाहिए, इसी में योगी-मुनि का हित है, ऐसा यहाँ सूचित किया गया है। साथ ही उस मुनि को 'छेदोपस्थापक' बतलाया है जो उक्त गुणों के पालने में प्रमाद सहित प्रवर्तता अथवा लापरवाही (असावधानी) करता है और इसलिए जो गुण प्रमाद-दोष के कारण भंग हुआ है उसमें फिर से अपने को स्थापित करता है।

श्रमणों के दो भेद सूरि और निर्यापक

[3]प्रव्रज्या-दायकः सूरिः संयतानां निगीर्यते।
निर्यापकाः पुनः शेषाश्छेदोपस्थापका मताः॥९॥

---

१. सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतव्यक्तवशेन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरत्यात्मकं पञ्चतयं व्रतं तत्परिकरश्च पञ्चतय इन्द्रियरोधो लोचः षट्तयमावश्यकमचैलक्यमस्नानं क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तश्चैवम् एते निर्विकल्पसामायिकसंयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव। २. तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि॥९ उ.॥–प्रवचनसार चा. अ.। ३. लिंगग्गहणे तेसिं गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि। छेदेसु अ वट्ठगा सेसा णिज्जावगा समणा॥१०॥ प्रवचनसार चा. अ.।

अर्थ—संयमियों को दीक्षा देने वाला 'सूरि'-गुरु, आचार्य-कहा जाता है, शेष श्रमण, जो संयम में दोष लगाने पर अपने उपदेश-द्वारा उस छेद प्राप्त मुनि को संयम में स्थापित करते हैं वे, 'निर्यापक' कहे जाते हैं।

व्याख्या—इस पद्य में श्रमणों के दो मुख्य भेदों का उल्लेख हैं-एक 'सूरि' और दूसरा 'निर्यापक'। सूरि, जिसे 'आचार्य' तथा प्रवचनसारकार के शब्दों में 'गुरु' भी कहते हैं, जिनलिंग ग्रहण के इच्छुक संयतों-मुमुक्षुओं को प्रव्रज्या-दीक्षा देने वाला होता है। शेष उन सब श्रमणों को 'निर्यापक' बतलाया हैं जो दीक्षा ग्रहण के अनन्तर किसी भी श्रमण के व्रत-संयम में एकदेश या सर्वदेश छेदभंग के उत्पन्न होने पर उसे संवेग-वैराग्यजनक परमागम के उपदेश द्वारा फिर से उस संयम में स्थापित करते हैं। ऐसे निर्यापक गुरुओं को जयसेनाचार्य ने 'शिक्षागुरु' तथा 'श्रुतगुरु' के नाम से भी उल्लेखित किया है।[1]

'छेद' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसे छिद्र (सुराख), खण्डनभेदन (कर्ण नासिकादिक रूप में), निवारण (संशयच्छेद), विनाश (धर्मच्छेद, कर्मच्छेद) विभाग-खण्ड (परिच्छेद), त्रुटि-दोष, अतिचार, प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्तभेद, दिवसमासादि के परिमाण से दीक्षा छेद। यहाँ तथा अगले पद्यों में वह त्रुटि आदि पिछले अर्थों में ही प्रयुक्त हुआ है।

चारित्र में छेदोत्पत्ति पर उसकी प्रतिक्रिया

[2]प्रकृष्टं कुर्वतः साधोश्चारित्रं कायचेष्टया।
यदिच्छेदस्तदा कार्या क्रियालोचन-पूर्विका॥१०॥
आश्रित्य व्यवहारज्ञं सूरिमालोच्य भक्तितः।
दत्तस्तेन विधातव्यश्छेदश्छेदवता सदा॥११॥

अर्थ—उत्तम चारित्र का अनुष्ठान करते हुए साधु के यदि काय की चेष्टा से दोष लगे अन्तरंग से दोष न बने तो उसे (उस दोष के निवारणार्थ) आलोचनपूर्वक क्रिया करनी चाहिए। यदि अन्तरंग से दोष बनने के कारण योगी छेद को प्राप्त सदोष हुआ हो तो उसे किसी व्यवहार शास्त्रज्ञ गुरु के आश्रय में जाकर भक्तिपूर्वक अपने दोष की आलोचना करनी चाहिए और वह जो प्रायश्चित दे, उसे ग्रहण करना चाहिए।

---

१. ''ते शेषाः श्रमणनिर्यापकाः शिक्षागुरवश्च भवन्तीति।... निर्विकल्पकसमाधिरूपसामायिकस्यैकदेशेन च्युतिरेकदेशश्छेदः, सर्वथा च्युतिः सकलदेशश्छेद इति देश-सकलभेदेन द्विधा छेदः। तयोश्छेदयोर्ये प्रायश्चित्तं दत्वा संवेग-वैराग्य-परमागमवचनेन संवरणं कुर्वन्ति ते निर्यापकाः शिक्षागुरव श्रुतगुरवश्चेति भण्यन्ते॥''—प्रवचनसार टीका जयसेनोया। २. पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि। जायदि जदि तस्स पुणो आलोयण-पुव्विया किरिया॥११॥ छेदपउत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि। आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं॥१२॥ (जुगलं)—प्रवचनसार अ. ३।

व्याख्या—प्रयत्नपूर्वक चारित्र का आचरण करते हुए भी यदि मात्र काय की चेष्टा से व्रत में कुछ दोष लगे और अन्तरंग रागादि के परिणमनरूप अशुद्ध न होने पावे तो उसका निराकरण मात्र आलोचनात्मक क्रिया से हो जाता है। परन्तु अन्तरंग के दूषित होने पर किसी अच्छे व्यवहार-शास्त्र-कुशल गुरु का आश्रय लेकर अपने दोष की आलोचना करते हुए प्रायश्चित्त की याचना करना और उसके दिये हुए प्रायश्चित को भक्तिभाव से ग्रहण करके उसका पूरी तौर से अनुष्ठान करना होता है।

विहार का पात्र श्रमण

[1]भूत्वा निराकृतश्छेदश्चारित्राचरणोद्यतः।
मुञ्चमानो निबन्धानि यतिर्विहरतां सदा॥१२॥

अर्थ—दोषरहित होकर चारित्र के अनुष्ठान में उद्यमी हुआ योगी निबन्धनों को परद्रव्य में रागादि भावों को छोड़ता हुआ सदा विहार करे।

व्याख्या—यहाँ योगी (श्रमण) में विहार की पात्रता का उल्लेख करते हुए तीन बातों को आवश्यक बतलाया है, एक तो चारित्र के पालने में जो दोष लगा हो उससे प्रायश्चितादि के द्वारा वह रहित हो चुका हो, दूसरे आगे के लिए यथार्थ चारित्र के पालन में पूर्णतः उद्यमी हो और तीसरे परद्रव्यों में रागादिक को छोड़ रहा हो। ये तीनों बातें जब तक नहीं बनती तब तक योगी में सम्यक् विहार की पात्रता नहीं आती।

किस योगी के श्रमणता की पूर्णता होती है

शुद्ध-रत्नत्रयो योगी यत्नं मूलगुणेषु च।
विधत्ते सर्वदा पूर्णं श्रामण्यं [3]तस्य जायते॥१३॥

अर्थ—(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप) शुद्ध रत्नत्रय का धारक जो योगी मूलगुणों के पालने में सदा पूरा यत्न करता है उसके पूर्ण श्रमणता होती है।

व्याख्या—यहाँ श्रमणता की पूर्णता किस योगी के होती है, इसका उल्लेख किया गया है। जिस योगी की चर्या शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप है और जो २८ मूल गुणों के पालन में सदा पूर्ण प्रयत्नवान है उसे पूर्ण श्रमणता की प्राप्ति होती है। अतः जिस मुनि की उक्त चर्या में दोष लगते हैं तथा जिससे मूलगुणों का पूर्णतः पालन नहीं बनता, उसे अपने को तथा दूसरों को उसे पूर्ण श्रमण न समझना चाहिए।

---

१. अधिवासे व विवासे छेदविहूणोभवीयसामण्णे। समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णि बंधाणि॥१३॥ प्रवचनसार अ. ३। २.चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसण-मुहम्मि। पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो॥१४॥–प्रवचनसार, अ. ३। ३. आ श्रावण्यं।

निर्ममत्व-प्राप्त योगी किनमें राग नहीं रखता

[1]उपधौ वसतौ सङ्के विहारे भोजने जने।
प्रतिबन्धं न बध्नाति निर्ममत्वमधिष्ठितः॥१४॥

अर्थ—जो योगी निर्ममत्व हो गया है वह उपधि (परिग्रह) में, वसतिका (आवासस्थान) में, (चतुर्विध) संघ में, बिहार में, भोजन में, जनसमुदाय में प्रतिबन्ध को नहीं बाँध सकता है–अनुरागरूप प्रवृत्त नहीं होता है।

व्याख्या—जिन निबन्धनों को छोड़ने की १२वें पद्य में सूचना की गयी है उनमें से छह के नामों का यहाँ उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिस योगी ने निर्ममत्व को अधिकृत किया है वह इनमें से किसी के भी साथ राग का कोई बन्धन नहीं बाँधता। वास्तव में किसी भी परवस्तु के साथ ममकार का जो भाव है–उसे मेरी–अपनी समझता हैं वही रागरूप बन्ध की उत्पत्ति में कारण हैं। अतः योगी के लिए पर-पदार्थों में ममत्व का छोड़ना परमावश्यक है, तभी उसकी योगसाधना में ठीक गति हो सकेगी। ममकार और अहंकार ये दोनों ही परम शत्रु हैं, जिनलिंग धारण के लक्ष्य को बिगाड़ने वाले और संसार-परिभ्रमण करने वाले हैं।

अशनादि में प्रमादचारी साधु के निरन्तर हिंसा

[2]अशने [3]शयने स्थाने गमे चङ्क्रमणे ग्रहे[4]।
प्रमादचारिणो हिंसा साधोः सान्ततिकीरिता॥१५॥

अर्थ—जो साधु खाने-पीने में, लेटने-सोने में, उठने-बैठने में, चलने-फिरने में, हस्त-पादादिक के पसारने में, किसी वस्तु को पकड़ने में, छोड़ने या उठाने-धरने में प्रमाद करता है यत्नाचार से प्रवृत्त नहीं होता, निरन्तर हिंसा कही गयी है भले ही वैसा करने में कोई जीव मरे या न मरे।

व्याख्या—चारित्र में तथा २८ मूलगुणों में हिंसा की पूर्णतः निवृत्ति रूप जिस अहिंसा महाव्रत की प्रधानता है उसको दृष्टि में रखते हुए यहाँ उस साधु को निरन्तर हिंसा का भागी बतलाया है जो भोजन-शयनादिरूप उक्त क्रियाओं में प्रमाद से वर्तता है चाहे उन क्रियाओं के करने में कोई जीव मरे या न मरे। इसी से श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में कहा है –''मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा'' कोई जीव मरे या न मरे, जो यत्नाचार से प्रवृत्त नहीं होता ऐसे प्रमादी के निश्चित रूप से बराबर हिंसा होती रहती है। अतः हिंसा में प्रधान कारण प्रमादचर्या है,जीवघात

---

१. भत्ते व खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा। उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि॥१५॥ –प्रवचनसार चा. अ.। २.अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु। समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा॥३-१६॥–प्रवचनसार।३. व्या आशने। ४. आ गृहे।

नहीं। जीवघात के न होने पर भी प्रमादी को हिंसा का दोष लगता हैं।

यत्नाचारी की क्रियाएँ गुणकारी, प्रमादी की दोषकारी

गुणायेदं सयत्नस्य दोषायेदं प्रमादिनः।
सुखाय ज्वरहीनस्य दुःखाय [1]ज्वरिणो घृतम्॥१६॥

अर्थ—जो यत्नाचार से प्रवृत्त होता है उसके यह सब आचरण गुणकारी हैं और जो प्रमादी है उसके यह सब आचरण दुःखकारी हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि ज्वर रहित के घृत का सेवन सुखकारी है और ज्वर वाले को दुःख का कारण है।

व्याख्या—पिछले पद्य में अशन-शयनादि के रूप में जिस आचरण का उल्लेख है उस सयत्नाचारी के लिए यहाँ गुणकारी और प्रमादचारी के लिए दोषकारी बतलाया है साथ में घृत का उदाहरण देकर उसको स्पष्ट किया है, जो कि ज्वरहीन के लिए सुखकारी और ज्वरवान् के लिए दुःखकारी होता है। इस तरह एक ही वस्तु आश्रय भेद से भिन्न फल को फलती हैं।

पर पीड़क साधु में ज्ञान के होते हुए भी चारित्र मलिन

ज्ञानवत्यपि चारित्रं मलिनं पर-पीडके।
कज्जलं मलिनं दीपे स प्रकाशेऽपि तापके॥१७॥

अर्थ—पर को पीड़ा पहुँचाने वाले (साधु) में (सम्यक्) ज्ञान के होने पर भी चारित्र मलिन होता है। (ठीक है) तापकारी दीपक में प्रकाश के होते हुए भी काजल मलिन (काला) होता है—प्रकाश के समान उज्ज्वल नहीं होता।

व्याख्या—यहाँ उस साधु को मलिनचारित्री बतलाया है जो ज्ञानी होने पर भी परपीड़क बना हुआ है और उसे उस दीपक की उपमा दी हैं जो प्रकाश से युक्त होने पर भी तापक बना हुआ है अनेक कीट-पतंगों को जला-भुनाकर पीड़ा पहुँचाता है और इसलिए उससे जो काला काजल प्रसूत होता है वह उसके मलिनाचार का द्योतक है।

भवाभिनन्दी मुनियों का रूप

भवाभिनन्दिनः केचित् सन्ति संज्ञा-वशीकृताः।
कुर्वन्तोऽपि परं धर्मं लोक-पंक्ति-कृतादराः॥१८॥

अर्थ—कुछ मुनि परम धर्म का अनुष्ठान करते हुए भी भवाभिनन्दी-संसार का अभिनन्दन करने वाले अनन्त संसारी तक होते हैं, जो कि संज्ञाओं[2] के आहार, भय, मैथुन और परिग्रह नाम की

---

१. मु ज्वरिणे। २. आहार-भय-परिग्गह-मेहुण-सण्णाहि मोहितोसि तुमं। भमिओ संसारवणे आणाइकालं आणप्पवसो॥११०॥—कुन्दकुन्द, भावपाहुड।

चार संज्ञाओं–अभिलाषाओं के वशीभूत हैं और लोकपंक्ति में आदर किये रहते हैं लोगों के आराधने-रिझाने आदि में रुचि रखते हुए प्रवृत्त होते हैं।

व्याख्या—यद्यपि जिनलिंग को निर्ग्रन्थ जैन मुनिमुद्रा को धारण करने के पात्र अति निपुण एवं विवेक-सम्पन्न मानव ही होते हैं[१] फिर भी जिनदीक्षा लेने वाले साधुओं में कुछ ऐसे भी निकलते हैं जो बाह्य में परमधर्म का अनुष्ठान करते हुए भी अन्तरंग से संसार का अभिनन्दन करने वाले होते हैं। ऐसे साधु-मुनियों की पहचान एक तो यह है कि वे आहारादि चार संज्ञाओं के अथवा उनमें से किसी के भी वशीभूत होते हैं; दूसरे लोकपंक्ति में लौकिकजनों जैसी क्रियाओं के करने में उनकी रुचि बनी रहती हैं और वे उसे अच्छा समझकर करते भी हैं। आहार-संज्ञा के वशीभूत मुनि बहुधा ऐसे घरों में भोजन करते हैं जहाँ अच्छे रुचिकर एवं गरिष्ठ-स्वादिष्ट भोजन के मिलने की अधिक सम्भावना होती है, उच्छिष्ट भोजन के त्याग की आगमोक्त दोषों के परिवर्जन की कोई परवाह नहीं करते, भोजन करते समय अनेक बाह्य क्षेत्रों से आया हुआ भोजन भी ले लेते हैं, जो स्पष्ट आगमाज्ञा के विरुद्ध होता है। भयसंज्ञा के वशीभूत मुनि अनेक प्रकार के भयों से आक्रान्त रहते हैं, परीषहों के सहन से घबराते तथा वनवास से डरते हैं; जबकि सम्यग्दृष्टि सप्त प्रकार के भयों से रहित होता है। मैथुनसंज्ञा के वशीभूत मुनि ब्रह्मचर्य महाव्रत को धारण करते हुए भी गुप्तरूप से उसमें दोष लगाते हैं। और परिग्रह-संज्ञा वाले साधु अनेक प्रकार के परिग्रहों की इच्छा को धारण किये रहते हैं, पैसा जमा करते हैं, पैसे का ठहराव करके भोजन करते हैं, अपने इष्टजनों को पैसा दिलाते हैं, पुस्तकें छपा-छपाकर बिक्री करते-कराते रुपया जोड़ते हैं, तालाबन्द बॉक्स रखते हैं, बॉक्स की चाबी कमण्डलु आदि में रखते हैं, पीछी में नोट छिपाकर रखते हैं, अपनी पूजाएँ बनवाकर छपवाते हैं और अपनी जन्मगाँठ का उत्सव मनाते हैं। ये सब लक्षण उक्त भवाभिनन्दियों के हैं, जो पद्य के 'संज्ञावशीकृतों' और 'लोकपंक्तिकृतादराः' इन दोनों विशेषणों से फलित होते हैं और आजकल अनेक मुनियों में लक्षित भी होते हैं।

मूढ़ा लोभपराः [२]क्रूरा भीरवोऽसूयकाः शठाः।
भवाभिनन्दिनः सन्ति निष्फलारम्भकारिणः॥१९॥

अर्थ—जो मूढ़-दृष्टिविकार को लिए हुए मिथ्यादृष्टि-लोभ में तत्पर, क्रूर, भीरु (डरपोक) ईर्ष्यालु और विवेकविहीन हैं वे निष्फल-आरम्भकारी-निरर्थक धर्मानुष्ठान करने वाले-भवाभिनन्दी हैं।

व्याख्या—यहाँ भवाभिनन्दियों के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है वे उनकी

---

१. मुक्तिं यियासता धार्यं जिनलिङ्गं पटीयसा। –यो. प्रा., ८-१॥ २. आ क्रूराः।

प्रकृति के द्योतक हैं। ऐसे विशेषण-विशिष्ट मुनि ही प्रायः उक्त संज्ञाओं के वशीभूत होते हैं, उनके सारे धर्मानुष्ठान को यहाँ निष्फल-अन्तःसार-विहीन घोषित किया गया है। अगले पद्य में उस लोकपंक्ति का स्वरूप दिया है, जिसमें भवाभिनन्दियों का सदा आदर बना रहता है।

भवाभिनन्दियों-द्वारा आदृत लोकपंक्ति का स्वरूप

आराधनाय लोकानां मलिनेनान्तरात्मना।
क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपङ्क्तिरसौ मता[1]॥२०॥

अर्थ—अविवेकी साधुओं के द्वारा मलिन अन्तरात्मा से युक्त होकर लोगों के आराधन-अनुरंजन अथवा अपनी ओर आकर्षण के लिए जो धर्म-क्रिया की जाती है वह 'लोक-पंक्ति' कहलाती है।

व्याख्या—यहाँ लौकिकजनों जैसी उस क्रिया का नाम 'लोकपंक्ति' है जिसे अविवेकीजन दूषित-मनोवृत्ति के द्वारा लोकाराधन के लिए करते हैं अर्थात् जिस लोकाराधन में ख्याति-लाभपूजादि जैसा अपना कोई लौकिक स्वार्थ सन्निहित होता है। इसी से जिस लोकाराधनरूप क्रिया में ऐसा कोई लौकिक स्वार्थ सन्निहित नहीं होता और जो विवेकी विद्वानों के द्वारा केवल धर्मार्थ की जाती है, वह लोकपंक्ति नहीं होती, तब क्या होती है, उसे अगले पद्य में दर्शाया है।

धर्मार्थ लोकपंक्ति और लोकपंक्ति के लिए धर्म

धर्माय क्रियमाणा सा कल्याणाङ्गं मनीषिणाम्।
तन्निमित्तः पुनर्धर्मः पापाय हतचेतसाम्॥२१॥

अर्थ—जो विवेकशील विद्वान् साधु हैं उनकी धर्मार्थ की गयी उक्त लोकाराधनरूप क्रिया कल्याणकारिणी होती है और जो मूढ़चित्त अविवेकी हैं, उन साधुओं का लोकाराधन के निमित्त लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए किया गया धर्म पापबन्ध का कारण होता है।

व्याख्या—यहाँ विवेकी जनों के द्वारा धर्म के अर्थ-धर्म की वृद्धि प्रसृति रक्षा और प्रभावना के लिए जो लोकाराधन-क्रिया की जाती है उसे तो कल्याणकारिणी बतलाया है परन्तु लोकाराधन के लक्ष्य को लेकर जो धर्म किया जाता है उसे पापबन्ध का कारण बतलाया है। इस तरह धर्म के लिए लोकाराधन और लोकाराधन के लिए धर्मसाधन इन दोनों में परस्पर बड़ा अन्तर है। एक पुण्यरूप है, दूसरा पापरूप है। इससे यह भी फलित हुआ कि धर्मसाधन पुण्यबन्ध ही नहीं, कभी-कभी दृष्टिभेद के कारण पापबन्ध का भी कारण होता है। भवाभिनन्दियों का धर्मानुष्ठान प्रायः इसी कोटि में आता है।

---

१. कथिता।

मुक्तिमार्ग पर तत्पर होते हुए भी सभी को मुक्ति नहीं

मुक्तिमार्गपरं चेतः कर्मशुद्धि-निबन्धनम्।
मुक्तिरासन्नभव्येन[१] न कदाचित्पुनः परम्॥२२॥

अर्थ—जो चित्त मुक्तिमार्ग पर तत्पर है वह कर्ममल को हटाकर आत्मशुद्धि का कारण है। परन्तु मुक्ति की प्राप्ति आसन्नभव्य को होती है और दूसरे को कदाचित् (कभी) नहीं।

व्याख्या—मुक्तिमार्ग पर तत्पर होते हुए भी सभी को मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती; मुक्ति की प्राप्ति के लिए निकटभव्यता की योग्यता का होना साथ में आवश्यक है, यह यहाँ पर दर्शाया है।

भवाभिनन्दियों का मुक्ति के प्रति विद्वेष

कल्मष-क्षयतो मुक्तिर्भोग-सङ्गम(वि)वर्जिनाम्।
भवाभिनन्दिनामस्यां विद्वेषो मुग्धचेतसाम्॥२३॥

अर्थ—जो भोगों के सम्पर्क से रहित हैं अथवा इन्द्रिय विषयभोग और परिग्रह से विवर्जित हैं पूर्णतः विरक्त हैं, उन (महात्माओं) के कर्म के क्षय से मुक्ति होती है। जो मूढ़चित्त भवाभिनन्दी हैं उनका इस मुक्ति में विशेषतः द्वेषभाव रहता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में यह बतलाया है कि मुक्ति आसन्नभव्यों को होती है, दूसरों को नहीं। इस पद्य में एक तो उन आसन्नभव्यों को 'भोगसंगविवर्जित' विशेषण के द्वारा स्पष्ट किया गया है—लिखा है कि जो भोगों और परिग्रहों से सर्वथा अथवा पूर्णतः विरक्त हैं। दूसरे मुक्ति के हेतु का निर्देश किया है और वह है कर्म का सर्वथा विनाश। तीसरे यह उल्लेख किया है कि जो भवाभिनन्दी मुनि होते हैं उन विवेकशून्य मूढ़मानसों का इस मुक्ति में अतिद्वेषभाव रहता है, संसार का अभिनन्दन करने वाले दीर्घ संसारी होने से उन्हें मुक्ति की बात नहीं सुहाती—नहीं रुचती और इसलिए वे उससे प्रायः विमुख बने रहते हैं, उनसे मुक्ति की साधना का कोई भी योग्य प्रयत्न बन नहीं पाता; सब कुछ क्रियाकाण्ड ऊपरी और कोरा नुमायशी ही रहता है।

मुक्ति से द्वेष रखने का कारण वह दृष्टिविकार है जिसे 'मिथ्यादर्शन' कहते हैं और जिसे आचार्य महोदय ने अगले पद्य में ही 'भवबीज' रूप से उल्लेखित किया है।

जिनके मुक्ति के प्रति विद्वेष नहीं वे धन्य

नास्ति येषामयं तत्र भवबीज-वियोगतः।
तेऽपि धन्या महात्मानः कल्याण-फल-भागिनः॥२४॥

अर्थ—जिनके भवबीज का—मिथ्यादर्शन का वियोग हो जाने से मुक्ति में यह द्वेषभाव नहीं है

१. आ मुक्तेरासन्नभव्येन।

वे महात्मा भी धन्य हैं–प्रशंसनीय हैं और कल्याणरूप फल के भागी हैं।

व्याख्या–यहाँ उन महात्माओं का उल्लेख है और उन्हें धन्य तथा कल्याणफल का भागी बतलाया है जो मुक्ति में द्वेषभाव नहीं रखते, और द्वेषभाव न रखने का कारण भवबीज जो मिथ्यादर्शन उसका उनके वियोग सूचित किया हैं।

निःसन्देह संसार का मूल कारण 'मिथ्यादर्शन' हैं, मिथ्यादर्शन के सम्बन्ध से ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र होता है, तीनों को भवपद्धति–संसार मार्ग के रूप में उल्लेखित किया जाता है, जो कि मुक्तिमार्ग के विपरीत[1] है। यह दृष्टिविकार ही वस्तु तत्त्व को उसके असली रूप में देखने नहीं देता, इसी से जो अभिनन्दनीय नहीं है उसका तो अभिनन्दन किया जाता है और जो अभिनन्दनीय है उससे द्वेष रखा जाता है। इस पद्य में जिन्हें धन्य, महात्मा और कल्याणफलभागी बतलाया है उनमें अविरत–सम्यग्दृष्टि तक का समावेश है।

स्वामी समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन से सम्पन्न चाण्डाल पुत्र को भी 'देव' लिखा है आराध्य बतलाया है और श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट को भ्रष्ट ही निर्दिष्ट किया है, उसे निर्वाण[2] की सिद्धि–मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

इस सब कथन से यह साफ फलित होता है कि मुक्तिद्वेषी मिथ्यादृष्टि भवाभिनन्दी मुनियों की अपेक्षा देशव्रती श्रावक और अविरत–सम्यग्दृष्टि गृहस्थ तक धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं तथा कल्याण के भागी हैं। स्वामी समन्तभद्र ने ऐसे ही सम्यग्दर्शन–सम्पन्न सद्गृहस्थों के विषय में लिखा है–

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो, नैव मोहवान्।
अनगारो, गृही श्रेयान् निर्मोहो, मोहिनो मुनेः॥

मोह (मिथ्यादर्शन[3]) रहित गृहस्थ मोक्षमार्गी है। मोहसहित (मिथ्यादर्शन–युक्त) मुनि मोक्षमार्गी नहीं है। (और इसलिए) मोही–मिथ्यादृष्टि मुनि से निर्मोही–सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुनिमात्र का दर्जा गृहस्थ से ऊँचा नहीं है, मुनियों में मोही और निर्मोही दो प्रकार के मुनि होते हैं। मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ का दर्जा ऊँचा हैं यह उससे श्रेष्ठ हैं। इसमें मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूँ कि अविवेकी मुनिसे विवेकी गृहस्थ भी श्रेष्ठ है और इसलिए उसका दर्जा अविवेकी मुनि से ऊँचा हैं।

जो भवाभिनन्दी मुनि मुक्ति से अन्तरंग में द्वेष रखते हैं वे जैनमुनि अथवा श्रमण कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते। जैन–मुनियों का तो प्रधान लक्ष्य ही मुक्ति प्राप्त करना होता है। उसी लक्ष्य को लेकर जिनमुद्रा धारण की सार्थकता मानी गयी है।[3] यदि वह लक्ष्य नहीं तो जैन मुनिपना भी

---

१. सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः। यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।–समन्तभद्र। २. दंसणभट्टा भट्टादंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं–दंसणपाहुड। ३. मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते–रामसेन, तत्त्वानुशासन। ३. मुक्ति यियासता धार्य जिनलिङ्गं पटीयसा।–योगसारप्रा. ८–१।

नहीं; जो मुनि उस लक्ष्य से भ्रष्ट हैं उन्हें जैनमुनि नहीं कह सकते, वे भेषी-ढोंगी मुनि अथवा श्रमणाभास हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार के तृतीय चारित्राधिकार में ऐसे मुनियों को 'लौकिकमुनि' तथा 'लौकिकजन' लिखा है। लौकिकमुनि-लक्षणात्मक उनकी वह गाथा इस प्रकार है-

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहि।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजम-तव-संजुदो चावि॥६९॥

इस गाथा में बतलाया है कि-जो निर्ग्रन्थरूप से प्रव्रजित हुआ है, जिसने निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन मुनि की दीक्षा धारण की है वह यदि इस लोक-सम्बन्धी सांसारिक दुनियादारी के कार्यों में प्रवृत्त होता है तो तप-संयम से युक्त होते हुए भी उसे 'लौकिक' कहा गया है। वह पारमार्थिक मुनि न होकर एक प्रकार का सांसारिक दुनियादार प्राणी है। उसके लौकिक कार्यों में प्रवर्तन का आशय मुनिपद को आजीविका का साधन बनाना, ख्याति-लाभ-पूजादि के लिए सब कुछ क्रियाकाण्ड करना, वैद्यक-ज्योतिष-मन्त्र-तन्त्रादि का व्यापार करना, पैसा बटोरना, लोगों के झगड़े-टण्टे में फँसना, पार्टीबन्दी करना, साम्प्रदायिकता को उभारना और दूसरे ऐसे कृत्य करने जैसा हो सकता है जो समता में बाधक अथवा योगीजनों के योग्य न हो।

एक महत्त्व की बात इससे पूर्व की गाथा में आचार्य महोदय ने और कही है और वह यह है कि-जिसने आगम और उसके द्वारा प्रतिपादित जीवादि पदार्थों का निश्चय कर लिया है, कषायों को शान्त किया है और जो तपस्या में भी बढ़ा-चढ़ा है, ऐसा मुनि भी यदि लौकिक मुनियों तथा लौकिक जनों का संसर्ग नहीं त्यागता तो वह संयमी मुनि नहीं होता अथवा नहीं रह पाता है संसर्ग के दोष से, अग्नि के संसर्ग से जल की तरह, अवश्य ही विकार को प्राप्त हो जाता है-

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजन-संसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि॥६८॥

इससे लौकिक-मुनि ही नहीं किन्तु लौकिक-मुनियों की अथवा लौकिकजनों की संगति न छोड़ने वाले भी जैनमुनि नहीं होते, इतना और स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि इन सबकी प्रवृत्ति प्राय: लौकिकी होती हैं, जबकि जैनमुनियों की प्रवृत्ति लौकिकी न होकर अलौकिकी हुआ करती है; जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य के निम्न वाक्य से प्रकट है-

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार-नित्य-निरभिमुखा।
एकान्त-विरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृति:॥१३॥

-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

इसमें अलौकिकी वृत्ति के दो विशेषण दिये गये हैं-एक तो करम्बित (मिलावटी बनावटी

दूषित) आचार से सदा विमुख रहने वाली; दूसरे एकान्ततः (सर्वथा) विरतिरूपा किसी भी पर-पदार्थों में आसक्ति न रहने वाली। यह अलौकिकी वृत्ति ही जैन मुनियों की जान-प्राण और उनके मुनि-जीवन की शान होती है। बिना इसके सब कुछ फीका और निःसार है। इस सब कथन का सार यह निकला कि निर्ग्रन्थरूप से प्रव्रजित-दीक्षित जिनमुद्रा के धारक दिगम्बर मुनि दो प्रकार के हैं- एक वे जो निर्मोही-सम्यग्दृष्टि हैं, मुमुक्षु-मोक्षाभिलाषी हैं, सच्चे मोक्षमार्गी हैं, अलौकिकी वृत्ति के धारक संयत हैं और इसलिए असली जैन मुनि हैं। दूसरे वे, जो मोह के उदयवश दृष्टि-विकार को लिए हुए मिथ्यादृष्टि हैं, अन्तरंग से मुक्तिद्वेषी हैं, बाहर से दम्भी मोक्षमार्गी हैं, लोकाराधन के लिए धर्मक्रिया करने वाले भवाभिनन्दी हैं, संसारावर्तवर्ती हैं, फलतः असंयत हैं, और इसलिए असली जैनमुनि न होकर नकली मुनि अथवा श्रमणाभास हैं। दोनों की कुछ बाह्य क्रियाएँ तथा वेष सामान्य होते हुए भी दोनों को एक नहीं कहा जा सकता; दोनों में वस्तुतः जमीन-आसमान का सा अन्तर है। एक कुगुरु संसार भ्रमण करने-कराने वाला है तो दूसरा सुगुरु संसार-बन्धन से छूटने-छुड़ाने वाला है। इसी से आगम में एक को वन्दनीय और दूसरे को अवन्दनीय बतलाया है। संसार के मोही प्राणी अपनी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए भले ही किसी परमार्थतः अवन्दनीय की वन्दना-विनयादि करें, कुगुरु को सुगुरु मान लें, परन्तु एक शुद्ध सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं करेगा। भय, आशा, स्नेह और लोभ में से किसी के भी वश होकर उसके लिए वैसा करने का निषेध है।[1]

मुक्तिमार्ग को मलिनचित्त मलिन करते हैं

संज्ञानादिरुपायो यो निर्वृतेर्वर्णितो जिनैः।
मलिनीकरणे तस्य प्रवर्तन्ते मलीमसाः॥२५॥

अर्थ—जिनेन्द्र देवों ने मुक्ति का जो उपाय सम्यग्ज्ञानादिरूप वर्णन किया है, उसको मलिनचित्त साधु तथा गृहस्थ विद्वान् मलिन करने में प्रवृत्त होते हैं।

व्याख्या—मुक्ति का जो मार्ग सम्यग्ज्ञानादि शुद्ध रत्नत्रयरूप जिनेन्द्रदेव द्वारा वर्णित हुआ है उसे मलिन करने में वही प्रवृत्त होते हैं जो मलिन हृदय होते हैं। इसी से लोकपंक्ति में प्रवृत्त होने वाले भवाभिनन्दी मुनि को 'मलिन अन्तरात्मा' लिखा है।

मुक्तिमार्ग के आराधन तथा विराधन का फल

आराधने[2] यथा तस्य फलमुक्तमनुत्तरम्।
मलिनीकरणे तस्य तथानर्थो बहुव्यथः॥२६॥

अर्थ—जिस प्रकार सम्यग्ज्ञानादिरूप मुक्तिमार्ग की आराधना-साधना करने पर उसका फल अति उत्तम मोक्षसुख कहा गया है उसी प्रकार उस मार्ग के मलिन करने पर उसका फल बहुत अनर्थ

१. भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्। प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः।—स्वामी समन्तभद्र २. आ आराधना।

तथा दु:खरूप कहा गया है।

व्याख्या—जिस मोक्षमार्ग का पिछले पद्य में उल्लेख है उसके आराधन का फल जहाँ परमोत्कृष्ट सुख की प्राप्तिरूप होता है वहाँ उसके विराधन अथवा मलिनीकरण का फल बहुत दु:ख तथा अनर्थ के रूप में होता है, ऐसा यहाँ विधान किया गया है।

मार्ग की मलिनता से होने वाले अनर्थ का सूचन

तुङ्गारोहणत: पातो यथा तृप्तिर्विषान्नत:।
यथानर्थोऽवबोधादि-मलिनीकरणे तथा॥२७॥

अर्थ—जिस प्रकार ऊँची सीढ़ी पर से गिरना तथा विषमिश्रित भोजन से तृप्ति का होना अनर्थकारी है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानादि को मलिन–दूषित करना अनर्थकारी है।

व्याख्या—मुक्तिमार्ग को मलिन करने पर जिस अनर्थ की बात पिछले पद्य में कही गयी है उसका यहाँ दो उदाहरणों के द्वारा कुछ आभास कराया गया है, एक है तुंगारोहण से पतन, जितना कोई अधिक ऊँचा चढ़कर गिरेगा उतना ही वह अधिक दु:ख का पात्र होगा। दूसरा उदाहरण है विष-मिश्रित अन्न के भोजन से तृप्ति का, ऐसे विषाक्त भोजन से जितनी किसी को अधिक तृप्ति होगी उतनी ही अधिक उसे वेदना उठानी पड़ेगी। यही दु:ख तथा अनर्थ की स्थिति निर्मल सम्यग्ज्ञानादि को मलिन करने पर होती है।

हिंसा पाप का बन्ध किसको और किसको नहीं

[१]अयत्नचारिणो हिंसा मृते जीवेऽमृतेऽपि च।
प्रयत्नचारिणो बन्ध: समितस्य वधेऽपि नो॥२८॥

अर्थ—जो यत्नाचार रहित (प्रमादी) है उसके जीव के मरने तथा न मरने पर भी हिंसा होती है और जो ईर्यादि समितियों से युक्त हुआ यत्नाचारी है उसके जीव का घात होने पर भी (हिंसा कर्म का) बन्ध नहीं होता।

व्याख्या—मोक्षमार्ग के अंगभूत सम्यक्चारित्र में हिंसा की पूर्णत: निवृत्तिरूप अहिंसा महाव्रत की प्रधानता है, उस अहिंसामहाव्रत की मलिनता का विचार करते हुए यहाँ सिद्धान्तरूप में एक बड़े ही महत्त्व की सूचना की गयी है और वह यह कि हिंसा–अहिंसा का सम्बन्ध किसी जीव के मरने–न–मरने (जीने) पर अवलम्बित नहीं है, कोई जीव न मरे परन्तु जो अयत्नाचारी–प्रमादी है उसको हिंसा का दोष लगाकर महाव्रत मलिन होता ही है और जो प्रयत्नपूर्वक मार्ग शोधता हुआ सावधानी से चलता है, फिर भी उसके शरीर से किसी जीव का घात हो जाता है तो उस जीव घात का उसको

---

१. मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥३–१७॥ –प्रवचनसार।

कोई दोष नहीं लगता और इससे उसका अहिंसा महाव्रत मलिन नहीं होता। सारांश यह निकला कि हमारा अहिंसाव्रत हमारी प्रमादचर्या से मलिन होता है किसी जीव की मात्र हिंसा हो जाने से नहीं। अतः साधु को अपने व्रत की रक्षा के लिए सदा प्रमाद के त्यागपूर्वक यत्नाचार से प्रवृत्त होना चाहिए। इस विषय में श्री अमृतचन्द्रसूरि के निम्न हेतु-पुरस्सर-वाक्य सदा ध्यान में रखने योग्य हैं–

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥
व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥
यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥४७॥

–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

इनमें बतलाया है कि–जो साधु यत्नाचार से प्रवृत्त हो रहा है उसके रागादि के आवेश का अभाव होने से किसी का प्राणव्यपरोपण हो जाने पर भी कभी हिंसा नहीं होती। रागादि के वश प्रवृत्त होने वाली प्रमादावस्था में तो कोई जीव मरे या न मरे हिंसा आगे-आगे दौड़ती हुई चलती है, निश्चित रूप से हिंसा होती ही है, क्योंकि जो जीव कषायरूप प्रवृत्त होता है वह पहले अपने द्वारा अपना ही घात करता है पश्चात् दूसरे जीवों का घात हो या न हो यह उनके भविष्य से सम्बन्ध रखता है।

पूर्व कथन का स्पष्टीकरण

पादमुत्क्षिपतः साधोरीर्यासमिति-भागिनः।
यद्यपि म्रियते सूक्ष्मः शरीरी पाद-योगतः॥२९॥
तथापि तस्य तत्रोक्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि नागमे।
प्रमाद-त्यागिनो[2] यद्वन्निर्मूर्च्छस्य परिग्रहः॥३०॥

अर्थ–यद्यपि ईर्यासमिति से युक्त–भले प्रकार देखभाल कर सावधानी से चलते हुए योगी के पैर को उठाकर रखते समय (कभी-कभी) सूक्ष्म जन्तु पैर तले आकर मर जाता है तथापि जिनागम में उस प्रमादत्यागी योगी के उस जीवघात से सूक्ष्म भी बन्ध का होना नहीं कहा गया है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि मूर्च्छा-ममतारहित के परिग्रह नहीं कहा गया।

व्याख्या–पिछले पद्य में जो कुछ कहा गया है उसी को इन दोनों पद्यों में उदाहरण के साथ

---

१. उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए। आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्जं तं जोगमासेज्ज॥१८।१॥ ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो यदेसिदो समये। मुच्छापरिग्गहो च्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो॥१८।२॥ प्रवचनसार अ. ३।
२. आद्वि तत्रोक्तम्।

स्पष्ट करके बतलाया गया है। एक साधु ईर्यासमिति से चार हाथ आगे तक की भूमि को देखता-शोधता हुआ इस सावधानी के साथ मन्दगति से चला जा रहा है कि किसी जीव के ऊपर उसका पैर न पड़ जाये, फिर भी कोई सूक्ष्म जीव पैर को उठाते समय अचानक इधर-उधर से आकर पैर के नीचे आ जाता और मर जाता है तो उस जीव के बन्ध का सूक्ष्म भी पापबन्ध जैनागम की दृष्टि से उस प्रमाद रहित साधु को नहीं होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि मूर्च्छा (ममत्वपरिणाम) से रहित के परिग्रह का दोष नहीं लगता, क्योंकि 'मूर्च्छा परिग्रहः' परिग्रह का लक्षण ही मूर्च्छा कहा गया है और 'मूर्च्छा तु ममत्व-परिणामः' इस लक्षण के अनुसार मूर्च्छा ममत्व-परिणाम का नाम है। इसी से समवसरण जैसे महाविभूति के होते हुए भी ममत्व-परिणाम के जनक मोहनीयकर्म का अभाव हो जाने से तीर्थंकर परमदेव परिग्रह के शेष से अलिप्त रहते हैं।

अन्तरंग परिग्रह को न छोड़कर बाह्य को छोड़ने वाला प्रमादी

प्रमादी त्यजति ग्रन्थं बाह्यं मुक्त्वापि नान्तरम्।
हित्वापि कञ्चुकं सर्पो गरलं न हि मुञ्चते॥३१॥

अर्थ—जो प्रमादी (मुनि) है वह अन्तरंग परिग्रह को न छोड़ते हुए भी बाह्य परिग्रह को छोड़ता है। (ठीक है) सर्प काँचली को छोड़कर भी विष को नहीं छोड़ता।

व्याख्या—जो राग, द्वेष, काम, क्रोधादि अन्तरंग-परिग्रहों का त्याग न करके वस्त्रादि बाह्य परिग्रहों का त्याग करता है उस निर्ग्रन्थ साधु को यहाँ 'प्रमादी' बतलाया हैं, वह गरल (विष) को न छोड़कर काँचली छोड़ने वाले सर्प के समान होता है। ऐसे ही निर्ग्रन्थ मुनियों को लक्ष्य करके श्री मल्लिषेणाचार्य ने सज्जनचित्तवल्लभ में लिखा है—

किं वस्त्र-त्यजनेन भो मुनिरसावेतावता जायते।
क्ष्वेडेन च्युतपन्नगो गतविषः किं जातवान् भूतले॥

इसमें बतलाया है कि हे मुनि! वस्त्र को त्यागने मात्र से ही क्या कोई मुनि हो जाता हैं, क्या इस भूतल पर काँचली के छोड़ने से कोई सर्प निर्विष हुआ हैं?

अन्तःशुद्धि के बिना बाह्य-शुद्धि अविश्वसनीय

अन्तःशुद्धिं विना बाह्या न साश्वासकरी मता।
धवलोऽपि बको बाह्ये हन्ति मीनाननेकशः॥३२॥

अर्थ—अन्तरंग की शुद्धि के बिना बाह्यशुद्धि विश्वास के योग्य नहीं होती। बगुला बाह्य में धवल-उज्ज्वल होने पर भी (अन्तरंग शुद्धि के अभाव में) अनेक मछलियों को मारता रहता है।

व्याख्या—अन्तःशुद्धि के बिना बाह्य शुद्धि विश्वास का कारण नहीं होती, इस बात को स्पष्ट

करते हुए यहाँ बगुले का दृष्टान्त दिया गया है जो बाह्य में स्वच्छ धवल होते हुए भी अन्तरंग में मलिनता के कारण अनेक मछलियों को मारा करता है। उसकी इस अन्तःशुद्धिविहीन कपट वृत्ति को लेकर ही किसी कवि ने कहा हैं–

''उज्ज्वल वर्ण अधीन गति एक चरण दो ध्यान।
मैं जाना कोई साधु है, निरी कपट की खान॥''

इसी से जिन साधुओं का अन्तरंग शुद्ध नहीं होता उन्हें 'बगुला भगत' कहा जाता है। उनका विश्वास नहीं किया जाता, जो भूल से विश्वास कर बैठता है वह ठगा जाता है हानि उठाता हैं।

प्रमादी तथा निष्प्रमादी योगी की स्थिति

[1]योगी षट्स्वपि[2] कायेषु सप्रमादः प्रबध्यते।
सरोजमिव तोयेषु निष्प्रमादो न लिप्यते॥३३॥

अर्थ–जो योगी षट्काय के जीवों में प्रमाद से प्रवृत्त होता है वह कर्मों से बँधता है और जो प्रमाद से प्रवृत्त नहीं होता वह कर्मों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता। जिस प्रकार जल में कमल।

व्याख्या–संसारी जीव त्रस-स्थावर के भेद से दो प्रकार के होते हुए भी काय की दृष्टि से छह प्रकार के हैं–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति के शरीर को धारण करने वाले-पाँच प्रकार के एक इन्द्रिय स्थावर जीव होते हैं और दो इन्द्रियादिरूप त्रस शरीर को धारण करने वाले त्रस जीव कहलाते हैं। इन छहों प्रकार के देहधारी जीवों के प्रति जो योगी प्रमाद से प्रवृत्त होता है वह हिंसा के दोष का भागी होकर कर्म के बन्धन को प्राप्त होता है और जिसकी प्रवृत्ति प्रमादरूप न होकर यत्नाचार को लिए हुए होती है, वह जल में कमल के समान निर्लेप रहता है, कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता।

जीव घात होने पर बन्ध हो न भी हो, परिग्रह से उसका होना निश्चित

[3]साधुर्यतोऽङ्गिघातेऽपि कर्मभिर्बध्यते न वा।
उपधिक्ष्यो[4] ध्रुवो बन्धस्त्याज्यास्तैः सर्वथा ततः॥३४॥

अर्थ–चूँकि कायचेष्टा के द्वारा जीव का घात होने पर भी साधु (कभी तो प्रमादरूप अशुद्ध उपयोगों के कारण) कर्मों से बँधता है और कभी (अप्रमादरूप शुद्ध उपयोग के कारण) नहीं भी बँधता; परन्तु परिग्रहों के द्वारा तो निश्चित बन्ध होता है इसलिए साधुओं के द्वारा परिग्रह सर्वथा त्याज्य है।

---

१. अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो। चरदि जंद जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥३-१८॥ प्रवचनसार। २. आ षडपि। ३. हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठमि। बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं॥३-१९॥ प्रवचनसार। ४. मु उपाधिभ्यो।

व्याख्या—कायचेष्टा से जीव का घात होने पर तो बन्ध के विषय में अनेकान्त है, वह कभी होता है और कभी नहीं भी होता। अन्तरंग में यदि प्रमादरूप अशुद्ध उपयोग का सद्भाव है तो होता है और सद्भाव नहीं किन्तु अभाव है तो बन्ध नहीं होता, परन्तु परिग्रह के विषय में बन्ध का अनेकान्त नहीं किन्तु एकान्त है वह अवश्य ही होता है। इसी से सच्चे मुमुक्षु साधु परिग्रहों का सर्वथा त्याग करते हैं, किसी में भी अपना ममत्व नहीं रखते।

एक भी परिग्रह के न त्यागने का परिणाम

[1]एकत्राप्यपरित्यक्ते चित्तशुद्धिर्न विद्यते।
चित्तशुद्धिं विना साधोः कुतस्त्या कर्म-विच्युतिः॥३५॥

अर्थ—एक भी परिग्रह के न त्यागे जाने पर (पूर्णतः) चित्तशुद्धि नहीं बनती और चित्तशुद्धि के बिना साधु के कर्मों से मुक्ति कैसी?

व्याख्या—भूमि, भवन, धन-धान्यादि के भेद से बाह्य परिग्रह दस प्रकार का और मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यादि के भेद से अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का कहा गया है। इन चौबीस प्रकार के परिग्रहों में से यदि एक का भी त्याग नहीं किया जाता तो चित्तशुद्धि पूरी नहीं बनती और जब तक चित्तशुद्धि पूरी नहीं बनती तब तक कर्मों से मुक्ति भी पूर्णतः नहीं हो पाती। अतः मुक्ति के इच्छुक साधु को सभी परिग्रहों का त्याग कर अपने उपयोग को शुद्ध करना चाहिए। इसी से श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने परिग्रह के त्याग को निरपेक्ष बतलाया है। यदि वह निरपेक्ष न होकर तिलतुष मात्र थोड़े से भी परिग्रह की अपेक्षा रखता है तो उससे साधु के शुद्धोपयोग नहीं बनता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि बाह्य में जब तक तुष का सम्बन्ध रहता है तब तक चावल में जो ललाईरूप मल है वह दूर होने में नहीं आता। जिस साधु के शुद्धोपयोग नहीं बनता उसके कर्मों से मुक्ति भी नहीं होती, राग-द्वेष की प्रवृत्ति में शुभाशुभ कर्म बँधते ही रहते हैं।

चेलखण्ड का धारक साधु निरालम्ब-निरारम्भ नहीं हो पाता

[2]'सूत्रोक्त' मिति गृह्णानश्चेलखण्डमिति स्फुटम्।
निरालम्बो निरारम्भः संयतो जायते कदा॥३६॥

अर्थ—जो संयमी-मुनि 'आगम में कहा है' ऐसा कहकर वस्त्रखण्ड (लंगोटी आदि) को स्पष्टतया धारण करता है वह निरालम्ब और निरारम्भ कब होता है? कभी भी नहीं हो पाता।

---

१. ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ॥३-२०॥ प्रवचनसार।

२. गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थि त्ति भणिदमिह सुत्ते।
जदि सोचत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो॥२१॥ (क)-प्रवचनसार अ. ३।

व्याख्या—यदि साधु के लिए वस्त्रखण्ड आदि का रखना शास्त्र-सम्मत माना जाये तो वह साधु कभी भी आलम्बन रहित पर की अपेक्षा-अधीनता से वर्जित और निरारम्भ स्वपर घात से शून्य नहीं हो सकेगा। सदा पराधीन तथा हिंसक बना रहेगा और इसलिए स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि एवं मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकेगा।

वस्त्र-पात्रग्राही योगी के प्राणघात और चित्तविक्षेप अनिवार्य

[१]अलाबु-भाजनं वस्त्रं गृह्णतोऽन्यदपि ध्रुवम्।
प्राणारम्भो यतेश्चेतोव्याक्षेपो वायते कथम् ॥३७॥

अर्थ—तुम्बी पात्र, वस्त्र तथा और भी परिग्रह को निश्चितरूप से ग्रहण करने वाले साधु के प्राणवध और चित्त का विक्षेप कैसे निवारण किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता।

व्याख्या—पिछले पद्य में प्रयुक्त 'चेलखण्ड' पद यद्यपि 'वस्त्रखण्डमात्र' का वाचक है परन्तु उपलक्षण से उसमें भाजन आदि भी शामिल हैं, इसी बात को यहाँ 'वस्त्र' पद के साथ 'अलाबुभाजनं' और 'अन्यदपि' पदों के द्वारा स्पष्ट किया गया है, 'अन्यत्' शब्द कम्बल तथा मृदु शय्यादि का वाचक-सूचक हैं और इसलिए इन्हें भी 'सूत्रोक्त' परिग्रह की कोटि में लेना चाहिए। इन पर-पदार्थों के ग्रहण में प्रवृत्त योगी के प्राणघात और चित्त के विक्षेप का निराकरण नहीं किया जा सकता, शुद्धोपयोग के न बनने से वे दोनों बराबर होते ही रहते हैं। 'अलाबुभाजन' और प्रवचनसार का 'द्रग्धि का भाजन' दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं।

विक्षेप की अनिवार्यता और सिद्धि का अभाव

[२]स्थापनं चालनं रक्षां क्षालनं शोषणं यतेः।
कुर्वतो वस्त्रपात्रादेर्व्याक्षेपो न निवर्तते ॥३८॥
[३]आरम्भोऽसंयमो मूर्च्छा कथं तत्र निषिध्यते।
पर-द्रव्य-रतस्यास्ति स्वात्म-सिद्धिः कुतस्तनी॥३९॥

अर्थ—जो योगी वस्त्र-पात्रादि का रखना-धरना, चलाना-रक्षा करना, धोना-सुखाना करता है उसके चित्त का विक्षेप नहीं मिटता। उनको करते हुए आरम्भ, असंयम तथा ममता का निषेध (अभाव) कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता और इस तरह परद्रव्य में आसक्त साधु के स्वात्मसिद्धि कैसी? वह नहीं बन सकती।

---

१. वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं। विज्जदि णाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥२१॥ (ख)-प्रवचनसार अ. ३। २. गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता। पत्थं च चेलखंडं विभेदेपरदो य पालयदि ॥३-२१॥ (ग)॥ -प्रवचनसार। ३. किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स। तध परदव्वम्मि रदो कथमप्पाणं पसाधयदि ॥ ३-२१॥ -प्रवचनसार।

व्याख्या—वस्त्र-पात्रादि परिग्रहों को रखकर जो कार्य साधु को करने पड़ते हैं उनका संक्षेप में उल्लेख करके यहाँ चित्त के विक्षेप को स्पष्ट किया गया है। साथ ही यह बतलाया है कि उक्त कार्यों को करते हुए प्राणवध का, असंयम का और ममत्व-परिणाम का अभाव कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता और इन अभावों के न बन सकने से परद्रव्य में रति के कारण स्वात्मसिद्धि कैसे हो सकती है? वह किसी प्रकार भी नहीं बन सकती और इसलिए स्वात्म-साधना का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। अतः उक्त परिग्रहों का रखना सर्वथा उचित नहीं कहा जा सकता।

जिसका ग्रहण-त्याग करते कोई दोष न लगे उसमें प्रवृत्ति की व्यवस्था

[१]न यत्र विद्यते च्छेदः कुर्वतो ग्रह-मोक्षणे।
द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय साधुस्तत्र प्रवर्तताम्॥४०॥

अर्थ—जिस (बाह्य) परिग्रह को ग्रहण-मोचन करते हुए साधु के दोष नहीं लगता—प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं होती उसमें द्रव्य-क्षेत्र को भले प्रकार जानकर साधु प्रवृत्त होवे।

व्याख्या—यहाँ अपवाद मार्गकी दृष्टि को लेकर कथन किया गया है। उत्सर्ग मार्ग में चूँकि आत्मा के अपने शुद्धात्मभाव के सिवाय दूसरे परद्रव्य-पुद्गल का कोई भाव नहीं होता इसीलिए उसमें सभी परिग्रहों का पूर्णतः त्याग विहित है। अपवाद मार्ग उससे कुछ भिन्न है, उसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि को लेकर अशक्ति के कारण कुछ बाह्य परिग्रह का ग्रहण किया जाता है, उसी परिग्रह के सम्बन्ध में यहाँ कुछ व्यवस्था की गयी है और वह यह है कि जिस परिग्रह के ग्रहण-त्याग में उसके सेवन करने वाले को छेद-दोष न लगे शुद्धोपयोगरूप संयम का घात न हो उस परिग्रह को वह साधु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानकर ग्रहण कर सकता है। यहाँ प्रयुक्त हुए 'द्रव्यं क्षेत्रं' पद उपलक्षण से काल और भाव के भी सूचक हैं। प्रवचनसार में जहाँ 'कालं' 'खेत्तं' पदों का प्रयोग है वहाँ इस पद्य में 'द्रव्यं' 'क्षेत्रं' पदों का प्रयोग है, जो कि उपलक्षण से स्वामी समन्तभद्र की दृष्टि के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों के द्योतक जान पड़ते हैं, यही इसमें प्रवचनसार के कथन से विशेषता पायी जाती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों के परिज्ञान से ही वस्तु का ठीक परिज्ञान होता है और इसी से अपनी शक्ति को तोलकर अपवादमार्ग को ग्रहण किया जाता है। यहाँ वही अपवाद मार्ग ग्राह्य है जिसमें छेद के लिए स्थान न हो ऐसा कोई बाह्य परिग्रह ग्रहण न किया जाये जो अपने शुद्धोपयोगरूप संयम का घातक हो।

---

१. छेदो जेण ण विज्जदि गहण-विसग्गेसु सेवमाणस्स। समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता॥३-२२॥—प्रवचनसार।

कौन पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए

[१]संयमो हन्यते येन प्रार्थ्यते यदसंयतैः।
येन संपद्यते मूर्च्छा तन्न ग्राह्यं हितोद्यतैः॥४१॥

अर्थ—जो अपने हित की साधना में उद्यमी साधु हैं उनके द्वारा वह पदार्थ ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए जिससे संयम की हानि हो, ममत्व परिणाम की उत्पत्ति हो अथवा जो असंयमियों के द्वारा प्रार्थित हो, असंयमी लोग जिसे निरन्तर चाहते हैं।

व्याख्या—अपवादमार्ग में जिस परिग्रह को ग्रहण नहीं करना चाहिए उसका यहाँ पर प्रायः स्पष्टीकरण किया गया है और उसमें मुख्यतः तीन बातों का समावेश किया गया है एक तो जिससे संयम का हनन होता हो, दूसरे जो असंयमी जनों की प्रार्थना का विषय हो और तीसरे जो ममत्व-परिणाम का कारण हो, इन तीन दोषों में से किसी भी दोष का जो कारण हो उस परिग्रह को यहाँ निषिद्ध बतलाया है। अतः जो परिग्रह इन दोषों में से किसी का कारण नहीं उसे अप्रतिषिद्ध समझना चाहिए। प्रवचनसार में अप्रतिषिद्धरूप से ही ऐसे परिग्रह का उपधि-उपकार के रूप में वर्णन करके उसके अन्यरूप में ग्रहण की प्रेरणा की है, जैसा कि पादटिप्पणी में उद्धृत तुलनात्मक गाथा २३ से प्रकट है।

काय से भी निस्पृह मुमुक्षु कुछ नहीं ग्रहण करते

[२]मोक्षाभिलाषिणां येषामस्ति कायेऽपि निस्पृहा।
न वस्त्वकिंचनाः किंचित् ते गृह्णन्ति कदाचन॥४२॥

अर्थ—जिन मोक्षाभिलाषियों की अपने शरीर में भी विरक्ति है वे निष्किंचन साधु कदाचित् कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते।

व्याख्या—यहाँ उन उत्कट मोक्षाभिलाषियों का उल्लेख है जो उस प्राकृतिकरूप से गृहीत हुए शरीर में भी निस्पृहता के साथ वर्तते हैं जो कि मुनिपर्याय का सहकारी कारण होने के कारण निषिद्ध नहीं है। वे उसे परद्रव्य होने से परिग्रह समझते हैं, अनुग्रह का विषय न मानकर उपेक्ष्य मानते हैं और इसलिए उसके प्रतिकार में इलाज-उपचार में प्रवृत्त नहीं होते। ऐसे महान् उत्सर्गमार्गी अकिंचन-निष्परिग्रह मुनि कभी कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते हैं। ऐसे उत्सर्गमार्गी मुनि के शरीर से भिन्न अन्य परिग्रह तो भला कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता। शरीर भी निर्ममत्व के कारण पूर्णतः परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता।

---

१. अप्पडिकुट्टं उवधि अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं। मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि। अप्पं॥३-२३॥—प्रवचनसार।

२. किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोऽध देहे वि। संग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा॥३-२४॥—प्रवचनसार।

स्त्रियों का जिनलिंग-ग्रहण सव्यपेक्ष क्यों?

[1]यत्र लोकद्वयापेक्षा जिनधर्मे न विद्यते।
तत्र लिङ्गं कथं स्त्रीणां सव्यपेक्षमुदाहृतम्॥४३॥

अर्थ—जिस जिनेन्द्र-देशित धर्म में दोनों लोकों की अपेक्षा नहीं पायी जाती, इस लोक तथा परलोक को लक्ष्य करके धर्म नहीं किया जाता उसमें स्त्रियों के लिंग को अपेक्षा-सहित वस्त्रप्रावरण की अपेक्षा रखने वाला क्यों कहा गया?

व्याख्या—यह पद्य प्रश्नात्मक है। इसमें लोक-परलोक की अपेक्षा न रखने वाले जिनधर्म में स्त्रियों के जिनलिंग-ग्रहण को 'सव्यपेक्ष' क्यों कहा गया है? यह एक प्रश्न उपस्थित हुआ है, अगले कुछ पद्यों में इसका उत्तर दिया गया है।

पूर्व प्रश्न का उत्तर : स्त्री पर्याय से मुक्ति न होना आदि

[2]नामुना जन्मना स्त्रीणां सिद्धिर्निश्चयतो यतः।
अनुरूपं ततस्तासां लिङ्गं लिङ्गविदो विदुः॥४४॥

अर्थ—चूँकि स्त्रियों के अपने उस जन्म से स्त्रीपर्याय से स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि की (मुक्ति की) प्राप्ति नहीं होती अतः लिंग के जानकारों ने उनके अनुरूप लिंग की देशना की है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जो प्रश्न किया गया है उसका उत्तर इस पद्य में यह दिया है कि स्त्रीजनों को स्त्रीपर्याय से मुक्ति की प्राप्ति निश्चितरूप से न हो सकने के कारण लिंग के विशेषज्ञों ने उनके लिए उनके अनुकूल लिंग की-वस्त्रादि सहित वेष की व्यवस्था की है।

प्रमाद-मय-मूर्तीनां प्रमादोऽतो यतः सदा।
[3]प्रमदास्तास्ततः प्रोक्ताः प्रमाद-बहुलत्वतः॥४५॥
विषादः प्रमदो मूर्च्छा जुगुप्सा मत्सरो भयम्।
चित्ते चित्रायते माया ततस्तासां न निर्वृत्तिः॥४६॥

अर्थ—चूँकि प्रमादमय मूर्तियों, स्त्रियों के सदा प्रमाद बना रहता है अतः प्रमाद की बहुलता के कारण उन्हें 'प्रमदा' कहा गया है और चूँकि उनके चित्त में प्रमद, विषाद, ममता, ग्लानि, ईर्ष्या, भय तथा माया चित्रित रहती है। इससे उनकी (स्त्रीपर्याय से) मुक्ति नहीं होती।

---

१. पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिद दोसिदो धम्मो। धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीणं॥३-२५(क)॥प्रवचनसार। २. णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी णहि तेण जम्मणदिट्ठा। तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं॥३-२५ (ख)-प्रवचनसार। ३. पयडी पमादमया एदासिं वि त्ति भासिया पमदा। तम्हा ताओ पमदा पमादबहुले त्ति णिद्दिट्ठा॥३-२५ (ग)। संति धुवं पमदाणं मोह पदोसा भयं दुगुंछा य। चित्ते चित्ता माया तम्हा तासि ण णिव्वाणं॥ ४.-२५ (घ)॥ प्रवचनसार।

व्याख्या—यहाँ स्त्रीजनों को स्त्रीपर्याय से मुक्ति की प्राप्ति क्यों नहीं होती? इस पिछले पद्य में से उठने वाले प्रश्न का समाधान किया गया है और उसमें कुछ ऐसे दोषों को दर्शाया गया है जो मुक्ति में बाधक होते हैं और स्त्रियों में स्वभाव से अथवा प्रायः बहुलता से पाये जाते हैं। उनमें प्रमाद को सबसे पहले लिया गया है, जिसकी बहुलता के कारण स्त्रियों को 'प्रमदा' कहा जाता है और उन्हें यहाँ 'प्रमादमय मूर्ति के नाम से भी उल्लेखित किया गया है। 'प्रमाद' शब्द मात्र आलस्य तथा असावधानी का वाचक नहीं, बल्कि उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय, स्त्री, राज, भोजन तथा चोर ये चार प्रकार की विकथाएँ राग, निद्रा और पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय ये १५ बातें शामिल हैं। आमतौर से स्त्रियों में इनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अथवा बहुलता पायी जाती है। इस प्रमाद के अनन्तर विषाद, ममता, ग्लानि, ईर्ष्या, भय और उस मायाचार दोष को गिनाया गया है जो प्रयत्न-पूर्वक न होकर स्वाभाविक होता है। ये सब दोष मुक्ति की प्राप्ति में बाधक हैं अतः स्त्रियों को अपनी उस पर्याय से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

[1]न दोषेण विना नार्यो यतः सन्ति कदाचन।
गात्रं च संवृतं तासां संवृतिर्विहिता ततः॥४७॥

अर्थ—चूँकि स्त्रियाँ (पूर्वोक्त दोषों में से किसी एक) दोष के बिना कदाचित् भी नहीं होतीं और गात्र उनका स्पष्टतः संवृत (ढका हुआ) नहीं होता, इससे उनके वस्त्रावरण की व्यवस्था की गयी है।

व्याख्या—पिछले पद्यों में जिन दोषों का उल्लेख है वे सब यदि एकत्र न भी होवें तो भी उनमें से कोई न कोई एक दोष स्त्रियों में जरूर होता है, ऐसा यहाँ नियम किया गया है और वह एक दोष भी शुद्धात्मस्वभाव के विपरीत होने के कारण मुक्ति की प्राप्ति में बाधक होता है। मुक्ति की प्राप्ति में बाधक दोष के कारण और स्त्रियों का गात्र स्वयं संवृत-आच्छादित न होने के कारण उसके वस्त्रावरण से आच्छादन की व्यवस्था की गयी है।

[2]शैथिल्यमार्तवं चेतश्चलनं श्रा (स्त्रा) वणं तथा।
तासां सूक्ष्म-मनुष्याणामुत्पादोऽपि बहुस्तनौ॥४८॥
कक्षा-श्रोणि-स्तनाद्येषु देह-देशेषु जायते।
उत्पत्तिः सूक्ष्म-जीवानां यतो, नो संयमस्ततः॥४९॥

---

१. ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि। ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासि च संवरण॥३-२५ (ङ)–प्रवचनसार।

२. चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं। विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणु आणं॥३-२५ (च)॥ लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहि-कक्ख-देसेसु। भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि। ३-२५ (छ)।–प्रवचनसार। लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु। भणिओ सुहमो काओकतासि कह होइ पव्वज्जा॥२४। चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण। विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु णऽसंकया झाणं॥२६॥–सुत्तपाहुड।

अर्थ—चूँकि स्त्रियों के शरीर में शिथिलता, ऋतुकाल (रक्तोत्पाद), रक्तस्राव, चित्त की चंचलता, लब्धि अपर्याप्तक सूक्ष्म मनुष्यों का बहुत उत्पाद और कांख-योनि-स्तनादिक शरीर के अंगों में सूक्ष्म जीवों की बहुत उत्पत्ति होती है इसलिए उनके (सकल) संयम नहीं बनता।

व्याख्या—यहाँ स्त्रियों में पाये जाने वाले दूसरे कुछ ऐसे दोषों को उल्लेखित किया है जो प्रायः शरीर से सम्बन्ध रखते हैं और जिनके कारण स्त्रियों के पूर्णतः संयम का पालन नहीं बनता। पूर्णतः संयम का न पालन भी मुक्ति की प्राप्ति में बाधक है। जब स्त्रियों के स्वभावतः कुछ शारीरिक तथा मानसिक दोषों के कारण पूर्णतः संयम नहीं बनता और इसलिए मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती तब उनके शरीर को बिल्कुल नग्न दिगम्बररूप में रखने की आवश्यकता नहीं और इसलिए वस्त्र से उसके आच्छादन की व्यवस्था की गयी है।

शशाङ्कामल-सम्यक्त्वाः समाचार-परायणाः।
सचेलास्ताः[१] स्थिता लिङ्गे तपस्यन्ति विशुद्धये ॥५०॥

अर्थ—जो स्त्रियाँ चन्द्रमा के समान निर्मल सम्यक्त्व से युक्त हैं और समीचीन आचार में प्रवीण हैं वे जिनलिंग में सवस्त्र रूप से स्थित हुई आत्मविशुद्धि के लिए तपश्चरण करती हैं।

व्याख्या—यहाँ उन ऊँचे दर्जे की साध्वियों के लिए भी सचेल (वस्त्रसहित) रहने का विधान किया है जो अति निर्मल सम्यक्त्व की धारिका हैं और समाचार में सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र के अनुष्ठान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप और वीर्यरूप पंचाचार के पालन में, समता की साधना में अथवा उस समाचार की आराधना में, जिसका मूलाचार में एक अधिकार (न.४) ही अलग से दिया गया है, प्रवीण हैं। ऐसी साध्वी स्त्रियाँ सवस्त्र रहकर अपनी आत्मशुद्धि के लिए तपश्चरण करती हैं।

कौन पुरुष जिनलिंग ग्रहण के योग्य

शान्तस्तपः[२]क्षमोऽकुत्सो वर्णेष्वेकतमस्त्रिषु।
कल्याणाङ्गो नरो योग्यो लिङ्गस्य ग्रहणे मतः॥५१॥

अर्थ—जो मनुष्य शान्त है, तपश्चरण में समर्थ है, दोषरहित है, तीन वर्ण ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य में से किसी एक वर्ण का धारक है और कल्याणरूप सुन्दर शरीर के अंगों से युक्त है वह जिनलिंग के ग्रहण में योग्य माना गया है।

व्याख्या—जिस जिनलिंग का रूप इस अधिकार के आरम्भ में दिया गया है उसको धारण करने का पात्र कौन है उसकी यहाँ देशना की गयी है। वह एक तो स्वभाव से शान्त होना चाहिए, दूसरे

---

१. आ सचेलताः। २. वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा। सुमहो कुंछारहिदो लिंगग्गगहणे हवदि जोग्गो॥३-२५॥ (ज)–प्रवचनसार।

तपश्चरणसम्बन्धी कष्टों के सहन की उसमें सामर्थ्य होनी चाहिए अतिबाल तथा अतिवृद्ध अवस्था को लिए हुए न होना चाहिए तीसरे वह कुत्सारहित होना चाहिए लोक में किसी दुराचारादि के कारण बदनाम न होना चाहिए, चौथे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य इन तीन वर्णों में से किसी भी एक वर्ण का धारक पुरुष होना चाहिए स्त्री नहीं, पाँचवें शरीर से नीरोग होना चाहिए। ये बातें यदि नहीं हैं तो जिनदीक्षा का पात्र नहीं है।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है और वह यह कि श्री जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार की 'वण्णेसु तीसु एक्को' इस गाथा की टीका में ''एवंगुणविशिष्टो पुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति'' लिखकर यह भी लिखा है कि ''यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि'' जिसका आशय है कि योग्यता के अनुसार सत् शूद्र और आदि शब्द से म्लेच्छ भी जिनदीक्षा का पात्र हो सकता है। 'यथा योग्यं' पद में उसकी दृष्टि सन्निहित है और वह इस बात को सूचित करती है कि सब सत् शूद्रादिक नहीं किन्तु कुछ खास योग्यता प्राप्त शूद्रादिक, जैसे म्लेच्छ खण्डों से, जहाँ कोई वर्णव्यवस्था नहीं, तथा हिंसा में रति और मांसभक्षण में प्रीति आदि दुराचार चलता है, चक्रवर्ती के साथ आये हुए कुछ म्लेच्छ राजादिक, जिन्हें जिनदीक्षा के योग्य बतलाया गया है।[१]

जिनलिंग-ग्रहण में बाधक व्यङ्ग

कुल-जाति-वयो-देह-कृत्य-बुद्धि-क्रुधादयः।
नरस्य कुत्सिता व्यङ्गास्तदन्ये लिङ्गयोग्यता॥५२॥

अर्थ—(जिनलिंग के ग्रहण में) कुकुल, कुजति, कुवय, कुदेह, कुकृत्य, कुबुद्धि और कुक्रोधादिक, ये मनुष्य के जिनलिंग-ग्रहण में व्यंग है, भंग हैं अथवा बाधक हैं। इनसे भिन्न सुकलादिक लिंग ग्रहण की योग्यता को लिए हुए हैं।

व्याख्या—यहाँ जिनलिंग के ग्रहण में अयोग्यता के द्योतक कारणों को व्यंग के रूप में उल्लेखित किया गया है, जिसके लिए प्राकृत में 'भंग' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। 'कुत्सिताः' विशेषण कुल, जाति, वय, देह, कृत्य, बुद्धि और क्रुधादिक सबके लिए लागू किया गया है, जो खोटे, बुरे, निन्दनीय तथा अप्रशस्त अर्थ का वाचक है और इसलिए उसको यथायोग्य सब पर लगा लेना चाहिए। जो कुल जाति आदि उक्त विशेषणों के पात्र हैं उनमें जिनलिंग के ग्रहण की योग्यता नहीं है। इसके विपरीत अकुत्सित विशेषण के जो पात्र हैं, उन सबमें जिनलिंग के ग्रहण की योग्यता समझनी चाहिए। अतः दीक्षाचार्य को इन सब बातों को ध्यान में रखकर जो जिनदीक्षा का पात्र समझा जाये

---

१. म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाशङ्कितव्यम्। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथा जातीयदीक्षार्हत्त्वे प्रतिषेधाभावात्॥''—लब्धिसार टीका गाथा१९३।

उसे ही जिनदीक्षा देनी चाहिए, अपनी कुलवृद्धि या मोह-लोभादिक के वश होकर नहीं।

व्यंग का वास्तविक रूप

[1]येन रत्नत्रयं साधोर्नाश्यते[2] मुक्तिकारणम्।
स व्यङ्गो भण्यते नान्यस्तत्त्वतः सिद्धिसाधने॥५३॥

अर्थ—वास्तव में जिसके कारण साधु का मोक्ष में कारणीभूत रत्नत्रय धर्म नाश को प्राप्त होता है वह व्यंग (भंग) कहा गया है, अन्य कोई सिद्धि के साधन में बाधक नहीं है।

व्याख्या—यहाँ साररूप में अथवा निश्चयनय की दृष्टि से व्यंग (भंग) का कथन किया गया है और उसे ही वास्तव में व्यंग बतलाया है, जिससे साधु के सिद्धि-मुक्ति के साधनभूत रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) का नाश होता हो अथवा ठीक पालन न बनता हो। दूसरा और कोई व्यंग इस विषय में वस्तुतः नहीं है। सम्भव है इसी दृष्टि को लेकर जयसेनाचार्य ने यथायोग्य सत् शूद्रादि को भी जिनदीक्षा का पात्र लिखा हो।

व्यावहारिक व्यंग सल्लेखना के समय अव्यंग नहीं होता

[3]यो व्यावहारिको व्यङ्गो[4] मतो रत्नत्रय-ग्रहे।
न सोऽपि जायतेऽव्यङ्गः साधुः (धोः) सल्लेखना-कृतौ॥५४॥

अर्थ—जो रत्नत्रय (जिनलिंग) के ग्रहण में व्यावहारिक व्यंग माना गया है वह सल्लेखना के अवसर पर साधु के अव्यंग नहीं हो जाता।

व्याख्या—यहाँ सल्लेखना के अवसर पर साधु बनने वाले के विषय में व्यावहारिक व्यंग की बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो रत्नत्रयरूप जिनलिंग के ग्रहण में व्यावहारिक व्यंग पद्य नं॰ ५२ के अनुसार माना गया है वह सल्लेखना के अवसर पर अव्यंग नहीं हो जाता—व्यंग ही रहता है। अर्थात् सल्लेखना के अवसर पर जो साधु-मुनि बनना चाहे और उक्त प्रकार के व्यंगों में किसी व्यंग को लिए हुए हो तो वह मुनिदीक्षा को प्राप्त नहीं हो सकता उसे दिगम्बर मुनिदीक्षा नहीं दी जा सकती।

[5]यस्यैह [6]लौकिकी नास्ति नापेक्षा पारलौकिकी।
युक्ताहारविहारोऽसौ श्रमणः सममानसः॥५५॥

---

१. जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहि णिद्दिट्ठो। सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणा अरिहो॥३-२५॥ प्रवचनसार।
२. आ नश्यते, आद्वि नाश्यते। ३. सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणा अरिहो॥३-२५॥ प्रवचनसार। ४. व्या विंगाः।
५. इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि। जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो॥३-२६॥ प्रवचनसार॥
६. आ व्या यस्येह।

अर्थ—जिसके इहलोक की और परलोक की अपेक्षा नहीं है, जो योग्य आहार-विहार से युक्त है और समचित्त का धारक है वह 'श्रमण' है।

व्याख्या—जिसके धर्मसाधन में इस लोक की तथा परलोक की अपेक्षा (दृष्टि) नहीं रहती-जो सब कुछ आत्मीय कर्तव्य समझकर करता है; लोक-दिखावा, लोकाराधन, लौकिक कार्यसिद्धि अथवा परलोक में स्वर्गादिक की प्राप्ति के लिए कुछ नहीं करता और अपने चित्त को सम-राग-द्वेष से रहित रखता हुआ योग्य आहार-विहार किया करता है उस साधु को 'श्रमण' कहते हैं, जिसका मूल प्राकृतरूप 'समण' है और जो अपने उस रूप में 'सम-मानस' का वाचक है। सम-मानस, समचित्त, समाशय-जैसे शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। युक्ताहार-विहार का आशय यहाँ आगम के अनुकूल उद्गम-उत्पादनादि दोषों से रहित, भोजन तथा विहरन की प्रवृत्ति से है, जिसकी विशेष जानकारी मूलाचार, भगवती आराधनादि जैसे ग्रन्थों से प्राप्त की जा सकती है।

कौन श्रमण अनाहार कहे जाते हैं

कषाय-विकथा-निद्रा-प्रेमाक्षार्थ-पराङ्मुखाः।
जीविते मरणे तुल्याः शत्रौ मित्रे सुखेऽसुखे ॥५६॥

[1]आत्मनोऽन्वेषणा येषां भिक्षा येषामणेषणा।
संयता सन्त्यनाहारास्ते सर्वत्र समाशयाः ॥५७॥

अर्थ—जो कषाय, विकथा, निद्रा, राग और इन्द्रियविषयों से विमुख हैं, जीवन-मरण, शत्रु-मित्र और सुख-दुःख में समता धारण करते हैं; आत्मा की जिनके अन्वेषणा-खोज बनी रहती है, भिक्षा जिनकी एषणा-इच्छा से रहित है और सर्वत्र समचित्त रहते हैं ऐसे श्रमण साधु 'अनाहार' कहे गये हैं।

व्याख्या—क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें; स्त्री, राज, भोजन, चोर ये चार प्रकार की विकथाएँ, निद्रा, प्रेम (वेद-राग) और पाँच इन्द्रिय विषय, इन पन्द्रह प्रमादों से जो मुनि मुख मोड़े रहते हैं; जीवन-मरण, शत्रु-मित्र और सुख-दुःख उपस्थित होने पर जिनकी समता बनी रहती है, राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती, जो सदा आत्मा की चिन्ता-अन्वेषणा-आराधना में लीन रहते और यह समझते हैं कि आत्मा आहार-रूप में कभी कोई पुद्गल परमाणु ग्रहण नहीं करता स्वभाव से निराहार हैं वे यदि देह की स्थिति आदि की दृष्टि से कभी आहार लेते भी हैं तो भी उन्हें 'अनाहार' कहा गया है, जिसके दो मूल कारण हैं—१. आत्मा को स्वभाव से अनाहार समझना, २. आहार में कोई खास इच्छा तथा आसक्ति न रखकर उसे लेना।

---

१. जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा॥३-२७॥ —प्रवचनसार

केवल देह साधु का स्वरूप

[1]यः स्वशक्तिमनाच्छाद्य सदा तपसि वर्तते।
साधुः केवलदेहोऽसौ निष्प्रतीकार-विग्रहः॥५८॥

अर्थ—जो शरीर का प्रतिकार नहीं करता और अपनी शक्ति को न छिपाकर सदा तपश्चरण में प्रवृत्त रहता है वह केवल देह-देहमात्र परिग्रह का धारक-साधु (श्रमण) होता है।

व्याख्या—जो साधु देह को भी परिग्रह समझता हुआ उसमें ममता-रहित होकर वर्तता है वह रोग-उपसर्गादि के आने पर शरीर का कोई प्रतिकार नहीं करता और अपनी शक्ति को न छिपाकर सदा तपश्चर्या में लीन रहता है, उसे 'केवल देह'-देहमात्र परिग्रह का धारक-साधु कहते हैं।

केवल देह-साधु की भिक्षाचर्याका रूप

[2]एका सनोदरा भुक्तिर्मास-मध्वादिवर्जिता।
यथालब्धेन भैक्षेण नीरसा परवेश्मनि॥५९॥

अर्थ—उस केवल-देह श्रमण साधु की आहार चर्या पराये घर पर यथालब्ध भिक्षा के द्वारा, एक बार, उनोदर के रूप में, मांस-मधु आदि सदोष पदार्थों से रहित, मधुरादि रसों में से किसी की अपेक्षा न रखने वाली अथवा (प्रायः) नीरस होती है, रसास्वाद को लिए हुए नहीं होती।

व्याख्या—यहाँ 'मधु' और 'वर्जिता' शब्दों के मध्य में प्रयुक्त हुआ 'आदि' शब्द उन अन्वेषणीय कन्दमूलादि का वाचक है जिनका कुछ उल्लेख एवं सूचन आगे ६३ वें पद्य में किया गया है। और भिक्षा का 'यथालब्ध' विशेषण इस बात का सूचक है कि वह बिना किसी प्रेरणा-प्रार्थना तथा संकेत के प्राप्त होनी चाहिए। यदि थाल आदि में रखे हुए किसी भोजन को देने के लिए अंगुली का इशारा भी किया जाता है तो उस भोजन का ग्रहण यथालब्ध भिक्षा की कोटि से निकल जाता है। इसी तरह जो साधु भोजन के आगमविरुद्ध निर्दोष होने पर भी उसे अपनी पसन्द तथा रुचि का न होने आदि के कारण नहीं लेता वह भी यथालब्ध भिक्षा का भोजी नहीं रहता।

वर्जित मांस-दोष

[3]पक्वे ऽपक्वे सदा मांसे पच्यमाने च संभवः।
तज्जातीनां[4] निगोदानां[5] कथ्यते जिनपुङ्गवैः॥६०॥

---

१. केवलदेहो समणो देहे वि ममत्तरहिदपरिकम्मो। आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं॥३-२८॥ प्रवचनसार।
२. एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं। चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं॥३-२९॥ प्रवचनसार।
३. पक्के सु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु। संतत्तियमुववादौ तज्जादीणं णिगोदाणं॥३-२९॥ (क) जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा। सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं॥३-२९॥ (ख) प्रवचनसार।
४. आ तज्जातानां। ५. आ व्या निगोतानां।

मासं पक्व मपक्वं वा स्पृश्यते येन भक्ष्यते।
अनेकाः कोट्यस्तेन हन्यन्ते किल जन्मिनाम्[१]॥६१॥

अर्थ—मांस चाहे कच्चा हो, पका हो या पक रहा हो उसमें जिनेन्द्रों ने तज्जातीय निगोदिया जीवों का (निरन्तर) उत्पाद कहा है (अतः) जिसके द्वारा कच्चा या पका मांस छुआ जाता है, खाया जाता है उसके द्वारा निश्चितरूप से अनेक कोटि-करोड़ों जीवों का घात होता है।

व्याख्या—भोजन में जिस मांस के ग्रहण का पिछले पद्य में निषेध है और जो द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों के रस-रक्तादि-मिश्रित कलेवर से निष्पन्न होता है; उसमें क्या दोष है उसे इन दोनों पद्यों में स्पष्ट करते हुए यह सूचित किया गया है कि जिनेन्द्र देवों के कथनानुसार मांस चाहे किसी भी अवस्था में क्यों न हो उसमें तज्जातीय निगोदिया जीवों का (जो एक श्वांस में अठारह बार जन्म-मरण करते रहते हैं) बराबर उत्पाद बना रहता है और इसलिए जो कोई भी मांस को छूता या खाता है वह बहुतर सूक्ष्म जीवों की हत्या का भागी होता है।

मधु-दोष तथा अन्य अनेषणीय पदार्थ

बहुजीव-प्रघातोत्थं बहु-जीवोद्भवास्पदम्।
असंयम-विभीतेन त्रेधा मध्वपि वर्ज्यते॥६२॥
कन्दो मूलं फलं पत्रं नवनीतमगृध्नुभिः।
अनेषणीयमग्राह्यमन्नमन्यदपि त्रिधा॥६३॥

अर्थ—जो असंयम से भयभीत है उस साधु के द्वारा मन-वचन-काय से वह मधु त्यागा जाता है जो बहुजीवों के घात से उत्पन्न हुआ और बहुत जीवों की उत्पत्ति का स्थान है। जो भोजन में लालसा रहित साधु हैं उनके द्वारा वह कन्द, मूल, फल, पत्र, मक्खन जो अनेषणीय (अभक्ष्य) है और दूसरा (उद्गमादि दोषों के कारण[२]) अग्राह्य अन्न (भोजन) भी मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से त्यागा जाता है।

व्याख्या—यहाँ प्रथम पद्य में मधु के दोषों को दर्शाया है और दूसरे पद्य में अन्य अग्राह्य पदार्थ की कुछ सूचना की गयी है। मधु वर्जनीय बतलाते हुए उसके दो विशेषणों का उल्लेख किया गया है, एक तो यह कि वह बहुत जीवों के घात से उत्पन्न होता है, दूसरा यह कि वह बहुत जीवों की उत्पत्ति का स्थान है, बहुत जीव उसमें उत्पन्न होते रहते हैं। अपने इन दोनों गुणों के कारण मधु का सेवन असंयम का जनक है और इसलिए जो साधु संयम का भंग होने से भय रखते हैं वे मन-वचन-काय

---

१. आ व्या जन्मिनां किल।

२. उद्गम-उत्पादनादि दोषों का स्वरूप जानने के लिए मूलाचार आदि ग्रन्थों को देखना चाहिए।

से तथा कृत-कारित-अनुमोदना से मधु का त्याग करते हैं।

मधु, जिसका त्याग यहाँ विवक्षित है, वह पदार्थ है जिसे मधुमक्खियाँ पुष्पों से लाकर अपने छत्तों में संचय करती हैं और जो बाद में प्रायः छत्तों को तोड़-मरोड़ कर मनुष्यों के खाने के लिए प्रस्तुत किया जाता है और जिसके इस प्रस्तुतीकरण में मधुमक्खियों को भारी बाधा पहुँचती है, उनका तथा उनके अण्डे-बच्चों का रसादिक भी निचुड़कर उसमें शामिल हो जाता है और इस तरह जो एक घृणित पदार्थ बन जाता है। 'क्षौद्र' संज्ञा भी उसे प्रायः इस प्रक्रिया की दृष्टि से ही प्राप्त है। इस प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ मधु अपने प्रथम विशेषण 'बहुजीवप्रघातोत्थं' को सार्थक करता है और इस प्रकार से उत्पन्न हुआ घृणित मधु स्वभाव से ही बहुत-से जीवों की उत्पत्ति का स्थान होने के कारण उस पर दूसरा विशेषण भी सहज घटित हो जाता है, परन्तु जो मधु उक्त प्रक्रिया से मधुमक्खियों के छत्तों को तोड़मरोड़-निचोड़कर उत्पन्न नहीं होता, किन्तु सहज स्वभाव से टपकता हुआ ग्रहण किया जाता है अथवा आजकल मधुमक्खियों के पालन की जो प्रथा प्रचलित हुई है उसके अनुसार मधुमक्खियों तथा उनके अण्डे-बच्चों को कोई कष्ट पहुँचाये बिना तथा उनके भोजन की पूरी व्यवस्था रखकर जो मधु उनके छत्तों से यत्नपूर्वक ग्रहण किया जाता है उस पर प्रथम विशेषण लागू नहीं होता; तब दूसरा विशेषण लागू होता है या नहीं, यह विचारणीय है। इस विषय की छानबीन करने पर श्री अमृतचन्द्राचार्य का निम्न वाक्य उसके समाधान रूप में पाया जाता है–

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधु-गोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रय-प्राणिनां घातात्॥७०॥

–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

इसमें बतलाया है कि जो मधु, मधु छत्ते से स्वयं झरता हो अथवा जिसे छत्ते से छलपूर्वक ग्रहण किया गया हो उसके सेवन से भी तदाश्रित जीवों का घात होने के कारण हिंसा का दोष लगता है। इससे मालूम होता है कि मधु के आश्रय में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। इसी से उसको यहाँ 'बहुजीवोद्भवास्पदम्' विशेषण दिया गया है। अपने में बहुत से जीवों की उत्पत्ति को लिए हुए होने से मधु खाने के योग्य नहीं खाने से उन जीवों की हिंसा होती है और इसलिए प्रथम विशेषण के अभाव में भी उसका खाना निषिद्ध है।

जिन कन्दमूलादि का यहाँ निषेध किया गया है उनका 'अनेषणीय' विशेषण खास तौर से ध्यान में लेने योग्य है। इसका तथा इसके प्रतिपक्षी 'एषणीय' विशेषण का अच्छा खुलासा मूलाचार की निम्न दो गाथाओं और उनकी वसुनन्दी आचार्यकृत टीका से हो जाता है–

फलकंदमूलबीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि।
णच्चा अणेसणीयं ण वि य पडिच्छंति ते धीरा॥९-५९॥

टीका–फलानि कन्द-मूलानि बीजानि चाग्निपक्वानि न भवन्ति यानि अन्यदपि आमकं

यत्किञ्चिदनशनीयं ज्ञात्वा नैव प्रतीच्छन्ति नाभ्युपगच्छते ते धीराः।

जं हवदि अणव्वीयं णिवट्टियं फासुयकयं चेव।
णाऊ ण एसणीयं तं भिक्खं मुणी पडिच्छंति॥९-६०॥

टीका–यद्भवत्यबीजं निर्बीजं निर्वर्तियं निर्गतमध्यसारं प्रासुककृतं चैव ज्ञात्वाशनीयं तद्भैक्ष्यं मुनयः प्रतीच्छन्तीति।

इन दोनों गाथाओं में से पहली में लिखा है कि जो फल कन्दमूल तथा बीज अग्नि से पके हुए नहीं हैं तथा और भी जो कुछ कच्चे पदार्थ हैं उन सबको 'अनशनीय' (अभक्ष्य) समझकर धीर वीर मुनि भोजन के लिए ग्रहण नहीं करते हैं। दूसरी गाथा में यह बतलाया है कि–''जो बीज रहित हैं, जिसका मध्यसार (जलभाग) निकल गया है अथवा जो प्रासुक किया गया है ऐसे सब वनस्पतिकाय पदार्थ को अशनीय (भक्ष्य) समझकर मुनिजन भिक्षा में ग्रहण करते हैं।''

मूलाचार के इस कथन से यह स्पष्ट है और अनशनीय कन्दमूलों का 'अनग्निपक्व ' विशेषण इस बात को साफ बतला रहा है कि जैन मुनि कच्चे कन्दमूल नहीं खाते, परन्तु अग्नि में पकाकर शाक-भाजी आदि के रूप में प्रस्तुत किये हुए पदार्थों को भी भोजन में ग्रहण कर लेने का उनके लिए विधान है। यद्यपि अनग्निपक्व भी प्रासुक होते हैं, परन्तु प्रासुक की सीमा उससे कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है। उसमें सुखाये, तपाये, खटाई नमक मिलाये और यन्त्रादिक से छिन्न-भिन्न किये हुए सचित्त पदार्थ भी शामिल होते हैं; जैसा कि निम्नलिखित शास्त्र प्रसिद्ध गाथा से प्रकट है–

सुक्कं पक्कं तत्तं अंविल-लवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जतेण छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं॥

प्रासुक के इस लक्षणानुसार[१] जैन मुनि अग्निपक्व के अतिरिक्त दूसरी अवस्थाओं द्वारा प्रासुक हुए कन्दमूलों को भी खा सकते हैं, क्योंकि वे 'अनेषणीय' की कोटि से निकलकर 'एषणीय' की कोटि में आ जाते हैं।

हस्तगत पिण्ड दूसरे को देकर भोजन करने वाला यति दोष का भागी

[२]पिण्डः पाणि-गतोऽन्यस्मै दातुं योग्यो न युज्यते।
दीयते चेन् न भोक्तव्यं भुङ्क्ते चेद् दोषभाग् यतिः॥६४॥

अर्थ—साधु के हाथ में पड़ा हुआ आहार दूसरे को देने के योग्य नहीं होता (और इसलिए नहीं दिया जाता) यदि दिया जाता है तो साधु को फिर भोजन नहीं लेना चाहिए, यदि वह साधु अन्य भोजन करता है तो दोष का भागी होता है।

---

१. यथा शुष्क-पक्व-ध्वस्ताम्ललवणसंमिश्र-दग्धादिद्रव्यं प्रासुकं इति। गोम्मटसारटीकायाम्।

२. अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स। दत्ता भोत्तुमजोग्गं भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो॥३-३० (क)॥ प्रवचनसार।

व्याख्या—साधु के हाथ में पड़ा हुआ आगम से अविरुद्ध योग्य आहार (भोजन का ग्रास) किसी दूसरे को देने के योग्य नहीं होता। यदि वह साधु अपनी रुचि तथा पसन्द का न होने के कारण उसे स्वयं न खाकर किसी को देता है या किसी अन्य को खाने के निमित्त कहीं रख देता है तो उस साधु को फिर और भोजन नहीं करना चाहिए, यदि वह दूसरा भोजन करता है तो दोष का भागी होता है—सम्भवतः 'यथालब्ध' शुद्ध भोजन न लेने आदि का उसे दोष लगता है।

बाल-वृद्धादि यतियों को चारित्राचरण में दिशा बोध

[1]बालो वृद्धस्तपोग्लानस्तीव्रव्याधि-निपीडितः।
तथा चरतु चारित्रं मूलच्छेदो यथास्ति नो॥६५॥

अर्थ—जो साधु बालक हो, वृद्ध हो, महोपवासादिक अनुष्ठान करने वाला तपस्वी[2] हो, रोगादिक से कृश शरीर अथवा किसी तीव्र व्याधि से पीड़ित हो उसे चारित्र को उस प्रकार से पालन करना चाहिए जिससे मूलगुणों का विच्छेद अथवा चारित्र का मूलतः विनाश न होने पावे।

व्याख्या—युवक, नीरोग तथा अश्रान्त साधु की बात को छोड़कर जो साधु बाल-वृद्धरोगादि की अवस्थाओं को लिए हुए हों उनके विषय में यहाँ यह नियम किया गया है कि वे चारित्र के अनुष्ठान में उस प्रकार से प्रवृत्त हों जिससे मूल गुणरूप संयम की विराधना न होने पावे उसकी रक्षा करते हुए अपनी कमजोरी के कारण वे और जो चाहें रिआयतें प्राप्त कर सकते हैं। मूल चारित्र का यदि भंग होगा तब तो वे पुनः दीक्षा के योग्य ठहरेंगे।

स्वल्पलेपी यति कब होता है।

[3]आहारमुपधिं शय्यां देशं कालं बलं श्रमम्।
वर्तते यदि विज्ञाय 'स्वल्पलेपो' यतिस्तदा॥६६॥

अर्थ—यदि साधु आहार, परिग्रह (उपकरण) शयन, देश, काल, बल और श्रम को भले प्रकार जानकर प्रवृत्त होता है तो वह अल्पलेपी होता है, थोड़ा कर्मबन्ध करता है।

व्याख्या—यहाँ 'उपधि' शब्द बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानसम्बन्धी शरीर मात्र परिग्रह का वाचक है[4] और 'आहार' भिक्षा में आमतौर पर मिलने वाले भोजन को समझना चाहिए। जो बाल-वृद्धादि साधु अपने आहार, शरीर, शय्या-संस्तर, देश, काल, बल और श्रम की स्थिति को भले प्रकार जानकर तदनुकूल भद्र आचरण को अपनाता है वह अल्प कर्मबन्ध का कर्ता होता है।

---

१. बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा। चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि॥३-३०॥—प्रवचनसार। २. महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी (सर्वार्थसिद्धि)। ३. आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं। जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो॥३-३१॥ —प्रवचनसार ॥ ४. बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान-सम्बन्धिनं शरीरमात्रोपधिं परिग्रहमिति।—प्रवचनसार टीका जयसेनोया।

तपस्वी को किस प्रकार के काम नहीं करने

संयमो हीयते येन येन लोको विराध्यते।
ज्ञायते येन संक्लेशस्तन्न कृत्यं तपस्विभिः॥६७॥

अर्थ—जिसके द्वारा संयम की हानि हो, जिसके द्वारा लोक को पीड़ा पहुँचती हो तथा जिसके द्वारा संक्लेश मालूम पड़े वह काम तपस्वियों-साधुओं को नहीं करना चाहिए।

व्याख्या—साधु तपस्वी को कौन काम नहीं करने चाहिए उनकी यहाँ संक्षेप में सूचना की गयी है। वे तीन काम हैं—एक तो जिससे संयम को-मूलगुणों के अनुष्ठान को हानि पहुँचे, दूसरा वह जिससे लोक की विराधना हो—लौकिक जनों को पीड़ा पहुँचे और तीसरा वह जिससे अपने को संक्लेश मालूम पड़े—अपने परिणामों में संक्लिष्टता आती हो। ऐसे सब कार्य पापबन्ध के कारण होते हैं।

आगम की उपयोगिता और उसमें सादर प्रवृत्ति की प्रेरणा

[1]एकाग्रमनसः साधोः पदार्थेषु विनिश्चयः।
यस्मादागमतस्तस्मात् तस्मिन्नाद्रियतां तराम्॥६८॥

अर्थ—एकाग्रचित्त के धारक साधु के चूँकि आगम से पदार्थों में निश्चय होता है अतः आगम में विशेष आदर से प्रवृत्त होना चाहिए।

व्याख्या—आत्मा अथवा मुक्ति का साधन करने वाले श्रमण—साधुका यहाँ 'एकाग्रमन' विशेषण दिया है, जो बहुत ही युक्तियुक्त है, क्योंकि मन की एकाग्रता के बिना साधना नहीं बनती और साधना के बिना साधुता नाममात्र की ही रह जाती है। मन की एकाग्रता पदार्थों के निश्चय पर अवलम्बित है। जिस साधु को अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का, पर-पदार्थ का परपदार्थ के संयोग-वियोग हेतुओं का, कर्मपुद्गलों तथा उनकी शक्ति का और इस विश्व के रूप का ठीक निश्चय नहीं उसका चित्त डावाँडोल होने के कारण स्थिरता को प्राप्त नहीं होता। पदार्थ के निश्चय की प्राप्ति आगम से—सर्वज्ञदेशित अथवा सर्वज्ञदेशनानुसारी शास्त्रों से होती है अतः आगम-शास्त्रों के प्रति विशेषतः आदरभाव रखने की यहाँ साधुओं को प्रेरणा की गयी है।

परलोकविधौ शास्त्रं प्रमाणं प्रायशः परम्।
यतोऽत्रासन्नभव्यानामादरः परमस्ततः॥६९॥

अर्थ—चूँकि परलोक के सम्बन्ध में शास्त्र प्रायः उत्कृष्ट परमप्रमाण हैं, इसलिए जो निकट भव्य हैं उनका शास्त्र में परम आदर होता है।

---

१. एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु। णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा॥३-३२॥ —प्रवचनसार।

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया है कि जो निकट भव्य साधु होते हैं उनका आगम में परम आदर होता है और उसका कारण यह है कि परलोक के विषय में अथवा अतीन्द्रिय सूक्ष्म पदार्थ के सम्बन्ध में प्राय: शास्त्र ही प्रमाणभूत है; क्योंकि वह घातिया कर्मों के क्षय से समुद्भूत हुए अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय के धारक सर्वज्ञ के द्वारा देशित (कथित) होता है। ऐसा सर्वज्ञ कथित प्रमाण ही यहाँ तथा आगे के पद्यों में विवक्षित है।

उपदेशं विनाप्यङ्गी पटीयानर्थकामयो:।
धर्मे तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हित: ॥७०॥

अर्थ—यह प्राणी अर्थ और काम (पुरुषार्थ) के साधन में बिना उपदेश के भी निपुण होता है स्वत: प्रवृत्ति करता है परन्तु धर्म (पुरुषार्थ) के साधन में बिना शास्त्रों के–शास्त्रोपदेश के अभाव में प्रवृत्त नहीं होता, इसलिए शास्त्र में आदर का होना हितकारी है।

व्याख्या—यहाँ शास्त्र में आदर और उसकी आवश्यकता की बात को यह कहकर और पुष्ट किया गया है कि संसारी प्राणी अर्थोपार्जन और कामसेवन इन दो पुरुषार्थं में तो बिना किसी के उपदेश के स्वत: प्रवीण होता तथा प्रवृत्ति करता है परन्तु धर्माचरण में बिना शास्त्र के नहीं प्रवर्तता अत: आगमशास्त्र में आदर करना हितरूप है।

अर्थकामाविधानेन तदभाव: परं नृणाम्।
धर्माविधानतोऽनर्थस्तदभावश्च जायते ॥७१॥

अर्थ—अर्थ और काम के साधन में प्रवृत्ति न करने से उनका अभाव ही होता है। परन्तु धर्म के साधन में प्रवृति न करने से धर्म का अभाव ही नहीं किन्तु अनर्थ भी घटित होता है।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिन तीन पुरुषार्थों का उल्लेख है उनमें प्रवृत्ति के न होने से जो दोष आता है उसे इस पद्य में बतलाते हुए लिखा है कि अर्थ-काम को न करने से तो मनुष्यों के उनका अभाव ही घटित होता है, परन्तु धर्म का अनुष्ठान न करने से धर्म का अभाव ही नहीं किन्तु दूसरा अनर्थ भी घटित होता है जिसे पापाचार प्रवृत्ति के रूप में समझना चाहिए और इस तरह मुनियों को धर्म के साधनभूत आगम में सादर प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित किया है।

तस्माद्धर्मार्थिभि: शश्वच्छास्त्रेयत्नो विधीयते।
मोहान्धकारिते लोके शास्त्रंलोक-प्रकाशकम् ॥७२॥

अर्थ—अत: जो धर्म के अभिलाषी हैं उनके द्वारा सदा शास्त्र में–शास्त्रोपदेश की प्राप्ति में यत्न किया जाता है। मोहरूपी अन्धकार से व्याप्त लोक में शास्त्र (ही) लोक का प्रकाशक है–लोक को यथार्थरूप में दिखलाने वाला है।

व्याख्या—धर्मसाधना के लिए आगम-शास्त्र की उक्त आवश्यकता को देखते हुए धर्मार्थी

साधुओं का यह स्पष्ट कर्तव्य है कि वे सदा आगम-शास्त्र के अध्ययन, श्रवण तथा मनन का यत्न करें। वस्तुतः मोहान्धकार से व्याप्त लोक में शास्त्र ही लोक के स्वरूप का सच्चा प्रकाशक है।

यहाँ पीछे तथा आगे जिस शास्त्र (आगम) का उल्लेख है वह वही है जिसका स्वरूप स्वामी समन्तभद्र ने समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्डक) के निम्न पद्य में दिया है–

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्ट - विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथ-घट्टनम्॥९॥

अर्थात् जो आप्तोपज्ञ हो–आप्त के द्वारा प्रथमतः ज्ञान होकर उपदिष्ट हुआ हो अनुल्लंघ्य हो–उल्लंघनीय अथवा खण्डनीय न होकर ग्राह्य हो, दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (अनुमानादि-विषयक-स्वसम्मत सिद्धान्त) का विरोधक न हो-प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जिसमें कोई बाधा न आती हो और न पूर्वापर का कोई विरोध ही पाया जाता हो, तत्त्वोपदेश का कर्ता हो–वस्तु के यथार्थस्वरूप का प्रतिपादक हो, सबके लिए हितरूप हो और कुमार्ग का निराकरण करने वाला हो, उसे 'शास्त्र'–परमार्थ आगम कहते हैं।

इसकी विशेष व्याख्या के लिए समीचीन धर्मशास्त्र पृष्ठ ४३, ४४ देखना चाहिए।

मायामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम्[१]।
चक्षुः सर्वगतं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधकम्॥७३॥

अर्थ–मायारूप रोग की दवा शास्त्र, पुण्य का कारण शास्त्र, सर्वपदार्थों को देखने वाला नेत्र शास्त्र और सर्वप्रयोजनों का साधक शास्त्र है।

व्याख्या–यहाँ आगम-शास्त्र की महिमा का वर्णन करते हुए उसे मायाचाररूप रोग की औषधि, सर्वव्यापी नेत्र, पुण्य के उपार्जन में सहायक और सर्वप्रयोजनों को सिद्ध करने वाला साधक बतलाया है।

न भक्तिर्यस्य तत्रास्ति तस्य धर्म-क्रियाखिला।
अन्धलोकक्रियातुल्या कर्मदोषादसत्फला॥७४॥

अर्थ–जिसकी आगम-शास्त्र में भक्ति नहीं उसकी सारी धर्मक्रिया कर्मदोष के कारण अन्धे व्यक्ति की क्रिया के समान होती है और वह क्रिया दूषित होने के कारण सत्फल को उत्तम अथवा यथेष्ट फल को नहीं फलती।

व्याख्या–उक्त आगम-शास्त्र के प्रति जिसकी भक्ति नहीं–आदरभाव नहीं उस साधु की सब क्रिया को सारे धर्माचरण को यहाँ अन्धपुरुष की क्रिया के समान बतलाया है; क्योंकि वह क्रिया विवेकविहीन दूषित होने के कारण सत्फल को नहीं फलती।

---

१. मु द्रव्यनिबंधनं।

यथोदकेन वस्त्रस्य मलिनस्य विशोधनम्।
रागादि-दोष-दुष्टस्य शास्त्रेण मनसस्तथा ॥७५॥

अर्थ—जिस प्रकार मलिन वस्त्र का जलसे शोधन होता है उसी प्रकार रागादि दोष से दूषित हुए मन का संशोधन शास्त्र से होता है।

व्याख्या—यहाँ भी शास्त्र के महत्त्व को एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रागादिक दोषों से दूषित हुआ साधु का मन शास्त्र के अध्ययनादि से उसी प्रकार विशुद्धि को प्राप्त होता है जिस प्रकार कि मल से मलिन वस्त्र जलसे धुलने पर शुद्ध तथा साफ होता है।

आगमे शाश्वती बुद्धिर्मुक्तिस्त्री-शंफली यतः।
ततः सा यत्नतः कार्या भव्येन भवभीरुणा ॥७६॥

अर्थ—चूँकि आगम-शास्त्र में निरन्तर लगी हुई बुद्धि मुक्तिस्त्री को प्राप्त करने में दूती के समान है—मुक्ति को प्राप्त कराती है इसलिए जो संसार से—संसार के दुःखों से भयभीत भव्य है, उसे यत्नपूर्वक बुद्धि को शास्त्र में—शास्त्र के अध्ययन-श्रवण-मननादि में लगाना चाहिए।

व्याख्या—यहाँ अलंकार की भाषा में आगम में निरन्तर लगी रहने वाली साधु की बुद्धि को मुक्तिस्त्री से मिलाने वाली दूती के समान बतलाया है और इसलिए संसार से भयभीत भव्य साधु को सदा यत्न के साथ अपनी बुद्धि को आगम के अध्ययनादि में प्रवृत्त करना चाहिए इससे उसको मुक्तिमार्ग की प्राप्ति होगी।

कान्तारे पतितो दुर्गे गर्ताद्यपरिहारतः।
यथाऽन्धो नाश्नुते[1] मार्गमिष्टस्थान-प्रवेशकम् ॥७७॥
पतितो भव-कान्तारे कुमार्गापरिहारतः।
तथा नाप्नोत्यशास्त्रज्ञो मार्गं मुक्तिप्रवेशकम् ॥७८॥

अर्थ—जिस प्रकार दुर्गम वन में पड़ा हुआ अन्धा मनुष्य खड्डे आदि का परित्याग न कर सकने से इष्ट-स्थान में प्रवेश कराने वाले मार्ग को नहीं पाता है उसी प्रकार संसार-वन में पड़ा हुआ अशास्त्रज्ञ प्राणी कुमार्ग का परित्याग न कर सकने से मुक्ति प्रवेशक मार्ग को प्राप्त नहीं होता, उस सन्मार्ग पर नहीं लगता है जिस पर चलने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—यहाँ आगम-शास्त्र की उपयोगिता, आवश्यकता तथा महिमा का उपसंहार करते हुए उसे दुर्गम-वन में अकेले पड़े हुए अन्ध पुरुष के उदाहरण द्वारा कुछ और स्पष्ट करके बतलाया गया है। दुर्गम वन में अकेला पड़ा हुआ अन्धा जिस प्रकार चलते समय गड्ढे, खड्डे तथा कूप-खाई आदि

---

१. न लभते।

का परिहार न कर सकने से उनमें गिर जाता है, पड़ा-पड़ा कष्ट भोगता है और अपने इष्ट स्थान को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार संसार-वन में पड़ा हुआ शास्त्रज्ञान से विहीन अन्धा साधुचर्या करते समय कुमार्गों का परिहार न कर सकने से कुमार्गों में फँसकर अपने इष्टस्थान-मुक्ति को प्राप्त कराने वाले सन्मार्ग को प्राप्त करने में असमर्थ होता है।

इस प्रकार ११ पद्यों में साधु के लिए आगम-शास्त्र की भारी उपयोगितादि का यहाँ वर्णन किया गया है, जिसके द्वारा प्राप्त ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

समान अनुष्ठान के होने पर भी परिणामादि से फल-भेद

यतः समेऽप्यनुष्ठाने फलभेदोऽभिसन्धितः।
स ततः परमस्तत्र ज्ञेयो नीरं कृषाविव॥७९॥
बहुधा भिद्यते सोऽपि रागद्वेषादिभेदतः।
नानाफलोपभोक्तृणां नृणां बुद्ध्यादिभेदतः॥८०॥

अर्थ—चूँकि समान अनुष्ठान के होने पर भी परिणाम से फल में भेद होता है इसलिए फलप्राप्ति में परिणाम को उत्कृष्ट स्थान प्राप्त है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि खेती में (जोतने-बोने आदिरूप समान अनुष्ठान के होने पर भी) जल को विशेष स्थान प्राप्त है, ठीक समय पर यथेष्ट मात्रा में यदि खेती को जल दिया जाता है तो वह उत्तम होती है और वह परिणाम (अभिप्राय) भी राग-द्वेषादि के भेद से तथा फल का उपभोग करने वाले विविध मनुष्यों की बुद्धि आदि के भेद से बहुधा भेदरूप है।

व्याख्या—इन दोनों पद्यों में चारित्र का अनुष्ठान समान होने पर भी उसके फलभेद की बात कही गयी है। फलभेद में भाव की प्रधानता को बतलाते हुए खेती में जल के उदाहरण-द्वारा उसे स्पष्ट किया गया है, शुभराग तथा अशुभराग और द्वेष-मोहादिक की तरतमता के भेद से भी फल में भेद होना है। इसके अतिरिक्त फल भोगने वालों की बुद्धि आदि के भेद से भी फल में भेद होता है, यह बात यहाँ खास तौर से सूचित की गयी है।

बुद्धि, ज्ञान और असम्मोह के भेद से सारे कर्म भेदरूप

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहस्त्रिविधः प्रक्रमः[१] स्मृतः।
सर्वकर्माणि भिद्यन्ते तद्भेदाच्च शरीरिणाम्॥८१॥

अर्थ—बुद्धि, ज्ञान और असम्मोह ऐसे तीन प्रकार का प्रक्रम-कार्य में प्रवर्तनरूप उद्यम है और इसके भेद से देहधारियों के सब कार्य भेद को प्राप्त होते हैं—कोई बुद्धिपूर्वक, कोई ज्ञानपूर्वक और कोई असम्मोहरूप होते हैं।

१. उद्यमः।

व्याख्या—जिस बुद्धि आदि के भेद से पिछले पद्य में फलभेद की बात कही गयी है उसे यहाँ बुद्धि, ज्ञान और असम्मोह के भेद से तीन प्रकार प्रक्रम-उद्यम बतलाया है-एक बुद्धिपूर्वक, दूसरा ज्ञानपूर्वक और तीसरा असम्मोहहेतुक। इन तीनों का स्पष्टीकरण अगले कुछ पद्यों में किया गया है। यहाँ इतनी ही सूचना की गयी हैं कि इन तीनों के भेद से देहधारियों के सारे कार्य भेद को प्राप्त होते हैं।

बुद्धि, ज्ञान और असम्मोह का स्वरूप

बुद्धिभक्षाश्रयां तत्र ज्ञानमागमपूर्वकम्।
तदेव सदनुष्ठानमसंमोहं विदो विदुः ॥८२॥

अर्थ—विज्ञ पुरुष उन बुद्धि आदि तीन भेदों में इन्द्रियाश्रित को 'बुद्धि' आगमपूर्वक को 'ज्ञान' और आगमपूर्वक ज्ञान ही जब सत्य अनुष्ठान को—अभ्रान्तरूप से स्थिरता को प्राप्त होता है तब उसे 'असम्मोह' कहते हैं।

व्याख्या—इस पद्य में बुद्धि को इन्द्रियाश्रित और ज्ञान को आगमाश्रित बतलाकर दोनों के भेद को स्पष्ट किया गया है, अन्यथा बुद्धि और ज्ञान में साधारणतया कोई भेद मालूम नहीं होता, एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग पाया जाता है; जैसे ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है वैसे 'प्रमाणं बुद्धिलक्षणम्' वाक्य के द्वारा स्वामी समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र (६३) में उस ज्ञान को ही 'बुद्धि' शब्द के द्वारा उल्लेखित किया है। साथ ही जो आगमपूर्वक ज्ञान सदनुष्ठान को प्राप्त हो—अभ्रान्तरूप से स्थिर हो—उसे 'असम्मोह' बतलाया है।

बुद्ध्यादि पूर्वक कार्यों के फलभेद की दिशासूचना

चारित्रदर्शनज्ञानतत्स्वीकारो यथाक्रमम्।
तत्रोदाहरणं ज्ञेयं बुद्ध्यादीनां प्रसिद्धये ॥८३॥

अर्थ—चारित्र-दर्शन-ज्ञान का जो यथाक्रम—दर्शन-ज्ञान-चारित्र के क्रम से स्वीकार है जो चारित्र दर्शनज्ञानपूर्वक है उसमें बुद्धि आदि की प्रसिद्धि के लिए यहाँ उदाहरणरूप से भेद को जानना चाहिए।

व्याख्या—बुद्धि आदि की विशेषता को दर्शाने के लिए यहाँ जिस फल भेद के उदाहरण की बात कही गयी है, उसे संक्षेपतः अगले कुछ पद्यों में बतलाया गया है।

बुद्धिपूर्वक सब कार्य संसार-फल के दाता

बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि समस्तानि तनुभृताम्[१]।
संसारफलदायीनि विपाकविरसत्वतः ॥८४॥

---

१. मु तनूमतां।

अर्थ—देहधारी जीवों के जो बुद्धिपूर्वक कार्य हैं वे सब संसार फल के देने वाले हैं, क्योंकि वे विपाक में विरस होते हैं।

व्याख्या—यहाँ संसारी जीवों के जितने भी बुद्धिपूर्वक कार्य हैं उन सबको सांसारिक फल अथवा संसार-परिभ्रमणरूप फल के देने वाले लिखा है और उसका हेतु यह दिया है कि—वे विपाक काल में विरस होते हैं। जो विपाककाल में रसरहित अथवा विकृत रस हो जाते हैं, उन इन्द्रियाश्रित बुद्धिपूर्वक कार्यों की ऐसी ही स्थिति है कि वे संसार-फल को ही देने वाले होते हैं।

ज्ञानपूर्वक कार्य मुक्तिहेतुक

तान्येव ज्ञान-पूर्वाणि जायेन्ते मुक्तिहेतवे।
अनुबन्धः फलत्वेन श्रुतशक्तिनिवेशितः ॥८५॥

अर्थ—वे ही कार्य जब ज्ञान-पूर्वक होते हैं तो वे मुक्ति के हेतु होते हैं, क्योंकि श्रुतशक्ति को लिए हुए जो अनुराग है वह (क्रमशः) मुक्ति फल को फलता है।

व्याख्या—जो कार्य इन्द्रियाश्रित बुद्धिपूर्वक किये जाते हैं वे ही कार्य जब आगमाश्रित ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं तो वे बन्ध के फल को न फलकर क्रम से मुक्ति के फल को फलते हैं। इससे यह साफ ध्वनित होता है कि इन्द्रियाश्रित बुद्धि अज्ञानरूपा है और आगमाश्रित बुद्धि ज्ञानरूपा है। इसी से अज्ञानी के भोगों को बन्ध का और ज्ञानी के भोगों को निर्जरा का कारण बतलाया जाता है।

असम्मोह-पूर्वक कार्य निर्वाण सुख के प्रदाता

सन्त्यसंमोहहेतूनि कर्माण्यत्यन्तशुद्धितः।
निर्वाणशर्मदायीनि भवातीताध्वगामिनाम्॥८६॥

अर्थ—जो कार्य असम्मोहपूर्वक होते हैं वे भवातीत मार्ग पर चलने वालों को अत्यन्त शुद्धि के कारण निर्वाणसुख के प्रदाता होते हैं।

व्याख्या—यहाँ तीसरे असम्मोह हेतु कार्यों के फल की बात को लिया गया है, जिनके स्वामी भवातीत मार्गगामी होते हैं भवाभिनन्दी नहीं और उन्हें मुक्तिसुख का दाता लिखा है; क्योंकि वे चित्त की अत्यन्त शुद्धि के लिए हुए होते हैं।

भवातीत मार्गगामियों का स्वरूप

भावेषु कर्मजातेषु मनो येषां निरुद्यमम्।
भव-भोग-विरक्तास्ते भवातीताध्वगामिनः॥८७॥

अर्थ—कर्मजनित पदार्थों में जिनका मन उद्यमरहित है, वे भवभोग से विरक्त (योगी) 'भवातीतमार्गगामी' होते हैं।

व्याख्या—जिन भवातीतमार्गगामियों का पिछले पद्य में उल्लेख है उनका इस पद्य में संक्षिप्त रूप दिया गया है यह बतलाया है कि—जिनका मन कर्मोदयजनित पदार्थों में निरुद्यम रहता है—अनुरक्ति आदि के रूप में कोई प्रवृत्ति नहीं करता और जो संसार के भोगों से सदा विरक्त रहते हैं उन्हें 'भवातीतमार्गगामी' कहते हैं। ऐसे मुनियों की प्रवृत्ति भवाभिनन्दी मुनियों से बिल्कुल विपरीत 'अलौकिकी' होती है।

भवातीतमार्गगामियों का मार्ग सामान्य की तरह एक ही

एक एव सदा तेषां पन्थाः सम्यक्त्वचारिणाम्[१]।
व्यक्तीनामिव सामान्यं दशाभेदे[२]ऽपि जायते ॥८८॥

अर्थ—जो भवातीत मार्गगामी सम्यक्चारित्री हैं, उनका मार्ग दशा का कुछ भेद होने पर भी एक ही है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि व्यक्तियों में अवस्था का कुछ भेद होने पर भी समानता-द्योतक धर्म एक ही होता है।

व्याख्या—जिन भवातीतमार्गगामियों का पिछले पद्य में उल्लेख है उनके विषय में यहाँ दो बातें खासतौर से कही गयी हैं, एक तो यह कि वे सब सम्यक्चारित्री होते हैं, दूसरे यह कि उनमें परस्पर पन्थभेद नहीं होता, सबका पन्थ एक ही रहता है, उसी प्रकार जिस प्रकार व्यक्तियों में, विशेषों में अवस्था का कुछ भेद होने पर भी सामान्य सदा एक ही रहता है।

शब्दभेद के होने पर निर्वाणतत्त्व एक ही है

निर्वाणसंज्ञितं तत्त्वं संसारातीतलक्षणम्।
एकमेवावबोद्धव्यं शब्दभेदेऽपि तत्त्वतः॥८९॥

अर्थ—संसारातीत लक्षण को लिए हुए जो निर्वाण-संज्ञा प्राप्त (मोक्ष) तत्त्व है उसे शब्दभेद के होने पर भी वस्तुतः एक ही जानना चाहिए।

व्याख्या—निर्वाण नाम का तत्त्व, जिसे सात तत्त्वों में 'मोक्ष' नाम से गिनाया गया है और जिसका लक्षण संसारपने का अभाव है अर्थात् जिसमें भवपरिवर्तन नहीं, जन्ममरण नहीं, शरीर नहीं, इन्द्रियाँ नहीं, इन्द्रियों द्वारा विषयग्रहण नहीं, राग-द्वेष-मोह नहीं, क्रोध-मान-माया-लोभ नहीं, हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा नहीं, कामसेवा नहीं, किसी प्रकार की इच्छा नहीं, तृष्णा नहीं, अहंकार-ममकार नहीं, संयोग-वियोग नहीं, इष्टवियोग अनिष्टयोगजन्य कोई कष्ट नहीं, रोग नहीं, जरा नहीं, बाल-युवा-वृद्धावस्था नहीं, भूख-प्यास नहीं, खाना-पीना-सोना-जागना नहीं, कहीं जाना-आना नहीं, किसी से कोई वार्तालाप नहीं, कोई धन्धा-व्यापार नहीं, किसी प्रकार की

१. मु सम्यपरायिणां। २. मु दशाभेदो।

साधना-आराधना नहीं, मिट्टी-ईंट-पत्थर-चूने आदि के मकानों में रहना नहीं, संसार का कोई सुख-दुःख नहीं, अनित्यता-क्षणभंगुर नहीं; और न किसी प्रकार का कोई विभाव परिणमन है, उस स्व-स्वभाव-स्थित निर्विकार शुद्ध शाश्वत ज्ञानानन्द स्वरूप को 'संसारातीत लक्षण' कहते हैं। इस लक्षण से युक्त 'निर्वाण' तत्त्व वस्तुतः एक ही है; मोक्ष, मुक्ति, निर्वृत्ति, सिद्धि आदि शब्दभेद अथवा संज्ञा (नाम) भेद के कारण भेद होने पर भी अर्थ का कोई भेद नहीं है-सब नाम तात्त्विक दृष्टि से एक ही अर्थ के वाचक हैं।

यहाँ मोक्ष (निर्वाण) का जो लक्षण 'संसारातीत' अर्थात् 'भव-विपरीत' दिया है वह अपनी खास विशेषता रखता है और उसे सबकी समझ में आने योग्य बना देता है। यद्यपि वह उस लक्षण से जो मोक्षाधिकार के प्रारम्भ में 'अभावो बन्धहेतूनां' इत्यादि रूप से दिया है, प्रकटरूप में भिन्न जान पड़ता है परन्तु वस्तुतः भिन्न नहीं है-उसी का फलितार्थ है। वह दार्शनिकों की-शास्त्रियों की समझ में आने योग्य बड़ा ही गूढ़-गम्भीर तथा, जँचा-तुला लक्षण है और यह सर्वसाधारण की सहज समझ में आने योग्य खुला एवं सीधा-सादालक्षण है। बन्ध और बन्ध का कार्य जो संसार[१] उससे मोक्ष विपरीत है[२]। संसाररूप सबके सामने है, जिसे संक्षेप में ऊपर प्रदर्शित किया गया है, जबकि बन्ध के हेतु और सर्व कर्म सामने नहीं हैं, इससे सांसारिक सभी प्रवृत्तियों के अभावरूप मोक्ष को आसानी से समझा जा सकता है और इसीलिए सर्वसाधारण की समझ तथा फलितार्थ की दृष्टि से यह लक्षण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

विमुक्तादि शब्द अन्वर्थक

विमुक्तो निर्वृतः सिद्धः परंब्रह्माभवः शिवः।
अन्वर्थः शब्दभेदेऽपि भेदस्तस्य न विद्यते॥९०॥

अर्थ—विमुक्त, निर्वृत, सिद्ध, परंब्रह्म, अभव तथा शिव शब्द अन्वर्थक हैं। शब्दभेद के होते हुए भी इनमें एक के वाच्य का दूसरे के वाच्य के साथ वास्तव में अर्थभेद नहीं है।

व्याख्या—यहाँ निर्वाण को प्राप्त व्यक्तियों के कुछ नामों का उल्लेख करके यह बतलाया है कि ये सब नाम अन्वर्थ संज्ञक हैं-नामभेद को लिए हुए होने पर भी इनमें कोई भी नाम उस निर्वाण तत्त्व के जपभेद की लिए हुए नहीं है-सबका अभिधेय वही एक निर्वाणतत्त्व है जिसका पिछले पद्य में उल्लेख किया गया है। विमुक्ति को-विभावपरिणमन में कारणभूत बन्धनों से विशेषतः निवृत्ति को, जो प्राप्त उसे 'विमुक्त' कहते हैं, जो सांसारिक सब प्रवृत्तियों से छुटकारा पा चुका है, उसे 'निर्वृत' कहते हैं, जिसने सिद्धि को-दोषों-विकारों तथा आवरणों के अभावरूप स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त कर लिया है, उसे 'सिद्ध' कहते हैं, जो सब विभावों का अभाव कर अपने शुद्ध

१. बन्धस्य कार्यः संसारः (रामसेनाचार्य)। २. मोक्षस्तद्विपरीतात्मा (समन्तभद्र)।

चिदानन्दमय आत्मस्वरूप में स्थित हो गया है, उसे 'परंब्रह्म' कहते हैं, जो भव के–संसार के सब प्रपंचों से रहित हो गया है अथवा संसार के रूप में नहीं रहा उसे 'अभव' कहते हैं और जो शिव को–परम सौख्यरूप निर्वाण को अथवा परम–कल्याण को प्राप्त हो गया है उसे 'शिव' कहते हैं। उक्त नामों की इन अर्थों पर से सबका वाच्य एक ही पाया जाता है और इसलिए इनमें वस्तुतः अर्थ–भेद का न होना सुघटित है।

निर्वाणतत्त्व तीन विशेषणों से युक्त

तल्लक्षणाविसंवादा निराबाधमकल्मषम्।
कार्यकारणतातीतं जन्ममृत्युवियोगतः[1]॥९१॥

अर्थ—उस निर्वाणतत्त्व के लक्षण में जो विसंवाद रहित हैं, वे उसे 'निराबाध' सब प्रकार की आकुलतादि बाधाओं से रहित–अकल्मष सारे कर्ममलों से शून्य और जन्म–मरण का अभाव हो जाने से 'कार्य–कारणता–से विमुक्त' कहते हैं।

व्याख्या—निर्वाण तत्त्व के उक्त संसारातीत लक्षण में जिन्हें कोई विवाद नहीं है, वे उस निर्वाण तत्त्व को तीन खास विशेषणों से युक्त अनुभव करते हैं–एक निराबाध, जिसमें कभी किसी प्रकार से कोई बाधा नहीं आती, दूसरे अकल्मष, जिसमें कभी किसी प्रकार से कर्ममल का सम्बन्ध नहीं हो पाता, तीसरे जन्म–मरण का वियोग हो जाने से जो सदा कार्य कारणता से रहित रहता हैं–न कभी किसी का कार्य बनता और न कभी कारण।

असम्मोह से ज्ञात निर्वाण–तत्त्व में कोई विवाद तथा भेद नहीं होता

ज्ञाते निर्वाण–तत्त्वेऽस्मिन्नसंमोहेन तत्त्वतः।
मुमुक्षूणां न तद्युक्तौ विवाद उपपद्यते॥९२॥
सर्वज्ञेन यतो दृष्टो मार्गो मुक्तिप्रवेशकः।
प्राञ्जलोऽयं ततो भेदः कदाचिन्नात्र विद्यते॥९३॥

अर्थ—इस निर्वाणतत्त्व के वस्तुतः असम्मोह (अभ्रान्त) रूप से ज्ञात हो जाने पर मुमुक्षुओं को उसकी युक्ति–योजना में विवाद उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि सर्वज्ञ के द्वारा देखा गया जो मुक्ति प्रवेशक मार्ग है वह प्राञ्जल है, स्पष्ट एवं निर्दोष है और इसलिए उसमें कभी कोई भेद नहीं है।

व्याख्या–मोक्षतत्त्व को जब तक असम्मोह (अभ्रान्त) रूप से नहीं जाना जाता तब तक उसमें विवाद का होना सम्भव है। आगम–ज्ञानपूर्वक निश्चितरूप से जान लेने पर मुमुक्षुओं को उसमें फिर कोई विवाद उत्पन्न नहीं होता। वे दृढ़ श्रद्धा के साथ समझते हैं कि सर्वज्ञदेव ने मोक्ष–प्राप्ति का जो

---

१. आ जन्ममृत्योर्वियोगतः, व्या जन्ममृत्यादियोगतः।

मार्ग–उपाय बन्ध के हेतुओं मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र का अभाव और मोक्ष हेतुओं सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का सद्भाव बतलाया है वह बिल्कुल ठीक है उसमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता। बन्धहेतुओं के अभाव से नये कर्म नहीं बँधते और मोक्षहेतुओं के सद्भाव से जो तपश्चर्या बनती है उससे संचित सारे कर्मों की निर्जरा होकर स्वतः मुक्ति की प्राप्ति होती है। और इसलिए वे निःशंक होकर उस मार्ग में प्रवृत्ति करते हैं।

निर्वाणमार्ग की देशना के विचित्र होने के कारण

विचित्रादेशनास्तत्र भव्यचित्तानुरोधतः।
कुर्वन्ति सूरयो वैद्या यथाव्याध्यनुरोधतः॥९४॥

अर्थ—उस मुक्तिमार्ग के सम्बन्ध में आचार्य महोदय भव्यजनों के चित्तानुरोध से नाना प्रकार की देशनाएँ उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार वैद्य व्याधियों के अनुरोध से नाना प्रकार की चिकित्सा करते हैं, जिस समय जिस रोगी की जिस प्रकार की व्याधि (बीमारी) होती है उस समय चतुर वैद्य उस व्याधि तथा रोगी की प्रकृति आदि के अनुरूप योग्य औषध की योजना करते हैं।

व्याख्या—पिछले पद्य से कोई यह न समझ ले कि मुक्ति का मार्ग बिल्कुल एक ही साँचे में ढला हुआ होता है, सबके लिए समानरूप से ही उसकी देशना की जाती है, उसकी प्रक्रिया में कहीं कोई रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं होता, इस गलतफहमी को दूर करने के लिए ही इस पद्य का अवतार हुआ जान पड़ता है। यहाँ स्पष्ट रूप से मोक्षमार्ग की देशना का विशेषण 'विचित्रा' दिया गया है जो इस बात को सूचित करता है कि सबके लिए देशना का एक ही रूप नहीं होता, क्योंकि सामान्यतः संसार–रोग एक होने पर भी उसकी अवस्थाएँ भिन्नभिन्न चित्तो के अनुरोध से भिन्न–भिन्न होती हैं। एक चतुर वैद्य एक ही रोग से पीड़ित विभिन्न रोगियों की चिकित्सा में रोगी की अवस्था आदि के अनुरोध से जिस प्रकार विभिन्न चिकित्सा करता है उसी प्रकार संसार रोग के ज्ञाता आचार्य भी संसारी प्राणियों के रोग की विभिन्न स्थिति तथा अवस्था आदि के अनुसार उन्हें विभिन्न प्रकार की देशना किया करते हैं, जिसमें रोग–विषयक सिद्धान्तादि का कोई विरोध न होकर द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव के अनुसार उसकी चिकित्सा प्रक्रिया में अन्तर हुआ करती है। इसी से अनेक आचार्यों के कथनों में परस्पर शासन–भेद पाया जाता है, इतना ही नहीं किन्तु जैन तीर्थंकरों के शासन में भी भेद पाया जाता है। इसके लिए जैन ग्रन्थरत्नाकर हीराबाग बम्बई से प्रकाशित 'जैनाचार्यों का शासनभेद' नाम की पुस्तक को देखना चाहिए, जिसमें परिशिष्टरूप से जैन तीर्थंकरों का शासनभेद भी दिया हुआ है।

उक्त चारित्र-व्यवहार से मुक्ति हेतु, निश्चय से विविक्त चेतना का ध्यान

कारणं निर्वृतेरेतच्चारित्रं व्यवहारतः।
विविक्तचेतनध्यानं जायते परमार्थतः॥९५॥

अर्थ—यह चारित्र जो ऊपर वर्णित हुआ वह व्यवहार से निर्वाण का कारण है, निश्चय से कर्मकलंक विमुक्त शुद्ध आत्मा का जो ध्यान है वह निर्वाण का कारण होता हैं।

व्याख्या—यहाँ पूर्व वर्णित चारित्र के विषय में यह घोषणा की गयी है कि वह व्यवहारनय की दृष्टि से मुक्ति का मार्ग है-मुक्ति की प्राप्ति का सहायक है, निश्चयनय की दृष्टि से विविक्त चेतना का कर्मकलंक से रहित शुद्धात्मा का ध्यान मुक्ति का कारण होता है।

व्यावहारिक चारित्र के भेद

यो व्यावहारिकः पन्थाः संभेद-द्वय-संगतः।
अनुकूलो भवेदेको निर्वृतेः संसृतेः परः॥९६॥

अर्थ—जो व्यावहारिक (व्यवहारनयाश्रित) मार्ग है वह दो भेदों को लिए हुए है, एक निर्वाण के अनुकूल है, दूसरा संसार के अनुकूल है।

व्याख्या—यहाँ व्यवहारमार्ग के दो भेद किये गये हैं—एक वह जो कि मुक्ति के अनुकूल होता है और दूसरा वह जो कि संसार के अनुकूल होता है। फलतः उसे मुक्ति के प्रतिकूल समझना चाहिए। जो व्यवहारमार्ग मुक्ति के अनुकूल होता है, उसी को मोक्ष की प्राप्ति में सहायक समझना चाहिए।

कौन चारित्र मुक्ति के अनुकूल और कौन संसृति के

निर्वृतेरनुकूलोऽध्वा चारित्रं जिन-भाषितम्।
संसृतेरनुकूलोऽध्वा चारित्रं पर-भाषितम्॥९७॥

अर्थ—निर्वाण (मुक्ति) के अनुकूल जो मार्ग है वह जिनभाषित चारित्र है और जो संसार के अनुकूल मार्ग है वह पर भाषित सर्वज्ञ–जिनदेव से भिन्न अन्य व्यक्तियों (असर्वज्ञों, आप्ताभासों) का कहा हुआ चारित्र है।

व्याख्या—पिछले पद्य में व्यवहार चारित्र के जो दो भेद किये हैं उनके स्वरूप की कुछ सूचना इस पद्य में की गयी है और वह यह है कि जो चारित्रधर्म जिनभाषित है, घातिकर्ममल के क्षय से उत्पन्न अनन्तज्ञानादि चतुष्टय के धारक केवलिजिन प्रज्ञप्त है—वह मुक्ति के अनुकूल है और जो पर-भाषित है, केवलज्ञानादि से रहित दूसरों के द्वारा कहा गया है वह संसार के अनुकूल है—संसार को बढ़ाने में सहायक है।

जिनभाषित चारित्र कैसे मुक्ति के अनुकूल है

चारित्रं चरतः साधोः कषायेन्द्रिय-निर्जयः।
स्वाध्यायोऽतस्ततो ध्यानं ततो निर्वाणसंगमः॥९८॥

अर्थ—(जिनभाषित) सम्यक् चारित्ररूप आचरण करते हुए साधु के कषाय तथा इन्द्रियों का जीतना होता है, कषाय और इन्द्रियों को जीतने से स्वाध्याय–अपने आत्मा का अध्ययन बनता है और स्वात्माध्ययन से निर्वाण का संगम होता है–अविनाशी एवं पूर्णतः निराकुल मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—यहाँ जिनभाषित चारित्र के विषय में यह स्पष्ट किया गया है कि वह कैसे मुक्ति के अनुकूल है। उस चारित्र पर चलने वाले साधु के कषायों तथा इन्द्रियों पर विजय होता है, कषायों तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होने से स्वाध्याय–अपने आत्मस्वरूप का अध्ययन बनता है और आत्मस्वरूप के अध्ययन से विविक्त आत्मा का वह ध्यान बनता है जिसे पिछले एक पद्य (९४) में निश्चय चारित्र कहा गया है और उसके बनने से मुक्ति का संगम स्वतः होता है। इस तरह जिनभाषित व्यवहार चारित्र मुक्ति को प्राप्त करने में सहायक है और इसलिए उसको भी 'मोक्षमार्ग' कहना संगत है।

उक्त व्यवहार चारित्र के बिना निश्चय चारित्र नहीं बनता

इदं चरित्रं विधिना विधीयते
ततः शुभध्यान-विरोधि-रोधकम्।
विविक्तमात्मानमनन्तमीशते
न साधवो ध्यातुमृतेऽमुना यतः॥९९॥

अर्थ—यह (जिनभाषित) चारित्र जो कि शुभध्यान (धर्मध्यान) के विरोधियों (आर्त-रौद्र-ध्यानों) को रोकने वाला है जब यथाविधि किया जाता है तो उससे साधुजन अनन्तरूप विविक्त निर्मल आत्मा को ध्याने के लिए समर्थ होते हैं। इस चारित्र के बिना वे साधुजन शुद्धात्मा के ध्यान में समर्थ नहीं होते।

व्याख्या—यहाँ जिन-भाषित चारित्र के अनुष्ठान का दो प्रकार से महत्त्व ख्यापित किया गया, एक तो यह कि वह शुभध्यान के विरोधी ध्यानों का निरोधक है दूसरे उससे शुद्धात्मा के ध्यान की शक्ति, पात्रता अथवा भोग्यता प्राप्त होती है, बिना इस चारित्र का अनुष्ठान किये वह नहीं बनती। इसी से व्यवहारचारित्र को निश्चयचारित्र का साधन कहा गया है। उसके अनुष्ठान द्वारा शक्ति एवं पात्रता प्राप्त किये बिना शुद्ध आत्मा के ध्यानरूप निश्चयचारित्र नहीं बनता। जो लोग व्यवहारचारित्र को निश्चयचारित्र का सहायक न मानकर यों ही फालतू मद की बात अथवा बेकार (व्यर्थ) समझते हैं उन्हें इस कथन से अच्छी खासी शिक्षा लेनी चाहिए और अपनी भूल-भ्रान्ति को मिटा देना चाहिए। यदि व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्र के साधन में किसी प्रकार से भी सहायक नहीं होता तो जिनेन्द्र भगवान् को उसके कथन की आवश्यकता ही क्या पड़ती? अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति से ही चारित्र

की वह भूमिका तैयार होती है जहाँ खड़े होकर शुद्धात्मा का आराधन किया जा सकता है।

उक्त चारित्र के अनुष्ठाता योगी की स्थिति

राग - द्वेष - प्रपञ्च - भ्रम - मद - मदन - क्रोध - लोभ - व्यपेतो
यश्चारित्रं पवित्रं चरति चतुरधीर्लोकयात्रानपेक्षः।
स ध्यात्वात्म-स्वभावं विगलितकलिलं नित्यमध्यात्मगम्यं
त्यक्त्वा कर्मारि-चक्रं परम-सुख-मयं सिद्धिसद्म प्रयाति॥१००॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंग-योगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते चारित्राधिकारः॥८॥

अर्थ—जो चतुरबुद्धि योगी राग-द्वेष-प्रपंच (छलादि) भ्रम, मद, मान-अहंकार, मदन (काम) क्रोध और लोभ से रहित हुआ लोकयात्रा की दुनिया के व्यवहार की अपेक्षा न रखता हुआ (उक्त) पवित्र चारित्ररूप प्रवृत्त होता है वह अध्यात्मगम्य स्वभाव को सदा निष्कलंक रूप में ध्यान करके और कर्मशत्रुओं के चक्र को भेद कर परम सुखमय सिद्धि-सदन (मुक्ति महल) को प्राप्त होता है।

व्याख्या—यह आठवें अधिकार का उपसंहार पद्य है। इसमें अधिकार वर्णित पवित्र चारित्र का अनुष्ठान करने वाले योगी के तीन खास विशेषण दिये गये हैं—एक राग-द्वेष प्रपंच, भ्रम, मद, मदन, क्रोध, लोभ से रहित होना, दूसरा बुद्धि की चतुरता का होना और तीसरा लोकयात्रा की अपेक्षा न रखना। इन गुणों से युक्त हुआ योगी जब आत्मस्वभाव का ध्यान करता है, जो कि कर्म कलंक से रहित, शाश्वत और आत्मगम्य है, तब उसके साथ दर्शनज्ञानावरणादि कर्मों का जो समूह है वह सब विच्छिन्न तथा विभिन्न हो जाता है और इससे योगी निर्बन्ध तथा निर्लेप सिद्धि के उस चरमधाम को पहुँच जाता है जो परम सुखस्वरूप है और जिसकी स्थिति लोक के अग्रभाग में सिद्ध शिला से ऊपर है।

इस प्रकार श्री अमितगति-निःसंगयोगिराज-विरचित योगसार-प्राभृत में, चारित्राधिकार नाम का आठवाँ अधिकार समाप्त हुआ॥८॥

९

चूलिकाधिकार

मुक्तात्मा दर्शन-ज्ञान-स्वभाव को लिए सदा आनन्दरूप रहता है

दृष्टिज्ञानस्वभावस्तु सदानन्दोऽस्ति निर्वृतः।
न चैतन्य-स्वभावस्य नाशो नाश-प्रसङ्गतः॥१॥

अर्थ—निर्वृत्ति को—मुक्ति अथवा सिद्धि को प्राप्त हुआ आत्मा दर्शन-ज्ञान-स्वभाव को लिए हुए सदा आनन्दरूप रहता है। उसके (दर्शन-ज्ञानरूप) चैतन्य स्वभाव का कभी नाश नहीं होता क्योंकि स्वभाव का नाश मानने से आत्मा के ही नाश का प्रसंग उपस्थित होता है।

व्याख्या—पिछले अधिकार में वर्णित सम्यक्चारित्र की पूर्णता को प्राप्त होकर जब यह जीव निर्वृत-मुक्त होता है, इसे कुछ करना शेष नहीं रहता, तब यह अपने दर्शन-ज्ञान स्वभाव को लिए हुए सदा आनन्दरूप में तिष्ठता है। यदि कोई वैशेषिक मत की मान्यता को लेकर यह कहे कि निर्वृत-मुक्त होने पर बुद्धि आदि वैशेषिक-गुणों का उच्छेद हो जाने से चैतन्य स्वभाव का नाश हो जाता है तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि चैतन्यस्वभाव का स्वभाव होने से कभी नाश नहीं होता। यदि स्वभाव का भी नाश माना जायेगा तो द्रव्य के नाश का ही प्रसंग उपस्थित होगा, उसका किसी भी प्रकार से कहीं कोई अस्तित्व नहीं बन सकेगा, यह महान् दोष आयेगा। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वभाव के कारण अपना-अपना अलग अस्तित्व रखती है। दर्शनज्ञानरूप चैतन्य स्वभाव के कारण आत्मा भी अपना अलग अस्तित्व रखता है, उसका कभी नाश नहीं होता।

मुक्तात्मा का चैतन्य निरर्थक नहीं

सर्वथा ज्ञायते तस्य न चैतन्यं निरर्थकम्।
स्वभावत्वेऽस्वभावत्वे विचारानुपपत्तितः॥२॥

अर्थ—मुक्तात्मा का चैतन्य सर्वथा निरर्थक भी ज्ञात नहीं होता; क्योंकि निरर्थक को स्वभाव या अस्वभाव मानने पर चैतन्य की निरर्थकता का विचार नहीं बनता।

व्याख्या—मुक्तात्मा के चैतन्य को जो सांख्यमतानुयायी सर्वथा निरर्थक बतलाते हैं, यह कहते हैं कि—वह चैतन्य ज्ञेय के ज्ञान से रहित होता है, उसका निषेध करते हुए यहाँ दो विकल्प उपस्थित किये गये हैं—आत्मा का चैतन्य निरर्थक स्वभावरूप है या निरर्थक स्वभावरूप नहीं है? इन दोनों में से किसी की भी मान्यता पर निरर्थकता का विचार नहीं बनता, ऐसा सूचित किया गया है। आत्मा का चैतन्य निरर्थक स्वभावरूप नहीं है, इस द्वितीय विकल्प की मान्यता से तो चैतन्य की स्वभाव से सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है और इसलिए आपत्ति के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। शेष आत्मा का चैतन्य निरर्थक स्वभावरूप है ऐसा प्रथम विकल्प मानने पर आत्मा के चैतन्य को निरर्थक

बतलाने रूप विचार कैसे संगत नहीं बैठता इसको अगले दो पद्यों में स्पष्ट किया गया है।

चैतन्य को आत्मा का निरर्थक स्वभाव मानने पर दोषापत्ति

निरर्थक-स्वभावत्वे ज्ञानभावानुषङ्गतः।
न ज्ञानं प्रकृतेर्धर्मश्चेतनत्वानुषङ्गतः॥३॥
प्रकृतेश्चेतनत्वे[१] स्यादात्मत्वं दुर्निवारणम्।
ज्ञानात्मकत्वे चैतन्ये नैरर्थक्यं न युज्यते॥४॥

अर्थ—यदि चैतन्य को आत्मा का निरर्थक स्वभाव माना जाये सार्थक स्वभाव न मानकर प्रकृतिजनित विभाव स्वीकार किया जाये तो प्रकृति के ज्ञानत्व का प्रसंग उपस्थित होता है और ज्ञान प्रकृति का धर्म है नहीं; क्योंकि ज्ञान को प्रकृति का धर्म मानने पर प्रकृति के चेतनत्व का प्रसंग उपस्थित होता है और प्रकृति के यदि चेतनत्व माना जाये तो आत्मत्व मानना भी अवश्यंभावी होगा। अतः चैतन्य के ज्ञानात्मक होने पर उसके निरर्थकपना नहीं बनता।

व्याख्या—पिछले पद्य में चैतन्य के निरर्थक न होने की जो बात कही गयी है उसी का इन दोनों पद्यों में निरर्थक स्वभाव नाम के विकल्प को लेकर स्पष्टीकरण किया गया है। चैतन्य को आत्मा का निरर्थक स्वभाव मानने का अर्थ यह होता है कि चैतन्य आत्मा का सार्थक (स्वकीय) स्वभाव न होकर उसका विभाव परिणाम है। कोई भी विभाव परिणाम पर के निमित्त बिना नहीं होता। आत्मा के विभाव परिणाम का कारण पौद्गलिक कर्म होता है, जिसे प्रकृति भी कहते हैं। विभाव परिणाम जब चैतन्यरूप है तब उसकी जननी प्रकृति भी ज्ञानरूप ठहरती है। परन्तु ज्ञान प्रकृति का धर्म नहीं है। उसे प्रकृति का धर्म मानने पर प्रकृति के चेतनपने का प्रसंग उपस्थित होता है, जिसे सांख्यमतावलम्बियों ने भी माना नहीं। यदि प्रकृति के चेतनधर्म का सद्भाव माना जायेगा तो उसको आत्मा (पुरुष) मानना अनिवार्य हो जायेगा; क्योंकि सांख्यों ने पुरुष आत्मा को चेतन रूप में स्वीकार किया है और प्रकृति को जड़रूप में। इस मान्यता से उनके मत में विरोध उपस्थित होगा। अतः चैतन्य के स्वभाव से ज्ञानरूप होने पर निरर्थकपना कुछ नहीं बनता। ज्ञान आत्मा का स्वभाव होने से उसमें निरर्थकपने की संगति नहीं बैठती। ऐसी स्थिति में सांख्यों की उक्त मान्यता सदोष ठहरती है।

सत् का अभाव न होने से मुक्ति में आत्मा का अभाव नहीं बनता

नाभावो मुक्त्यवस्थायामात्मनो घटते ततः[३]।
विद्यमानस्य भावस्य नाभावो युज्यते यतः[४]॥५॥

---

१. मु प्रकृतेश्चेतनत्वं। २. मु ज्ञानात्मकेन। ३. आ, ब्या घटते यतः। ४. आ, ब्या युज्यते ततः।

अर्थ—चूँकि विद्यमान भाव का सत् का (कभी) अभाव नहीं होता इसलिए मुक्ति-अवस्था में आत्मा का अभाव (भी) घटित नहीं होता।

व्याख्या—जो लोग बौद्धमान्यता के अनुसार मुक्ति अवस्था में आत्मा का प्रदीप निर्माण के समान अभाव मानते हैं उन्हें लक्ष्य करके यहाँ कहा गया है कि मुक्ति अवस्था में आत्मा का अभाव नहीं होता; क्योंकि आत्मा सत्स्वरूप है, जो वस्तु सत्रूप होती है उसका कभी नाश नहीं होता[1] भले ही उसकी पर्यायों में परिवर्तन होता रहे।

चन्द्रकान्ति और मेघ के उदाहरण द्वारा विषय का स्पष्टीकरण

यथा चन्द्रे स्थिता कान्तिर्निर्मले निर्मला सदा।
प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य मेघादिजनितावृतिः॥६॥
तथात्मनि स्थिता ज्ञप्तिर्विशदे विशदा सदा।
प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य कर्माष्टककृतावृतिः॥७॥
जीमूतापगमे चन्द्रे यथा स्फुटति चन्द्रिका।
दुरितापगमे शुद्धा तथैव ज्ञप्तिरात्मनि॥८॥

अर्थ—जिस प्रकार निर्मल चन्द्रमा में निर्मल कान्ति सदा स्थित रहती है, उसकी प्रकृति जो विकृतिरूप होती है अथवा उसके निर्मल स्वभाव में जो विकार उत्पन्न होता है उसका कारण मेघादिजनित आवृति-आवरण है, उसी प्रकार निर्मल आत्मा में निर्मल ज्ञप्ति-ज्ञान ज्योति सदा स्थित रहती है, उसकी प्रकृति जो विकृतिरूप होती है अथवा उसके निर्मल स्वभाव में विभाव परिणमनरूप जो विकार उत्पन्न होता है, उसका कारण आठ कर्मों की हुई आवृति है। मेघों के विघटित हो जाने पर जिस प्रकार चन्द्रमा में चाँदनी स्फुटित होती है उसी प्रकार कर्मों के दूर हो जाने पर आत्मा में शुद्ध ज्ञप्ति-ज्ञान ज्योति स्फुटित होती है।

व्याख्या—इन तीनों पद्यों में चन्द्रमा और मेघ के उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट करके बतलाया है कि-वस्तु का जो स्वभाव है उसका कभी अभाव नहीं होता, पर के निमित्त से न्यूनाधिकरूप में तिरोभाव अथवा विभाव परिणमन जरूर हो जाता है, पर का सम्बन्ध मिटने पर वस्तु अपने असली स्वभाव में प्रकट हो जाती है। यह विभाव-परिणमन जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में ही होता है, जिनमें वैभाविकी शक्ति पायी जाती है-अन्य द्रव्यों में नहीं। मेघरूप परिणत हुए पुद्गल परमाणु जिस प्रकार निर्मल चन्द्रमा की चाँदनी में विकार उत्पन्न करते हैं उसे अपने असलीरूप में प्रस्फुटित होने नहीं देते उसी प्रकार अष्टकर्मरूप परिणत हुए पुद्गल परमाणु आत्मा की शुद्ध चेतना में विकार

१. नैवासतो जन्म सतो न नाशः।-समन्तभद्र।

उत्पन्न करते हैं–उसे अपने असलीरूप में प्रकट होने नहीं देते। मेघों के पूर्णतः विघटित होने पर निर्मल चन्द्रिका (चाँदनी) की जैसी स्थिति होती है वैसी ही स्थिति शुद्धात्मज्योति की कर्मों का पूर्णतः विलय होने पर होती है अर्थात् वह अपने शुद्ध स्वरूप में पूर्णतः विकसित हो जाती है।

आत्मा पर छाये कर्मों को योगी कैसे क्षण-भर में धुन डालता है

धुनाति क्षणतो योगी कर्मावरणमात्मनि।
मेघस्तोममिवादित्ये पवमानो महाबलः॥९॥

अर्थ—आत्मा के ऊपर आये हुए कर्म के आवरण को योगी उसी प्रकार क्षणभर में धुन डालता है जिस प्रकार कि तीव्र गति से चलने वाला महाबलवान पवनसूर्य पर आये हुए मेघसमूह को क्षणभर में भगा देता है।

व्याख्या—यहाँ उस योगी के योग माहात्म्य को दर्शाया गया है, जो आत्मा के ऊपर छाये हुए कर्म पटलों को क्षणमात्र में धुन डालता है। उस योगी की शक्ति तीव्रवेग से चलने वाले उस प्रचण्ड पवन के समान होती है जो सूर्य के ऊपर छाये हुए बादलों को क्षणमात्र में छिन्न-भिन्न कर डालता है।

योगी के योग का लक्षण

विविक्तात्म-परिज्ञानं योगात्संजायते यतः।
स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूत-पातकैः॥१०॥

अर्थ—जिस योग से, ध्यान से कर्मकलंक विमुक्त आत्मा का परिज्ञान होता है वह उन योगियों के द्वारा 'योग' कहा गया है, जिन्होंने योग बल से पातकों का–घातिया कर्मों का नाश किया है।

व्याख्या—जिस योग के माहात्म्य का पिछले पद्य में उल्लेख है उसका लक्षण इस पद्य में दिया गया है और वह यह है कि जिस योग से ध्यान बल से आत्मा को अपने स्वभावस्थित असलीरूप में जाना जा सके उसे 'योग' कहते हैं, जो कि ध्यान का पर्याय-वाचक है। योग का यह लक्षण उन योगियों के द्वारा कहा गया है जिन्होंने योग-बल से ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों का, जो कि सब पापरूप हैं, पूर्णतः विनाश किया है। इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि योग शुद्धात्मा का परिज्ञायक ही नहीं किन्तु आत्मा के ऊपर व्याप्त और उसके स्वरूप को आच्छादन करने वाले कर्मपटलों का उच्छेदक भी हैं।

योग से उत्पन्न सुख की विशिष्टता

निरस्त-मन्मथातङ्कं योगजं सुखमुत्तमम्।
शमात्मकं स्थिरं स्वस्थं जन्ममृत्युजरापहम्॥११॥

अर्थ—जो योग से ध्यानजन्य विविक्तात्म परिज्ञान से उत्पन्न हुआ सुख है वह उत्तम सुख है; (क्योंकि) वह कामदेव के आतंक से विषय-वासना की पीड़ा से रहित है, शान्तिस्वरूप है, निराकुलतामय है, स्थिर है–अविनाशी है स्वात्मा में स्थित है–कहीं बाहर से नहीं आता, न पराश्रित है और जन्म जरा तथा मृत्यु का विनाशक है अथवा तज्जन्य दुःख से रहित है।

व्याख्या—जिस योग का पिछले पद्य में उल्लेख हैं वह स्वात्मा का परिज्ञायक और पातकों का उच्छेदक होने के कारण जिस सुख का जनक है उसके यहाँ उत्तमादि छह विशेषण दिये गये हैं, जो सब उसकी निराकुलता, स्वाधीनता और उत्कृष्टता के द्योतक हैं।

सुख-दुःख का संक्षिप्त लक्षण

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
वदन्तीति समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः॥१२॥

अर्थ—जो पराधीन है वह सब दुःख हैं और जो स्वाधीन है वह सब सुख है। इस प्रकार (विज्ञपुरुष) संक्षेप से सुख-दुःख का लक्षण कहते हैं।

व्याख्या—यहाँ संक्षेप से सुख और दुःख दोनों के व्यापक लक्षणों का उल्लेख किया गया है, जिनसे वास्तविक सुख-दुःख को सहज ही परखा-पहचाना जा सकता है। जिस सुख की प्राप्ति में थोड़ी-सी भी पराधीनता–पर की अपेक्षा है वह वास्तव में सुख न होकर दुःख ही है और जिसकी प्राप्ति में कोई पराधीनता–पर की अपेक्षा नहीं, सब कुछ स्वाधीन है, वही सच्चा सुख है। अतः जो इन्द्रियाश्रित भोगों को सुखदायी समझते हैं, वे अन्त में सन्ताप को ही प्राप्त होते हैं–सच्चा तथा वास्तविक सुख उन्हें नहीं मिल पाता।

उक्त लक्षण की दृष्टि से पुण्यजन्य भोगों और योगजन्य ज्ञान की स्थिति

ततः पुण्यभवा भोगा दुःखं परवशत्वतः।
सुखं योगभवं ज्ञानं स्वरूपं स्ववशत्वतः॥१३॥

अर्थ—चूँकि जो पराधीन है वह सब दुःख है। अतः जो पुण्य से उत्पन्न हुए भोग हैं वे परवश (पराश्रित) होने के कारण दुःखरूप हैं। और योग से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान–विविक्तात्म परिज्ञान है, वह स्वाधीन होने के कारण सुखरूप अपना स्वरूप है।

व्याख्या—सुख-दुःख के उक्त लक्षणों की दृष्टि से यहाँ पुण्य से उत्पन्न होने वाले भोगों को भी दुःखरूप बतलाया है; क्योंकि वे पुण्योदय के आश्रित हैं, पराधीन हैं और स्वकीय ध्यानबल से उत्पन्न होने वाले शुद्धात्मज्ञान को सुखरूप बतलाया है; क्योंकि वह स्वाधीन है और अपना स्वभाव है।

निर्मल ज्ञान स्थिर होने पर ध्यान हो जाता है

ध्यानं विनिर्मलज्ञानं पुंसां संपद्यते स्थिरम्।
[1]हेमक्षीणमलं किं न कल्याणत्वं प्रपद्यते॥१४॥

अर्थ—पुरुषों का–मानवों का निर्मल ज्ञान जब स्थिर होता है तो वह 'ध्यान' हो जाता है। (ठीक है) किट्ट–कालिमादिरूप मल से रहित हुआ सुवर्ण क्या कल्याणपने को प्राप्त नहीं होता? होता ही है, उस शुद्ध सुवर्ण को 'कल्याण' नाम से पुकारा जाता है।

व्याख्या—यहाँ योग को ध्यान शब्द से उल्लेख करते हुए लिखा है कि जब निर्मलज्ञान स्थिर होता है तब वह 'ध्यान' कहलाता है; उसी प्रकार जिस प्रकार कि सुवर्ण जब मल रहित होता है तो 'कल्याण' नाम को प्राप्त होता है। निर्मल ज्ञान भी ध्यानरूप में स्थिर होकर कल्याणकारी होता है।

भोग का रूप और उसे स्थिर-वास्तविक समझने वाले

गन्धर्वनगराकारं विनश्वरमवास्तवम्।
स्थावरं वास्तवं भोगं बुध्यन्ते[2] मुग्धबुद्धयः॥१५॥

अर्थ—जो मूढ़बुद्धि हैं, जिन्हें वस्तुस्वरूप का ठीक परिज्ञान नहीं वे गन्धर्वनगर के आकार समान विनाशीक और अवास्तविक भोगसमूह को स्थिर और वास्तविक समझते हैं।

व्याख्या—जिन पुण्योत्पन्न भोगों का १३वें पद्य में उल्लेख है वे आकाश में रंग-बिरंगे बादलों से स्वतः बने गन्धर्वनगर के समान विनश्वर और अवास्तविक हैं उन्हें मूढ़ बुद्धि स्थिर और वास्तविक समझते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है। यहाँ प्रत्यक्ष में नित्य दिखाई देने वाले बादलों के आकार की क्षणभंगुरता की ओर संकेत करके भोगों की अस्थिरता और निःसारता को उसके समकक्ष दर्शाया गया है और जो लोग भ्रमवश विषयभोगों को ऐसा नहीं समझते उन्हें मोह से दूषितमति सूचित किया है।

यह संसार, आत्मा का महान् रोग

चित्तभ्रमकरस्तीव्ररागद्वेषादिवेदनः।
संसारोऽयं महाव्याधिर्नानाजन्मादिविक्रियः॥१६॥
[3]अनादिरात्मनोऽमुख्यो भूरिकर्मनिदानकः।
यथानुभवसिद्धात्मा सर्वप्राणभृतामयम्॥१७॥

अर्थ—यह संसार जो चित्त को भ्रम उत्पन्न करने वाला, राग-द्वेषादि की वेदना को लिए हुए तथा जन्म-मरणादि की विक्रिया से युक्त है वह आत्मा का महान् रोग है, आत्मा के साथ अनादि-

१. मु हेमं। २. मु बुध्यते। ३. आ आनादि; आद्वि अनादि।

सम्बन्ध को प्राप्त है, अप्रधान है, बहुत कर्मों से बन्ध का कर्ता है और सर्व प्राणियों का यथा अनुभव सिद्ध (पर्यायरूप) आत्मा बना है।

व्याख्या—यहाँ संसार को, जो मुख्यतः भवभ्रमण के रूप में है, आत्मा का एक बहुत बड़ा रोग बतलाया है, जो अनादिकाल से उसके साथ लगा हुआ है, राग-द्वेष-काम-क्रोधादिरूप तीव्र वेदनाओं को लिए हुए है, चित्त को भ्रमरूप करने वाला है, नानाप्रकार जन्म-मरणादि विक्रियाओं के रूप को लिए हुए है और सर्व प्राणियों के लिए अतिशय बन्ध का कारण है। ऐसा संसार का रूप दिखलाकर यहाँ फलतः उससे विरक्ति अथवा उसमें आसक्त न होने की प्रेरणा की गयी है।

सर्व संसार-विकारों का अभाव होने पर मुक्त जीव की स्थिति

सर्वजन्मविकाराणामभावे तस्य तत्त्वतः।
न मुक्तो जायतेऽमुक्तोऽमुख्योऽज्ञानमयस्तथा॥१८॥

अर्थ—आत्मा के वस्तुतः सर्व संसार विकारों का अभाव हो जाने पर जो मुक्त होता है वह फिर कभी अमुक्त-संसार पर्याय का धारक संसारी नहीं होता, न साधारण प्राणी बनता है और न अज्ञानरूप परिणत ही होता है।

व्याख्या—जिस संसारी आत्मा का पिछले दो पद्यों में उल्लेख है उसके सम्पूर्ण भवविकारों का जब अभाव हो जाता है तब वह मुक्त हो जाता है, जो मुक्त हो जाता है वह फिर कभी संसारी साधारण प्राणी तथा अज्ञानी नहीं होता। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि वह पुनः शरीर धारण कर संसार में नहीं आता। इससे मुक्तात्मा के अवतारवाद का निषेध होता है, इसलिए जिनके विषय में यह कहा जाता है कि उन्होंने अमुक कार्य-सिद्धि के लिए अथवा अपने भक्त का कष्टमोचन करने के लिए पृथ्वी पर अवतार धारण किया है उनके विषय में यह समझ लेना चाहिए कि उन्होंने अभी तक मुक्ति को प्राप्त नहीं किया-मुक्ति को प्राप्त हो जाने पर कारण में अभाव से पुनः संसार में अवतार नहीं बनता।

उदाहरण-द्वारा पूर्व कथन का समर्थन

यथेहामयमुक्तस्य नामयः स्वस्थता परम्।
तथा पातकमुक्तस्य न भवः स्वस्थता परम्॥१९॥

अर्थ—जिस प्रकार इस लोक में जो रोग से मुक्त हो गया उसके रोग नहीं रहता, परम स्वस्थता हो जाती है उसी प्रकार जो कर्मों से मुक्त हो गया उसके भव-संसार नहीं रहता, परम स्वस्थता हो जाती है।

व्याख्या—यहाँ पिछली बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार रोग से सर्वथा मुक्त रोगी के रोग नहीं रहता, परम नीरोगता की प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार

जो पापादि कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाता है उसके फिर पर-पर्याय-ग्रहणरूप संसार नहीं रहता अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही सदा स्थिरता बनी रहती है।

किसके भोग संसार का कारण नहीं होते

शुद्धज्ञाने मनो नित्यं कार्येऽन्यत्र विचेष्टिते।
यस्य तस्याग्रहाभावान् न भोगा भवहेतवः॥२०॥

अर्थ—जिसका मन सदा शुद्धज्ञान में रमा रहता है, अन्य किसी कार्य में जिसकी कोई प्रवृत्ति नहीं होती उसके भोग आसक्ति के अभाव में संसार का कारण नहीं होते।

व्याख्या—किसके भोग क्यों बन्ध का कारण नहीं होते, इस बात को यहाँ दर्शाते हुए बतलाया गया है कि जिस योगी का मन सदा शुद्धज्ञान के आत्मा के आराधन में लीन रहता है अन्य किसी कार्य के करने में जिसकी कोई विशेष रुचि नहीं होती, उसके सामान्यतः आहार-ग्रहणादिरूप भोग अनासक्ति के कारण संसार के हेतुभूत बन्ध के कारण नहीं होते प्रत्युत इसके निर्जरा के कारण बनते हैं।

भोगों को भोगता हुआ भी कौन परम पद को प्राप्त होता है

मायाम्भो मन्यतेऽसत्यं तत्त्वतो यो महामनाः।
अनुद्विग्नो निराशङ्कस्तन्मध्ये स न गच्छति॥२१॥
मायातोयोपमा भोगा दृश्यन्ते येन वस्तुतः।
स भुञ्जानोऽपि निःसङ्गः प्रयाति परमं पदम्॥२२॥

अर्थ—जो महात्मा मायाजल को—मृगमरीचिका को वस्तुतः असत्य समझता है वह उसके प्रति उद्विग्न आकुलित तथा शंकित नहीं होता और इसीलिए उसमें नहीं फँसता। जिसे भोग वास्तव में मायाजल के समान दिखाई देते हैं वह महात्मा उन्हें भोगता हुआ भी (आसक्ति के अभाव से) निःसंग है और परम पद को प्राप्त होता है।

व्याख्या—शुद्ध ज्ञान-चर्यारत ज्ञानी के भोगबन्ध के कारण नहीं, इस पिछली बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए यहाँ बतलाया गया है कि जिस प्रकार कोई महात्मा पुरुष जो मृगमरीचिका को वास्तव में मिथ्या समझता है वह कभी उसके विषय में शंकित तथा उसकी प्राप्ति के लिए आकुलित नहीं होता और इसलिए उसमें प्रवेश नहीं करता। उसी प्रकार जो महात्मा योगी भोगों को वस्तुतः मायाजल के रूप में देखता है वह उनको भोगता हुआ भी निःसंग होता है, जल में कमल की तरह अलिप्त रहता है और इसलिए बन्ध को प्राप्त न होने से परम पद को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

भोगों को तत्त्वदृष्टि से देखने वाले की स्थिति

भोगांस्तत्त्वधिया पश्यन् नाभ्येति भवसागरम्।
मायाम्भो जानतासत्यं गम्यते तेन नाध्वना॥२३॥

अर्थ—भोगों को तत्त्वदृष्टि से देखता हुआ भवसागर को प्राप्त नहीं होता। (ठीक है) मायाजल को असत्य जल के रूप में जानता हुआ उस मार्ग से नहीं जाता।

व्याख्या—जिस प्रकार मायाजल (मृगमरीचिका) को उसके असली रूप को जानने वाला और उसे सत्य जल न समझने वाला उसकी प्राप्ति के लिए उधर दौड़-धूप नहीं करता, उसी प्रकार भोगों को तात्त्विकदृष्टि से देखने वाला उनमें आसक्त नहीं होता और इसलिए संसारसागर में पड़कर गोते नहीं खाता—दुःख नहीं उठाता। विषय-भोगों को तात्त्विकदृष्टि से न देखना ही उनमें आसक्ति का कारण बनता है और वह आसक्ति आसक्त को भव-भव में रुलाती तथा कष्ट पहुँचाती है।

भोग-माया से विमोहित जीव की स्थिति

स तिष्ठति भयोद्विग्नो यथा तत्रैव शङ्कितः।
तथा निर्वृत्तिमार्गेऽपि भोगमायाविमोहितः॥२४॥

अर्थ—जिस प्रकार मायाजल में शंकित प्राणी भय से उद्विग्न हुआ तिष्ठता है उसी प्रकार भोगमाया से विमोहित हुआ, भोगों के ठीक स्वरूप को न समझ कर जीव मुक्तिमार्ग में शंकित हुआ प्रवर्तता है।

व्याख्या—जिस प्रकार मायाजल के सत्य स्वरूप को न समझने वाला प्राणी शंकित चित्त हुआ उस ओर जल के फैलाव की आशंका से जाने में भयाकुल होता है उसी प्रकार जो जीव भोगों की माया से विमोहित हुआ उनके सत्य स्वरूप को नहीं समझता वह निर्वृत्ति के मार्ग में भोगों से विरक्ति के पन्थ में निःशंक प्रवृत्ति नहीं करता। उसे उस मार्ग पर चलने में भय बना रहता है।

धर्म से उत्पन्न भोग भी दुःख-परम्परा का दाता

धर्मतोऽपि भवो भोगो दत्ते दुःख-परम्पराम्।
चन्दनादपि सम्पन्नः पावकः प्लोषते न किम्॥२५॥

अर्थ—धर्म से भी उत्पन्न हुआ भोग दुःख-परम्परा को देता है। (ठीक है) चन्दन से भी उत्पन्न हुई अग्नि क्या जलाती नहीं हैं? जलाती ही है।

व्याख्या—धर्म की साधना करते हुए शुभ परिणामों के वश जो पुण्योपार्जन होता है उस पुण्यकर्म के उदय से मिला हुआ भोग भी दुःख-परम्परा का कारण है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि अत्यन्त शीतल स्वभाव चन्दन से उत्पन्न हुई अग्नि भी जलाने के कार्य से नहीं चूकती। अतः पुण्य से उत्पन्न हुए भोगों को भी दाहक-स्वभाव अग्नि के समान दुःखकर समझना चाहिए। एक कवि

ने राग को आग की उपमा देते हुए बड़े ही सुन्दर रूप में लिखा है–

यह राग आग दहे सदा, यातें समामृत पीजिए।
चिर भजे विषय-कषाय, अब तो त्याग इनको दीजिए॥

विवेकी विद्वानों की दृष्टि में लक्ष्मी और भोग

विपत्सखी यथा लक्ष्मीर्नानन्दाय विपश्चिताम्।
न कल्मषसखो भोगस्तथा भवति शर्मणे॥२६॥

अर्थ–जिस प्रकार विपदा जिसकी सखी-सहेली है वह लक्ष्मी विद्वानों के लिए आनन्द प्रदायक नहीं होती उसी प्रकार कल्मष–कर्ममल जिसका साथी है वह भोग विद्वानों के लिए सुखकारी नहीं होता।

व्याख्या–जिस लक्ष्मी (धन–दौलत) के राग में लोग दिन–रात फँसे रहते हैं उसे यहाँ विपदा की सहेली बतलाया है। अनेक प्रकार की आपदाएँ–मुसीबत उसके साथ लगी रहती हैं[1] और इसलिए जो तत्त्व के जानकार वास्तविक विद्वान् हैं उनके लिए वह लक्ष्मी आनन्द की कोई वस्तु नहीं होती, मजबूरी को अपनी अशक्ति तथा कमजोरी के कारण अथवा दूसरे कुछ बड़े कष्टों से बचने के लिए उसका सेवन किया जाता है। उसी प्रकार (आसक्तिपूर्वक) भोग भी जिसका साथी कल्मष है–कषायादि के बन्धरूप कर्ममल है वह उक्त विद्वानों के लिए सुख का कारण नहीं होता–आसक्ति के कारण मजबूरी से तत्कालीन वेदना की शान्ति के लिए होता है–वे अपनी तात्त्विक एवं अमोह दृष्टि से उसे हितकारी नहीं समझते।

भोग-संसार से सच्चा वैराग्य कब उत्पन्न होता है

भोग-संसार-निर्वेदो जायते पारमार्थिकः।
सम्यग्ज्ञान-प्रदीपेन तन्नैगुण्यावलोकने॥२७॥

अर्थ–भोग और संसार से वैराग्य का होना तभी पारमार्थिक बनता है, जब सम्यग्ज्ञानरूप प्रदीपक से उनमें निर्गुणता का अवलोकन किया जाता है।

व्याख्या–भोगों से और संसार से सच्चा वैराग्य कब होता है, इस बात को बतलाते हुए यहाँ यह स्पष्ट घोषणा की गयी है कि–''जब सम्यग्ज्ञानरूप दीपक से भोगों तथा संसार की निर्गुणता–निःसारता स्पष्ट दिखलाई देती है तब उनसे पारमार्थिक वैराग्य उत्पन्न होता है उक्त निर्गुणता के दर्शन बिना सच्चा वैराग्य नहीं बनता, बनावटी तथा नुमायशी बना रहता है। इसी से कितने ही भावुकतादि में आकर ब्रह्मचारी तो बनते हैं परन्तु उनसे ब्रह्मचर्य का, पूरी तौर से पालन नहीं हो पाता। जो नारी

---

१. अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे। आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थ दुःखभाजनम्॥–इष्टोपदेश टीका में उद्धृत।

के कामांग को स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में मलबीज मलयोनि, गलन्मल, पूतिगन्धि और बीभत्स इन पाँच विशेषणों से युक्त देखता, अनुभव करता और रमण के योग्य नहीं समझता वह वस्तुतः काम से अब्रह्मरूप मैथुन से घृणा कर विरक्त होकर सच्चा ब्रह्मचारी बनता है[१]।

निर्वाण में परमा भक्ति और उसके लिए कर्तव्य

निर्वाणे परमा भक्तिः पश्यतस्तद्गुणं परम्।
चित्र-दुःखमहाबीजे नष्टे सति विपर्यये॥२८॥
ज्ञानवन्तः सदा बाह्यप्रत्याख्यान-विशारदाः।
ततस्तस्य परित्यागं कुर्वते[२] परमार्थतः॥२९॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान के विपक्षी तथा नाना दुःखों के बीजभूत मिथ्याज्ञान के नष्ट होने पर निर्वाण में, उसके उत्कृष्ट गुण समूह को देखते हुए, परमभक्ति होती है। अतः जो (आत्मा से भिन्न) बाह्य पदार्थ के त्याग में प्रवीण ज्ञानीजन हैं वे उस मिथ्याज्ञान का पारमार्थिक दृष्टि से त्याग करते हैं क्योंकि वह भी वस्तुतः आत्मा से भिन्न पदार्थ है।

व्याख्या—संसार के विपक्षीभूत निर्वाण में उत्कृष्ट भक्ति तभी उत्पन्न होती है जब अनेकानेक दुःखों के बीजभूत मिथ्याज्ञान के नष्ट होने पर निर्वाण के गुणों का सम्यक् अवलोकन होता है। अतः निर्वाण के अभिलाषी ज्ञानीजनों को जो बाह्य पदार्थों के परित्याग में निपुण हैं निश्चयपूर्वक मिथ्याज्ञान को त्याग करना चाहिए, जो कि वस्तुतः आत्मा से बाह्य पदार्थ है—मिथ्यात्व के सम्बन्ध से विभावरूप में उत्पन्न होता है।

ज्ञानी पापों से कैसे लिप्त नहीं होता

न ज्ञानी लिप्यते पापैर्भानुमानिव तामसैः।
विषयैर्विध्यते ज्ञानी[३] न संनद्धः शरैरिव॥३०॥

अर्थ—ज्ञानी पापों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य अन्धकारों से व्याप्त नहीं होता। ज्ञानी विषयों से उसी प्रकार नहीं बँधता है जिस प्रकार कवच (बख्तर) पहने हुए योद्धा बाणों से नहीं बिंधता है।

व्याख्या—यहाँ उस ज्ञानी की, जिसने भोग, संसार तथा निर्वाण का यथार्थ स्वरूप भले प्रकार समझ लिया है, स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह पापों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता। जिस प्रकार कि सूर्य अन्धकार से और विषयों से उसी प्रकार बींधा नहीं जाता जिस प्रकार कि

---

१. मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सतां पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारीसः, –समीचीन धर्मशास्त्र१४३।
२. व्या कुर्वन्ते। ३. मु ज्ञानं।

कवचधारी योद्धा तीरों से बींधा नहीं जाता।

ज्ञान की महिमा का कीर्तन

अनुष्ठानास्पदं ज्ञानं ज्ञानं मोहतमोऽपहम्।
पुरुषार्थकरं ज्ञानं ज्ञानं निर्वृति-साधनम्॥३१॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान क्रिया कर्म के अनुष्ठान का आधार है, मोहान्धकार को नाश करने वाला है, पुरुष के प्रयोजन को पूरा करने वाला है और मोक्ष का साधन है।

व्याख्या—जिस ज्ञानी का पिछले पद्य में उल्लेख है उसके ज्ञान की महिमा का इस पद्य में कुछ कीर्तन करते हुए उसे चार विशेषणों से युक्त बतलाया है, जिनमें एक है अनुष्ठानों का आश्रय, आधार, दूसरा मोहान्धकार का नाश, तीसरा पुरुष के प्रयोजन का पूरक और चौथा है मुक्ति का साधन। ये सब विशेषण अपने अर्थ की स्पष्टता को लिए हुए हैं।

कौन तत्त्व किसके द्वारा वस्तुतः चिन्तन के योग्य है

विकारा निर्विकारत्वं यत्र गच्छन्ति चिन्तिते।
तत् तत्त्वं तत्त्वतश्चिन्त्यं चिन्तान्तर-निराशिभिः॥३२॥

अर्थ—जिसके चिन्तन करने पर विकार निर्विकारता को प्राप्त हो जाते हैं वह तत्त्व वस्तुतः उनके द्वारा चिन्तन के योग्य है जो अन्य चिन्ताओं का निराकरण करने में समर्थ हैं, स्थिर चित्त हैं।

व्याख्या—यहाँ वास्तव में उस तत्त्व को चिन्तन एवं ध्यान के योग्य बतलाया है जिसके चिन्तन से विकार नहीं रहते, निर्विकारता में परिणत हो जाते हैं अर्थात् राग-द्वेष-मोहादि दोष मिटकर वीतरागता की प्रादुर्भूति होती है। इस तत्त्वचिन्तन के अधिकारी वे योगी हैं जो चिन्तान्तर का निराकरण करने में समर्थ होते हैं, जिस तत्त्व का चिन्तन करते हैं उसमें अपने मन को इतना एकाग्र कर लेते हैं कि दूसरी कोई भी चिन्ता पास फटकने नहीं पाती।

परम तत्त्व कौन और उससे भिन्न क्या

विविक्तमान्तरं ज्योतिर्निराबाधमनामयम्।
यदेतत् तत्परं तत्त्वं तस्यापरमुपद्रवः॥३३॥

अर्थ—यह जो विविक्त-कर्म कलंक से रहित निर्भय और निरामय (निर्विकार) अन्तरंग (अध्यात्म) ज्योति है वह परम तत्त्व है, उससे भिन्न दूसरा और सब उपद्रव है।

व्याख्या—यहाँ जिस शुद्ध आत्मज्योति का उल्लेख है उसी को चिन्तन एवं ध्यान के योग्य परंतत्त्व बतलाया है। शेष सबको उपद्रव घोषित किया है; क्योंकि अन्तिम लक्ष्य और ध्येय इसी परंतत्त्व को प्राप्त करना है, इसकी प्राप्ति के लिए और सबको छोड़ना पड़ेगा। इसी से अन्य सबको

पारमार्थिक दृष्टि से 'उपद्रव' संज्ञा दी गयी जान पड़ती है।

मुमुक्षुओं को किसी भी तत्त्व में आग्रह नहीं करना

न कुत्राप्याग्रहस्तत्त्वे विधातव्यो मुमुक्षुभिः।
निर्वाणं साध्यते यस्मात् समस्ताग्रहवर्जितैः॥३४॥

अर्थ—जो मोक्ष के अभिलाषी हैं उन्हें (अन्य) किसी भी तत्त्व में आग्रह नहीं करना चाहिए; क्योंकि जो समस्त आग्रहों से एकान्त अभिनिवेशों से वर्जित हैं, उन्हीं के द्वारा निर्वाण सिद्ध किया जाता है।

व्याख्या—यहाँ मुमुक्षुओं को तत्त्वविषय में कहीं भी आग्रह करने का निषेध किया है; क्योंकि आग्रह एकान्त का द्योतक है और वस्तु तत्त्व अनेकान्तात्मक है। निर्वाण की प्राप्ति उन्हीं को होती है जो सम्पूर्ण आग्रहों से रहित हो जाते हैं, लिंग-जाति आदि का भी कोई आग्रह नहीं रहता। लिंग और जाति ये दोनों देहाश्रित हैं और देह ही आत्मा का संसार है। अतः जो मुक्ति की प्राप्ति के लिए अमुक लिंग (वेष) तथा अमुक ब्राह्मणादि जाति का आग्रह रखते हैं अथवा अमुक जाति वाला अमुक वेष धारण करके मुक्ति को प्राप्त होता है, ऐसा जिनके आगमानुबन्धी आग्रह है वे संसार से नहीं छूट पाते और न आत्मा के परम पद को ही प्राप्त होते हैं; जैसा कि श्री पूज्यपाद आचार्य के निम्न वाक्यों से प्रकट है—

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहः॥८७॥
जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः॥८८॥
जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥८९॥

—समाधितन्त्र

आग्रहवर्जित तत्त्व में कर्ता-कर्मादि का विकल्प नहीं

कर्ताहं निर्वृतिः कृत्यं ज्ञानं हेतुः सुखं फलम्।
नैकोऽपि विद्यते तत्र विकल्पः कल्पनातिगे॥३५॥

अर्थ—मैं कर्ता हूँ, निर्वाण कृत्य-कार्य है, ज्ञान हेतु है और सुख उसका फल है, इनमें से एक भी विकल्प उस कल्पनारहित एवं आग्रहवर्जित साधक में नहीं होता है।

व्याख्या—यहाँ समस्त आग्रह-वर्जन की बात को स्पष्ट करते हुए यहाँ तक लिखा है कि

मुक्ति के उस निर्विकल्प साधक में कर्ता, कार्य कारण और फल का भी कोई विकल्प नहीं रहता, इनमें से एक भी विकल्प के रहने पर मुक्ति की साधना नहीं बनती। मुक्ति की चरम साधन में अपने अस्तित्व को भी भुलाकर उस परंतत्त्वरूप अध्यात्म-ज्योति में लीन हो जाना होता है; जिससे बाह्य एवं भिन्न अन्य सबको पिछले एक पद्य (३३) में 'उपद्रव' बतलाया गया है।

आत्मस्थित कर्मवर्गणाएँ कभी आत्मत्व को प्राप्त नहीं होतीं।

आत्म-व्यवस्थिता यान्ति नात्मत्वं कर्मवर्गणाः।
व्योमरूपत्वमायान्ति व्योमस्थाः किमु पुद्गलाः॥३६॥

अर्थ—आत्मा में व्यवस्थित कर्मवर्गणाएँ (कभी) आत्मत्व को प्राप्त नहीं होतीं, आत्मा नहीं बन जाती। (ठीक है) आकाश में स्थित पुद्गल क्या कभी आकाशरूप हो जाते हैं, नहीं हो जाते।

व्याख्या—जिन कर्म का आत्मा से पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद होने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है वे कर्म अनेक प्रकार की वर्गणाओं के रूप में आत्म-व्यवस्थित होते हुए भी कभी आत्मत्व को प्राप्त नहीं होते, इसकी सूचना करते हुए आकाश स्थित पुद्गलों के उदाहरण-द्वारा उसे स्पष्ट किया गया है। आकाश में स्थित पुद्गल जिस प्रकार कभी आकाशरूप नहीं परिणमते उसी प्रकार आत्मा के साथ व्यवस्थित हुई कर्मवर्गणाएँ भी कभी आत्मरूप परिणत नहीं होतीं।

कर्मजन्य स्थावर विकार आत्मा के नहीं बनते

स्थावराः कार्मणाः सन्ति विकारास्तेऽपि नात्मनः।
शश्वच्छुद्धस्वभावस्य[1] सूर्यस्येव घनादिजाः॥३७॥

अर्थ—कर्मजन्य जो स्थावर विकार हैं, वे भी आत्मा के उसी प्रकार नहीं हैं, जिस प्रकार मेघादिजन्य विकार सदा शुद्ध स्वभावरूप सूर्य के नहीं हैं।

व्याख्या—यदि कोई कहे कि आत्मा में जो स्थावर विकार हैं—पृथ्वी-पर्वत-वृक्षादि के समान स्थिर रहने वाले विकार हैं, उन्हें तो आत्मा के स्वतः विकार समझना चाहिए। तो उसके समाधानार्थ यहाँ यह बतलाया गया है कि स्थावर विकार भी आत्मा के नहीं हैं किन्तु कर्मजनित हैं और उन्हें शुद्ध स्वभाव के धारक सूर्य के मेघादिजन्य विकार के समान समझना चाहिए।

जीव के रागादिक परिणामों की स्थिति

रागादयः परीणामाः कल्मषोपाधिसंभवाः।
जीवस्य स्फटिकस्येव पुष्पोपाधिभवा मताः॥३८॥

अर्थ—जीव के जो रागादिक परिणाम होते हैं, वे कषायरूप कर्ममल की उपाधि से उत्पन्न होते

---

१. व्या प्रभावस्य।

हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि स्फटिक के पुष्पों की उपाधि से उत्पन्न नाना रंगादिरूप परिणाम होते हैं, इसी से स्फटिक को 'विश्वरूप माणिक' कहा गया है।

व्याख्या—यहाँ रागादिरूप दूसरे विकारों को लिया गया है और उनके विषय में बतलाया गया है कि वे भी जीव के वास्तविक परिणाम नहीं हैं, किन्तु कषायरूप कल्मष की उपाधि से उत्पन्न स्फटिक के परिणामों के समान समझना चाहिए, जो स्फटिक के वास्तविक परिणाम नहीं होते।

जीव के कषायादिक परिणामों की स्थिति

परिणामाः कषायाद्या निमित्तीकृत्य चेतनाम्।
मृत्पिण्डेनेव कुम्भाद्यो जन्यन्ते कर्मणाखिलाः॥३८॥

अर्थ—जीव के कषायादिक जितने परिणाम हैं, वे सब चेतना को निमित्तभूत करके कर्म के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि कुम्भकार का निमित्त पाकर मिट्टी के पिण्ड द्वारा घटादिक उत्पन्न किये जाते हैं।

व्याख्या—यहाँ कषायादि परिणामों की उत्पत्ति में मूल कारण कर्म को और निमित्त कारण जीव की चेतना को बतलाया है, उसी प्रकार जिस प्रकार घटादि की उत्पत्ति में मूल (उपादान) कारण मिट्टी का पिण्ड और निमित्त कारण कुम्भकार (कुम्हार) होता है।

कषाय परिणामों का स्वरूप

आत्मनो ये परीणामाः मलतः सन्ति कश्मलाः।
सलिलस्येव कल्लोलास्ते कषाया निवेदिताः॥४०॥

अर्थ—आत्मा के जो परिणाम मल के निमित्त से मलिन होते हैं वे जल की कल्लोलों की तरह 'कषाय' कहे गये हैं।

व्याख्या—जिन कषायों का पिछले पद्य में उल्लेख है उनका इस पद्य में स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया गया है कि आत्मा के जो परिणाम (रागादि) मल के निमित्त से मलिन-कसैले होते हैं, उन्हें 'कषाय' कहते हैं। उनकी स्थिति जल में कल्लोलों के समान होती है।

कालुष्य और कर्म में से एक के नाश होने पर दोनों का नाश

कालुष्याभावतोऽकर्म कालुष्यं कर्मतः पुनः।
एकनाशे द्वयोर्नाशः स्याद् बीजाङ्कुरयोरिव॥४१॥

अर्थ—कर्म से (आत्मा में) कलुषता की उत्पत्ति और कलुषता के अभाव से कर्म का अभाव होता है। बीज और अंकुर की तरह एक का नाश होने पर दोनों का नाश बनता है।

व्याख्या—जिस मल का पिछले पद्य में उल्लेख है उसे यहाँ 'कर्म' बतलाया है, उसी से

कलुषता की उत्पत्ति होती है और कलुषता का अभाव होने पर कर्म नहीं रहता, इससे यह नतीजा निकला कि कर्म और कलुषता इन दोनों में से किसी का भी नाश होने पर दोनों का नाश हो जाता है; जैसे बीज का नाश होने पर अंकुरोत्पत्ति नहीं बनती और अंकुर का नाश हो जाने पर उससे बीजोत्पत्ति घटित नहीं होती।

कलुषता का अभाव होने पर परिणामी स्थिति

यदास्ति कलुषा (ल्मषा)भावो जीवस्य परिणामिनः।
परिणामास्तदा शुद्धाः स्वर्णस्येवोत्तरोत्तराः॥४२॥

अर्थ—जिस समय परिणामी जीव के कलुषता का अभाव होता है उस समय उसके परिणाम स्वर्ण की तरह उत्तरोत्तर शुद्ध होते चले जाते हैं।

व्याख्या—यहाँ संसारी जीव को परिणामी-एक परिणाम से दूसरे परिणामरूप परिणमन करने वाला-लिखा है। उस जीव के जब कलुषता का अभाव हो जाता है तो उसके परिणाम मल रहित सुवर्ण के समान उत्तरोत्तर शुद्धता में परिणत होते जाते हैं।

कलुषता का अभाव हो जाने पर जीव की स्थिति

कल्मषाभावतो जीवो निर्विकारो विनिश्चलः।
निर्वात-निस्तरङ्गाब्धि-समानत्वं प्रपद्यते॥४३॥

अर्थ—कल्मष के अभाव से यह जीव वायु तथा तरंग से रहित समुद्र के समान निर्विकार और निश्चल हो जाता है।

व्याख्या—कषायादिरूप कल्मष (कालुष्य) का अभाव हो जाने पर इस जीव की स्थिति उस समुद्र के समान निर्विकार और निश्चल हो जाती है जिसमें वायु का संचार नहीं और न कोई कल्लोल-तरंग या लहर ही उठती है। आत्मा की ऐसी अवस्था को ही निर्विकल्पदशा कहते हैं, जिसमें ध्यान, ध्याता, ध्येय आदि तक का कोई विकल्प नहीं रहता[१]।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप की कुछ सूचना

अक्ष-ज्ञानार्थतो भिन्नं यदन्तरवभासते।
तद्रूपमात्मनो ज्ञातृज्ञातव्यमविपर्ययम्॥४४॥

अर्थ—इन्द्रियज्ञान के विषय से भिन्न जो अन्तरंग में अवभासित होता है वह ज्ञाता के गम्य आत्मा का अभ्रान्त रूप है।

---

१. जहँ ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वचभेद न जहाँ, चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ। तीनों अभिन्न अखिन्न शुध उपयोग की निश्चल दशा, प्रकटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत ये तीनधा एकै लसा॥—छहढाला, दौलतराम।

व्याख्या—यहाँ आत्मा के उस शुद्धरूप की जो कभी विपरीतता को प्राप्त नहीं होता। कुछ सूचना करते हुए लिखा है—वह इन्द्रियज्ञान के विषय से भिन्न है किसी भी इन्द्रिय के द्वारा जाना नहीं जाता, आत्मा के अन्तरंग में अवभासमान है और ज्ञाता आत्मा के द्वारा ही जाना जाता है। इसी से स्वसंवेद्य कहा जाता है।

आत्मा की परंज्योति का स्वरूप

यत्रासत्यखिलं ध्वान्तमुद्द्योतः सति चाखिलः।
अस्त्यपि ध्वान्तमुद्द्योतस्तज्ज्योतिः[१] परमात्मनः॥४५॥

अर्थ—जिसके विद्यमान न होने पर सब अन्धकार है, और विद्यमान होने पर सब उद्योतरूप है अन्धकार भी उद्योतरूप परिणत होता है वह आत्मा की परम ज्योति है।

व्याख्या—जिस अन्तर्ज्योति तत्त्व का पिछले एक पद्य (३३) में उल्लेख है उसके विषय में यहाँ लिखा है कि यह आत्मा की वह परंज्योति है जिसके अभाव में सब कुछ अन्धकारमय है और जिसके सद्भाव में सब कुछ उद्योतरूप हैं तथा अन्धकार भी उद्योत के रूप में परिणत हो जाता है। इसी परंज्योति का जयघोष करते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है कि—इस परंज्योति में सारी पदार्थमालिका—जीवादि पदार्थों की पूर्ण सृष्टि—अपनी समस्त त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों के साथ युगपत् (एक साथ) दर्पण तल के समान प्रतिबिम्बित होती है—

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ-मालिका यत्र॥१॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

स्वस्वभाव में स्थित पदार्थों को कोई अन्यथा करने में समर्थ नहीं

सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभाव-व्यवस्थिताः।
न शक्यन्तेऽन्यथाकर्तुं ते परेण कदाचन[२]॥४६॥

अर्थ—सब द्रव्य स्वभाव से अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं वे पर के द्वारा कभी अन्यथारूप नहीं किये जा सकते।

व्याख्या—यहाँ एक बहुत बड़े अटल सिद्धान्त की घोषणा की गयी है और वह यह कि 'सब द्रव्य सदा स्वभाव से—द्रव्यदृष्टि से अपने-अपने स्वरूप में व्यवस्थित रहते हैं, उन्हें कभी कोई दूसरा द्रव्य अन्यथा करने में—स्वभाव से च्युत अथवा पररूप परिणत करने में समर्थ नहीं होता।

---

१. ब्या तद् द्योतिः। २. ब्या कथंचन।

मिलने वाले परद्रव्यों से आत्मा को अन्यथा नहीं किया जा सकता

नान्यथा शक्यते कर्तुं मिलद्भिरिव निर्मलः।
आत्माकाशमिवामूर्तः परद्रव्यैरनश्वरः॥४७॥

अर्थ—जिस प्रकार आकाश, जो कि स्वभाव से निर्मल, अमूर्त तथा अनश्वर है, मिलने वाले परद्रव्यों के द्वारा अन्यथारूप नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार निर्मल आत्मा, जो कि आकाश के समान अमूर्तिक और अविनश्वर है परद्रव्यों के मिलाप से अन्यथा स्वभावच्युत रूप नहीं किया जा सकता—जड़ (अचेतन) आदि पदार्थों के सम्बन्ध से जड़ आदिरूप परिणत नहीं होता।

व्याख्या—यहाँ पिछली बात को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया गया है और वह उदाहरण है निर्मल एवं अमूर्तिक आकाश का। आकाश में सर्वत्र परद्रव्य भरे हुए हैं; सबका आकाश के साथ सम्बन्ध है; परन्तु वे सब मिलकर भी आकाश को उसके स्वभाव से च्युत करने, उसकी निर्मलता तथा अमूर्तिकता को नष्ट करने, उसे अनश्वर से नश्वर बनाने अथवा अपने रूप परिणत करने में कभी समर्थ नहीं होते। उसी प्रकार निर्मल अमूर्तिक आत्मा भी परद्रव्यों से घिरा हुआ हैं, जड़ कर्मों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त है, परन्तु कोई भी परद्रव्य अथवा सारे परद्रव्य मिलकर भी उसको वस्तुतः अपने स्वभाव से च्युत करने चेतन से अचेतन-जड़, अमूर्तिक से मूर्तिक, निर्मल से समल, अनश्वर से नश्वर बनाने में कभी समर्थ नहीं होते।

भिन्न ज्ञानोपलब्धि से देह और आत्मा का भेद

देहात्मनोः सदा भेदो भिन्नज्ञानोपलम्भतः।
इन्द्रियैर्ज्ञायते देहो नूनमात्मा स्वसंविदा॥४८॥

अर्थ—भिन्न-भिन्न ज्ञानों से उपलब्ध (ज्ञात) होने के कारण शरीर और आत्मा का सदा परस्पर भेद है। शरीर इन्द्रियों से-इन्द्रिय ज्ञान से जाना जाता है और आत्मा निश्चय ही स्वसंवेदन ज्ञान से जानने में आता है।

व्याख्या—संसारी जीव का देह के साथ अनादि-सम्बन्ध है, स्थूल देह का सम्बन्ध कभी छूटता भी है तो भी सूक्ष्म देह जो तैजस और कार्माण नाम के शरीर हैं उनका सम्बन्ध कभी नहीं छूटता, इसी से उन्हें 'अनादिसम्बन्धे च' इस सूत्र के द्वारा अनादि से सम्बन्ध को प्राप्त कहा है। इस अनादि-सम्बन्ध के कारण बहुधा देह और आत्मा को एक समझा जाता है। परन्तु देह और आत्मा कभी एक नहीं होते, सदा भिन्नरूप बने रहते हैं और इसका कारण यह है कि—वे भिन्न ज्ञानों के द्वारा उपलब्ध होते जाने जाते हैं। इन्द्रिय ज्ञान से देह जाना जाता है और आत्मा वस्तुतः स्वसंवेदन-ज्ञान के द्वारा ही साक्षात् जानने में आता है, इन्द्रियाँ उसे जानने में असमर्थ है।

कर्म जीव के और जीव कर्म के गुणों को नहीं घातता

न कर्म हन्ति जीवस्य न जीवः कर्मणो गुणान्।
वध्य-घातकभावोऽस्ति नान्योऽन्यं जीवकर्मणोः॥४९॥

अर्थ—कर्म जीव के गुणों को और जीव कर्म के गुणों को घात नहीं करता। जीव और कर्म दोनों का परस्पर एक-दूसरे के साथ वध्य-घातक भाव नहीं है।

व्याख्या—जीव और कर्म का जो परस्पर सम्बन्ध है वह अन्धकार और प्रकाश की तरह वध्य-घातक के रूप में नहीं है, इसी से कर्म जीव के और जीव कर्म के गुणों को नहीं घातता, एक-दूसरे के स्वभाव को नष्ट करने में कभी समर्थ नहीं होता। हाँ, एक-दूसरे के विभावपरिणमन में निमित्त कारण जरूर हो सकता है, क्योंकि जीव और पुद्गल दोनों में वैभाविकी—विभावरूप परिणमन की शक्ति पायी जाती है।

जीव और कर्म में पारस्परिक परिणाम की निमित्तता न रहने पर मोक्ष

यदा प्रति परीणामं विद्यते न निमित्तता।
परस्परस्य विश्लेषस्तयोर्मोक्षस्तदा मतः॥५०॥

अर्थ—जब जीव और कर्म के परस्पर में एक-दूसरे के परिणाम के प्रति निमित्तता का अस्तित्व नहीं रहता, तब दोनों का जो विश्लेष—सर्वथा पृथकपना होता है वह 'मोक्ष' माना गया है।

व्याख्या—जीव और पुद्गल कर्म का विभाव-परिणमन एक-दूसरे के निमित्त से होता है, जिस समय यह निमित्तता नहीं रहती, मिथ्यादर्शनादि बन्ध-हेतुओं का अभाव होने से सदा के लिए समाप्त हो जाती है, उसी समय जीव और कर्म का विश्लेष-सर्वथा पृथक्त्व हो जाता है, जिसे 'मोक्ष' (निर्वाण) कहा गया है और जो बन्ध का विपरीतरूप हैं।

युक्त भाव के साथ आत्मा की स्फटिक सम तन्मयता

[१]येन येनैव भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः।
तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणियथा ॥५१॥

अर्थ—यह यन्त्रवाहक जीवात्मा जिस-जिस भाव के साथ युक्त होता है उस-उस भाव के साथ वहाँ तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि विश्वरूपधारी स्फटिक मणि।

व्याख्या—'यन्त्रवाहक' शब्द देहधारी जीवात्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो कि देह का

---

१. जेण सरूविं झाइयइ अप्पा ए हु अणंतु। तेण सरूविं परिणवइ जह फलिहउ-मणिमंतु॥ परमात्म प्रकाश २-१७३। येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्। तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा। तत्त्वानु.१९१। येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः। तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा। ज्ञानार्णव, योगशास्त्र।

संचालन करता है और जिसके चले जाने पर देह अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होता। चूँकि देह एक यन्त्र के कल अथवा मशीन के समान है। यह जीव की एक खास संज्ञा है जिसकी कोशों में आमतौर पर उपलब्धि नहीं होती। और 'विश्वरूप' संज्ञा यहाँ स्फटिकमणि को दी गयी है, क्योंकि वह विश्व के सभी पदार्थों के रंगरूप में परिणत होने की योग्यता रखता है। इस स्फटिक के उदाहरण-द्वारा जीवात्मा की पर पदार्थ के साथ तन्मयता की तद्रूप परिणमन की बात को स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार स्फटिकमणि जिस-जिस रंग रूप की उपाधि के साथ सम्बन्ध करता है उस-उस रंग रूप की उपाधि के साथ तन्मयता (तद्रूपता) को प्राप्त होता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी आत्मा को जिस भाव के साथ जिस रूप में ध्याता है उसके साथ वह उसी रूप तन्मता को प्राप्त होता है। इससे विवक्षित तन्मयता स्पष्ट होती है, जो कि तादात्म्य-सम्बन्ध के रूप में नहीं है।

आत्मा को आत्मभाव के अभ्यास में लगाना आवश्यक

[१]तेनात्मभावनाभ्यासे स नियोज्यो विपश्चिता।
येनात्ममयतां[२] याति निर्वृत्यापरभावतः॥५२॥

अर्थ—चूँकि आत्मा परभाव से निर्वृत होकर ही आत्मरूपता को प्राप्त होता है इसलिए विद्वान् के द्वारा आत्मा (सदा) आत्मभावना के अभ्यास में लगाने के योग्य है।

व्याख्या—आत्मा के उक्त तन्मयतारूप परिणाम-स्वभाव की दृष्टि से यहाँ विद्वान् का कर्तव्य परभाव की भावना को छोड़कर अपने को आत्मभावना के अभ्यास में लगाने का बतलाया गया है, जिससे आत्मा में तन्मयता की उपलब्धि-वृद्धि हो सके। आत्मभावना के अभ्यास को जितना अधिक बढ़ाया जायेगा, परभावों से उतना ही छुटकारा होता जायेगा। और परभावों (पदार्थ) में जितना अधिक मन को लगाया जायेगा उतना ही आत्मभावना का अभ्यास दूर होकर आत्मा में तन्मयता को प्राप्त करना दुर्लभ हो जायेगा। अतः पर-पदार्थों से सम्बन्ध कम करके आत्मभावना के अभ्यास को बढ़ाना ही श्रेयस्कर (कल्याणकारी) है।

कर्ममल से पूर्णतः पृथक् हुआ आत्मा फिर उस मल से लिप्त नहीं होता

युज्यते रजसा नात्मा भूयोऽपि विरजीकृतः।
पृथक्कृतं कुतः स्वर्णं पुनः किट्टेन[३] युज्यते॥५३॥

अर्थ—जो आत्मा कर्ममल से (पूर्णतः) पृथक् किया गया है वह फिर कर्ममल से लिप्त नहीं होता। (ठीक है) किट्ट से पृथक् किया गया स्वर्ण फिर किस हेतु किट्ट से युक्त होता है? हेत्वभाव के कारण युक्त नहीं होता।

व्याख्या—जो आत्मा आत्मभावना के अभ्यास द्वारा परभाव को छोड़ता हुआ अपने में तन्मय

---

१. मु येनात्मभावनाभ्यासे। २. मु तेनात्ममयतां। ३. मु कीटेन।

(लीन) होता है और इस तरह कर्ममल से छुटकारा पाता है वह फिर कभी उस कर्ममल के साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि किट्ट-कालिमा से पृथक् हुआ सुवर्ण फिर उस किट्ट-कालिमा के साथ युक्त नहीं होता।

घटोपादान-मृत्तिका के समान कर्म का उपादान कलुषता

दण्ड-चक्र-कुलालादि-सामग्री सम्भवेऽपि नो।
संपद्यते यथा कुम्भो विनोपादानकारणम्॥५४॥
मनो-वचो-वपुःकर्म-सामग्रीसंभवेऽपि नो।
संपद्यते तथा कर्म विनोपादानकारणम्॥५५॥
कालुष्यं कर्मणो ज्ञेयं सदोपादानकारणम्।
मृद्द्रव्यमिव कुम्भस्य जायमानस्य योगिभिः॥५६॥

अर्थ—जिस प्रकार दण्ड, चक्र और कुम्भकार आदि सामग्री के मौजूद होते हुए भी बिना उपादान कारण (मृत्पिण्ड) के कुम्भ (घट) की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार मन-वचन-काय के क्रियारूप सामग्री के होते हुए भी बिना उपादान कारण के कर्म की उत्पत्ति नहीं होती। कर्म का उपादान कारण कलुषता है उसी प्रकार जिस प्रकार कि मिट्टी से उत्पन्न होने वाले घट का उपादान कारण मृत्तिका द्रव्य है, यह योगियों को सदा जानना चाहिए।

व्याख्या—मिट्टी के घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी उपादान कारण है उसके अभाव में अन्य सब सामग्री (दण्ड-चक्र-कुलालादि) का सद्भाव होते हुए भी जिस प्रकार मिट्टी का घड़ा नहीं बनता, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म की उत्पत्ति का उपादान कारण कालुष्य—कषायभाव है, उसके अभाव में मन-वचन-काय की क्रियारूप अन्य सब सामग्री का सद्भाव होते हुए भी आत्मा को कर्मबन्ध की प्राप्ति नहीं होती, यह बात सदा ध्यान में रखने योग्य है। अतः जो मुमुक्षु योगी अपने को कर्मबन्धन से छुड़ाकर मोक्ष की प्राप्ति कराना चाहते हैं उन्हें सदा कर्म के उपादानकारण कषाय भाव को दूर रखने का यत्न करना चाहिए, उसके दूर किये बिना अन्य सब क्रियाकाण्ड से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अन्य सब सामग्री तभी सहायकरूप में अपना काम कर सकेगी जब कलुषता का अभाव होगा। यदि कलुषता दूर नहीं की जाती तो समझना चाहिए कि कर्म का बन्ध बराबर हो रहा है और ऐसी स्थिति में मुक्ति की आशा रखना व्यर्थ है।

कषायादि करता हुआ जीव कैसे कषायादिरूप नहीं होता

यथा कुम्भमयो जातु कुम्भकारो न जायते।
सहकारितया कुम्भं कुर्वाणोऽपि कथंचन॥५७॥

कषायादिमयो जीवो जायते न कदाचन।
कुर्वाणोऽपि कषायादीन् सहकारितया तथा॥५८॥

अर्थ—सहकारिता के साथ कुम्भ को करता हुआ भी कुम्भकार जिस प्रकार कभी कुम्भरूप नहीं होता, उसी प्रकार सहकारिता के साथ कषायादि को करता हुआ भी यह जीव कभी कषायादिरूप नहीं होता।

व्याख्या—यहाँ यदि कोई यह आशंका करे कि कषायों आदि को करता हुआ जीव तो कषायादिमय हो जाता है, कषायादि उसका स्वभाव बन जाता है तब कषायों का छूटना कैसे बन सकता है? तो उसके समाधान में ही इन दोनों पद्यों का अवतार हुआ जान पड़ता है। इनमें स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार सहकारीरूप से कुम्भ को बनाता हुआ कुम्हार किसी तरह कुम्भरूप नहीं हो जाता उसी प्रकार यह जीव भी सहकारीरूप से कषायों को करता हुआ कभी भी कषायादि के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध को प्राप्त कषायादिरूप नहीं हो जाता। कषायादि जितने परिणाम हैं वे सब जीव की चेतना को निमित्तभूत करके कर्म के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, यह बात पिछले ३९ वें पद्य में बतलायी जा चुकी है। इसलिए कषाय की उत्पत्ति में जीव निमित्तकारण है—उपादानकारण नहीं, उपादान कारण द्रव्यकर्मरूप पुद्‌गल है और इसीलिए कषायों को 'पौद्‌गलिक' कहा गया है। कुम्भकार यदि कुम्भ के निर्माण में अपना सहयोग न दे तो कुम्भ का निर्माण नहीं होता, मिट्टी उसे सहयोग के लिए बाध्य नहीं करती। इस तरह कषाय का उदय आने पर यदि जीव उसके साथ सहयोग न करे, राग-द्वेषादिरूप परिणत न हो तो नये कषाय कर्म का उत्पाद नहीं होता और कर्म का उदय जीव को कषायकर्म करने के लिए बाध्य नहीं करता, वह उसको करने न करने में स्वतन्त्र है, तभी वह कषायों के बन्धनों को दूर करने में समर्थ हो सकता है और इसी से उसे कषायरूप परिणत न होने का उपदेश दिया जाता है। कषायों का जीव के साथ तादात्म्य हो जाने पर तो फिर कभी भी उनसे छुटकारा नहीं हो सकता और न मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है और इसलिए जीव का कषायों की उत्पत्ति में कुम्भकार की तरह सहकारी निमित्तरूप-जैसा सम्बन्ध है उपादान कारण के रूप में नहीं, यह भले प्रकार समझ लेना चाहिए।

सर्व कर्मों का कर्ता होते हुए कौन निराकर्ता होता है

यः कर्म मन्यते कर्माकर्म वाकर्म सर्वथा।
स सर्वकर्मणां कर्ता निराकर्ता च जायते॥५९॥

अर्थ—जो कर्म को सर्वथा कर्म और अकर्म को सर्वथा अकर्म के रूप में मानता है, कर्म को अकर्म और अकर्म को कर्म समझने की कभी भूल नहीं करता, वह सर्वकर्मों का कर्ता होते हुए भी (एक दिन) उनका निराकर्ता—उन्हें त्याग करने वाला हो जाता है।

व्याख्या—जो कर्म-अकर्म का ठीक स्वरूप समझता है और उस स्वरूप के विपरीत कभी उन्हें अपनी श्रद्धा का विषय नहीं बनाता वह कर्म के करने तथा अकर्म को छोड़ने में रागद्वेषरूप से प्रवृत्त नहीं होता, सदा उनमें अनासक्त बना रहता है और इसलिए सब कर्मों का कर्ता होते हुए भी वह एक दिन उन्हें छोड़ने में समर्थ होता है अथवा अनासक्ति के कारण कर्म के बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

विषयस्थ होते हुए भी कौन लिप्त नहीं होता

विषयैर्विषयस्थोऽपि निरासङ्गो न लिप्यते।
कर्दमस्थो विशुद्धात्मा स्फटिकः कर्दमैरिव॥६०॥

अर्थ—जो निःसंग है–निर्ममत्व और अनासक्त है वह विषयों में स्थित हुआ भी विषयों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार कीचड़ में पड़ा विशुद्ध स्फटिक कीचड़ से लिप्त नहीं होता–कीचड़ को अपना नहीं बनाता, अपने अन्तरंग में प्रविष्ट नहीं करता।

व्याख्या—यहाँ कर्दमस्थ निर्मल स्फटिक के उदाहरण द्वारा विषयों में स्थित अनासक्त योगी के विषयों से लिप्त न होने की बात को स्पष्ट किया गया है।

देह-चेतन के तात्त्विक भेद-ज्ञाता की स्थिति

देहचेतनयोर्भेदो दृश्यते येन तत्त्वतः।
न सङ्गो जायते तस्य विषयेषु कदाचन[१]॥६१॥

अर्थ—जिसने वस्तुतः देह और चेतन आत्मा का भेद देख लिया है उसका विषयों में कभी संगसम्बन्ध अथवा अनुराग नहीं होता।

व्याख्या—पिछले पद्य में जिस निःसंग–योगी का उल्लेख है उसके विषय को यहाँ कुछ स्पष्ट करते हुए यह सूचित किया है कि वह योगी देह और आत्मा के भेद को तात्त्विक दृष्टि से भले प्रकार समझे हुए होता है और इसलिए उसकी विषयों में कभी आसक्तिरूप प्रवृत्ति नहीं होती, वह उनसे अलिप्त रहता है। जिसकी प्रवृत्ति पायी जाती है समझ लेना चाहिए उसने देह और चेतन के भेद को दृष्टिगत नहीं किया।

जीव के त्रिविध-भावों की स्थिति और कर्तव्य

भावः शुभोऽशुभः शुद्धस्त्रेधा जीवस्य जायते।
यतः पुण्यस्य पापस्य निर्वृतेरस्ति[२] कारणम्॥६२॥
ततः शुभाशुभौ हित्वा शुद्धं भावमधिष्ठितः।
निर्वृतो जायते योगी कर्मागमनिवर्तकः॥६३॥

१. व्या कदाचनः। २. मु निर्वैव।

अर्थ—जीव का भाव तीन प्रकार का होता है–शुभ, अशुभ और शुद्ध। चूँकि शुभभाव पुण्यका, अशुभभाव पाप का और शुद्धभाव निर्वृत्ति (मुक्ति) का कारण है अतः जो योगी कर्मों के आस्रव का निरोधक है वह शुभ अशुभ भावों को छोड़कर शुद्धभाव में अधिष्ठित हुआ मुक्ति को प्राप्त होता है।

व्याख्या—यहाँ जीव के भावों के शुभ, अशुभ और शुद्ध ऐसे तीन भेद करते हुए उन्हें क्रमशः पुण्य, पाप तथा निवृत्ति (मुक्ति) का हेतु बतलाया है और साथ ही यह सूचित किया है कि जो योगी शुभ-अशुभ भावों को छोड़कर, जो कि कर्मास्रव के हेतु हैं, शुद्धभाव में स्थित होता है वह कर्मों के आस्रव का निवर्तक निरोधक होता है और मुक्ति को प्राप्त करता है।

निरस्ताखिल कल्मष योगी का कर्तव्य

विनिवृत्या(वर्त्या)र्थतश्चित्तं विधायात्मनि निश्चलम्।
न किंचिचिन्तयेद्योगी निरस्ताखिलकल्मषः॥६४॥

अर्थ—जिस योगी ने सारे कल्मष का कषायभाव का नाश किया है वह चित्त को सब पदार्थों से हटाकर और आत्मा में निश्चल करके कुछ भी चिन्तन न करे, आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही उसके ध्यान में स्थिर रहे।

व्याख्या—यहाँ उस योगी के कर्तव्य का निर्देश है जिसने क्रोधादि सारे कषायभाव को नष्ट किया है, उसे तब अपने चित्त को बाह्य पदार्थों से हटाकर तथा आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर करके चिन्तन का कुछ भी कार्य न करना चाहिए—आत्मा में केवल लीनता ही बनी रहे।

इन्द्रिय-विषयों के स्मरणकर्ता की स्थिति

स्वार्थ-व्यावर्तिताक्षोऽपि विषयेषु दृढ-स्मृतिः।
सदास्ति दुःस्थितो दीनो लोक-द्वय-विलोपकः॥६५॥

अर्थ—जो इन्द्रिय-विषयों में दृढ़स्मृति है, विषयों को बराबर स्मरण करता रहता है-वह इन्द्रियों को उनके विषयों से अलग रखता हुआ भी सदा दुःखित दीन और दोनों लोकों का बिगाड़ने वाला होता है।

व्याख्या—यहाँ इन्द्रिय-विषयों के स्मरण-दोष को बहुत ही हानिकारक बतलाया है और उसकी मौजूदगी में इन्द्रियों को उनके विषय से अलग रखने का कुछ मूल्य नहीं रहता, ऐसा सूचित किया है। उक्त स्मरण दोष के कारण इन्द्रियों की विजय ठीक नहीं बनती, उसमें अतिचारादि दोष लगता रहता है और संक्लेश परिणामों की सृष्टि होने से योगी सदा दुःखित रहता, दीनता पर उतरता और इस तरह अपने दोनों लोक बिगाड़ता है। अतः योगी को अपने पूर्व भोगों का स्मरण तथा आगामी भोगों का निदानादि के रूप में अनुचिन्तन नहीं करना चाहिए।

भोग को न भोगने-भोगने वाले किन्हीं दो की स्थिति

भोगं कश्चिदभुञ्जानो भोगार्थं कुरुते क्रियाम्।
भोगमन्यस्तु भुञ्जानो भोगच्छेदाय शुद्धधीः॥६६॥

अर्थ—कोई भोग को न भोगता हुआ भी भोग के लिए क्रिया करता है, दूसरा शुद्ध बुद्धि भोग को भोगता हुआ भी भोग के छेद का प्रयत्न करता है।

व्याख्या—यहाँ भोग को भोगने वाले और न भोगने वाले किन्हीं दो व्यक्तियों के विपरीतविचार-भेद को दर्शाया गया है, एक किसी बन्धन अथवा मजबूरी के कारण भोग को न भोगता हुआ भी उसके लिए रागादिरूप मन-वचन-काय की क्रिया करता है और दूसरा भोग को भोगता हुआ भी उसमें आसक्ति नहीं रखता और इसलिए उसके मन-वचन-काय का व्यापार एक दिन उसे छोड़ देने की ही ओर होता है। अपने इस विचार व्यापार के कारण दूसरे को 'शुद्ध-बुद्धि' कहा गया है और इसलिए पहले को, जो बाह्य में भोग का त्याग करता हैं तथा अन्तरंग में उसकी लालसा रखता है, शुद्ध बुद्धि नहीं कहा जा सकता, उसे दुर्बुद्धि तथा विवेकहीन समझना चाहिए। अपनी इस दुर्बुद्धि के कारण वह भोग का त्यागी होने पर भी पाप का बन्ध करता है, जबकि दूसरा अपनी शुद्ध बुद्धि के कारण भोग को भोगता हुआ भी पापफल का भागी नहीं होता। दोनों की प्रवृत्ति में तद्विपरीत विचार के कारण कितना अन्तर है उसे यहाँ स्पष्ट जाना जाता हैं।

इन्द्रिय-विषयों के स्मरण-निरोधक की स्थिति

स्वार्थ-व्यावर्तित्ताऽक्षोपि निरुद्धविषय-स्मृतिः।
सर्वदा सुस्थितो जीवः परत्रेह च जायते॥६७॥

अर्थ—जिसने इन्द्रियों को अपने विषय से अलग किया है और जो विषयों की स्मृति को भी रोके रखता है, पूर्व भोगे गये भोगों का कभी स्मरण नहीं करता और न उन्हें फिर से भोगने की इच्छा ही करता है, वह जीव इहलोक तथा परलोक में सदा सुखी होता है।

व्याख्या—यहाँ उस जीव को इस लोक तथा परलोक में सदा सुस्थित एवं सुखी बतलाया है जो अपनी इन्द्रियों को उनके विषय से अलग ही नहीं रखता किन्तु पूर्व में भोगे तथा आगे को भोगे जानेवाले विषयों का स्मरण भी नहीं करता।

भोग को भोगता हुआ कौन बन्ध को प्राप्त होता है कौन नहीं?

रागी भोगमभुञ्जानो बध्यते कर्मभिः स्फुटम्।
विरागः कर्मभिर्भोगं भुञ्जानोऽपि न बध्यते॥६८॥

अर्थ—जो रागी है वह भोग को न भोगता हुआ भी सदा कर्मों से बँधता है और जो वीतरागी है वह भोग को भोगता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता, यह सुनिश्चित है।

व्याख्या—यहाँ पिछले ६६ वें पद्य के विषय को कुछ स्पष्ट किया गया है और यह बतलाया गया है कि भोग का न भोगने वाला यदि भोगों में राग रखता हैं तो वह अवश्य कर्म से बन्ध को प्राप्त होता है और जो भोग को भोगता हुआ भी उसमें राग नहीं रखता, किसी मजबूरी, अशक्ति अथवा परवशता के कारण उसे भोगता है, वह कर्म बन्ध से अलिप्त रहता है।

विषयों को जानता हुआ ज्ञानी बन्ध को प्राप्त नहीं होता

विषयं पञ्चधा ज्ञानी बुध्यमानो न बध्यते।
त्रिलोकं केवली किं न जानानो बध्यतेऽन्यथा॥६९॥

अर्थ—जो ज्ञानी है वह पाँच प्रकार के इन्द्रिय-विषय को जानता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता। अन्यथा त्रिलोक को जानने वाला केवलज्ञानी बन्ध को क्यों नहीं प्राप्त होता? यदि विषयों को जानने से बन्ध हुआ करता तो केवली भगवान भी बन्ध को प्राप्त होता।

व्याख्या—यहाँ इस बात को एक सुन्दर उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है कि—पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जानने मात्र से कोई ज्ञानी बन्ध को प्राप्त नहीं होता। यदि विषयों को जानने मात्र से भी बन्ध की प्राप्ति हुआ करती तो तीन लोक के ज्ञाता केवली भगवान् भी बन्ध को प्राप्त हुआ करते। परन्तु ऐसा नहीं है अतः विषयों को जानने मात्र से बन्ध की प्राप्ति नहीं होती, बन्ध की प्राप्ति में कारण तद्विषयक राग-द्वेषादि भाव है। वह यदि नहीं तो बन्ध भी नहीं और इसलिए पिछले जिन पद्यों (६५ आदि) में भोगों की स्मृति का उल्लेख है वह मात्र ज्ञानात्मक स्मृति न होकर रागात्मक स्मृति है, इसी से उसे दूषित ठहराया हैं।

महामूढ़ इन्द्रिय-विषयों को न ग्रहण करता हुआ भी बन्धकर्ता

विमूढो नूनमक्षार्थमगृह्णानोऽपि बध्यते।
एकाक्षाद्या निबध्यन्ते विषयाग्रहिणो न किम्॥७०॥

अर्थ—जो विमूढ़ है—विवेकहीन महा अज्ञानी है वह निश्चय से इन्द्रिय-विषय को ग्रहण न करता हुआ भी बन्ध को प्राप्त होता है। (ठीक है) एकेन्द्रियादिक जीव जो (स्वभिन्न) विषयों को ग्रहण करने वाले नहीं वे क्या बन्ध को प्राप्त नहीं होते? होते ही हैं।

व्याख्या—पिछले पद्य में विषयों को जानने वाले ज्ञानी की बात कही गयी है, यहाँ उस महा अज्ञानी की बात को लिया गया हैं जो विषयों को कुछ जानता तथा समझता ही नहीं, तब क्या वह इन्द्रिय-विषयों को न ग्रहण करता हुआ बन्ध को प्राप्त नहीं होता? उत्तर में कहा गया है कि वह विमूढ़ विषयों को न ग्रहण करता हुआ भी बन्ध को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि एकेन्द्रियादि जीव अपने विषय से भिन्न विषय को ग्रहण न करते हुए भी निश्चितरूप से बन्ध को प्राप्त होते हैं—उनका अज्ञानादि भाव उन्हें बन्ध का पात्र बनाता है। अतः जो लोग अज्ञान के कारण

दोष करके अपने को दोषमुक्त समझते हों वे भूलते हैं, अज्ञान किसी को दोषमुक्त नहीं करता-यह दूसरी बात है कि ज्ञातभाव से किये हुए कर्म की अपेक्षा, अज्ञात भाव से किये हुए कर्म के फल में कुछ अन्तर जरूर होता है।

किसका प्रत्याख्यानादि कर्म व्यर्थ है

राग-द्वेष-निवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा।
राग-द्वेष-प्रवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा॥७१॥

अर्थ—जो राग-द्वेष से रहित योगी हैं उसके प्रत्याख्यानादिक कर्म व्यर्थ हैं और जो राग-द्वेष में प्रवृत्त है उसके प्रत्याख्यानादि कर्म का कोई अर्थ नहीं, वह सब निरर्थक है।

व्याख्या—जो राग-द्वेष से निवृत्त हो गया है और जो राग-द्वेष में प्रवृत्त है दोनों के प्रत्याख्यानादि कर्म-क्रियाओं को यहाँ व्यर्थ अकार्यकारी एवं निरर्थक बतलाया हैं। प्रत्याख्यानादि कर्म षडावश्यक कर्मों के अन्तर्गत हैं, जिनका वर्णन संवराधिकार में पद्य नं० ४७ से ५३ तक दिया है, उनमें से आदि शब्द के द्वारा यहाँ शेष सभी का अथवा मुख्यत: सामायिक, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग का ग्रहण हैं। ये सब कर्म राग-द्वेष की निवृत्ति एवं संवर के लिए किये जाते हैं अत: जो राग-द्वेष से निवृत्त हो चुका उसके लिए इन कर्मों के करने की जरूरत नहीं रहती और इसलिए इनका करना उसके लिए व्यर्थ है। और जो राग-द्वेषादि में प्रवृत्त है, खूब रचा-पचा है, राग-द्वेष जिससे छूटते नहीं उसके लिए भी इन कर्मों का करना व्यर्थ है; क्योंकि जब इन कर्म का लक्ष्य ही उसके ध्यान में नहीं और प्रवृत्ति उलटी चल रही है तब इन कर्मों को जाब्तापूरी अथवा यान्त्रिकचारित्र (जड़ मशीनों जैसे आचरण) के रूप में करने से क्या लाभ? कुछ भी लाभ न होने से वे व्यर्थ ठहरते हैं।

दोषों के प्रत्याख्यान से कौन मुक्त है

सर्वत्र य: सदोदास्ते न च द्वेष्टि न रज्यते।
प्रत्याख्यानादतिक्रान्त: स दोषाणामशेषत:॥७२॥

अर्थ—जो किसी वस्तु में राग नहीं करता, द्वेष नहीं करता और सर्वत्र उदासीन भाव से रहता है वह दोषों के प्रत्याख्यान कर्म से पूर्णत: विमुक्त है, उसे नियमत: उस कर्म के करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

व्याख्या—जो योगी किसी से राग नहीं करता, द्वेष भी नहीं करता, सदा सर्वत्र उदासीन भाव से रहता है वह दोषों के प्रत्याख्यानों की सीमा से पूर्णत: बाह्य होता है, उसके लिए प्रत्याख्यान का करना कोई आवश्यक नहीं। ऐसा योगी क्षीणमोह को प्राप्त प्राय: १२वें, १३वें, १४वें गुणस्थानवर्ती होता है। पिछले पद्य में जिस राग-द्वेष-निवृत्त योगी का उल्लेख है वह भी प्राय: क्षीणमोही योगी से ही सम्बन्ध रखता है।

दोषों के विषय में रागी-वीतरागी की स्थिति

रागिणः सर्वदा दोषाः सन्ति संसारहेतवः।
ज्ञानिनो वीतरागस्य न कदाचन ते पुनः॥७३॥

अर्थ—रागी (अज्ञानी) के संसार के कारणीभूत सदा सर्वदोष होते है; किन्तु ज्ञानी वीतरागी के वे दोष कदाचित् भी नहीं होते।

व्याख्या—यहाँ साररूप में यह बतलाया गया है कि जो रागी-अज्ञानी है उसके संसार के हेतुभूत सभी दोषों का होना सम्भव है और जो ज्ञानी-वीतरागी है उसके संसार के हेतुभूत वे दोष कभी नहीं बनते।

औदयिक और पारिणामिक भावों का फल

जीवस्यौदयिको भावः समस्तो बन्ध कारणम्।
विमुक्तिकारणं भावो जायते पारिणामिकः॥७४॥

अर्थ—जीव का जो औदयिक भाव-कर्मों के उदय निमित्त से उत्पन्न होने वाला परिणाम है वह सब बन्ध का कारण है, मुक्ति का कारण, पारिणामिक भाव होता है।

व्याख्या—यहाँ पूर्वबन्ध-कथन के सिलसिले में जीव के सारे औदयिकभाव को-औदयिक भावों के समूह को बन्ध का हेतु बतलाया है। यह कथन रागी जीव से सम्बन्ध रखता है; क्योंकि ज्ञानी वीतरागी का कोई कर्म पिछले पद्यानुसार बन्ध का कारण नहीं होता। अर्हन्तों के कुछ कर्मों का उदय बना रहने से जो औदयिकभाव होता है वह पूर्णतः वीतरागी हो जाने से बन्ध का कारण नहीं रहता। पारिणामिकभावों को यहाँ मुक्ति का हेतु बतलाया है, जिसमें जीवत्व और भव्यत्व ये दो भाव आते हैं। अभव्यत्व तो भव्यत्व का प्रतिपक्षी है इसलिए उसको यहाँ ग्रहण नहीं किया जाता।

विषयानुभव और स्वात्मानुभव में उपादेय कौन

विषयानुभवं बाह्यं स्वात्मानुभवमान्तरम्[१]।
विज्ञाय प्रथमं हित्वा स्थेयमन्यत्र सर्वतः॥७५॥

अर्थ—इन्द्रिय विषयों का जो अनुभव है वह बाह्य (सुख) है और स्वात्मा का जो अनुभव है वह अन्तरंग (सुख) है, इस बात को जानकर बाह्य-विषयानुभव को छोड़कर स्वात्मानुभवरूप अन्तरंग में पूर्णतः स्थित होना चाहिए।

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया गया है कि इन्द्रिय विषयों का जो अनुभव न हो वह तो बाह्य की वस्तु है, बाह्य सुख है जो स्थिर रहने वाला नहीं और अपनी आत्मा का जो अनुभवन है वह

---

१. आ व्या बाह्यमात्मानुभवमांतरं।

अन्तरंग की वस्तु है, सदा स्थिर रहने वाला आध्यात्मिक सुख है अतः इस तत्त्व को जानकर विषयानुभवन के त्यागपूर्वक स्वात्मानुभव में पूर्णतः स्थिर होना चाहिए। यही परमहितरूप है।

वैषयिक ज्ञान सब पौद्गलिक

ज्ञानं वैषयिकं पुंसः सर्वं पौद्गलिकं मतम्।
विषयेभ्यः परावृत्तमात्मीयमपरं पुनः॥७६॥

अर्थ—जीव का जितना वैषयिक (इन्द्रियजन्य) ज्ञान है वह सब पौद्गलिक माना गया है और दूसरा जो ज्ञान विषयों से परावृत है—इन्द्रियों की सहायता से रहित है वह सब आत्मीय है।

व्याख्या—यहाँ इस जीव के इन्द्रिय-विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले सारे ज्ञान को 'पौद्गलिक बतलाया है और जो ज्ञान इन्द्रियविषयों की सहायता से रहित अतीन्द्रिय है वह आत्मीय है—आत्मा का निजरूप है। अतः इन्द्रियजन्य पराधीन ज्ञान वास्तव में अपना नहीं और इसलिए वह त्याज्य है।

मानवों में बाह्यभेद के कारण ज्ञान में भेद नहीं होता

गवां यथा विभेदेऽपि क्षीरभेदो न विद्यते।
पुंसां तथा विभेदेऽपि ज्ञानभेदो न विद्यते॥७७॥

अर्थ—जिस प्रकार गायों में (काली पीली धौली आदि का) भेद होने पर भी दूध में, दूध के रंग में, कोई भेद नहीं होता उसी प्रकार पुरुषों के—मानवों के (रंगरूपादि-सम्बन्धी) भेद के होने पर भी ज्ञान का भेद नहीं होता।

व्याख्या—गायें धौली, पीली, नीली, काली, गोरी, चितकबरी आदि अनेक रंगभेद को लिए हुए होती हैं। सींग के भेदों से भी उनमें भेद होता है, किसी के सींग छोटे, किसी के बड़े, किसी के सीधे, किसी के मुड़े और किसी के गोलगेंडली मारे हुए होते हैं और भी शरीर भेद होते हैं, इस विभेद के कारण उनके दूध में जैसे भेद नहीं होता अर्थात् धौली का धौला, पीली का पीला, नीली का नीला और काली का काला दूध नहीं होता—सबका दूध प्रायः एक ही सफेद रंग का होता है; वैसे ही मनुष्यों में भी परस्पर अनेक भेद पाये जाते हैं, कोई गोरा है कोई साँवला, कोई काला है कोई गन्दुमी रंग का, किसी का चेहरा गोल है किसी का लम्बोतरा, किसी की गर्दन छोटी है किसी की लम्बी, किसी की सीधी है और किसी की टेढ़ी है, कोई बुड्ढा कोई लंगड़ा है, कोई काना है कोई अन्धा है, कोई गूंगा हैं कोई बहरा है, किसी के बाल काले हैं तो किसी के सफेद या भूरे इत्यादि शरीर भेद स्पष्ट देखने में आता है, इसी प्रकार कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई शूद्रादि जाति-भेद को लिए हुए हैं। इस सारे बाह्यभेद के कारण मनुष्यों के ज्ञान में कोई भेद नहीं होता—जो ज्ञान एक अच्छे गोरे रंग सुन्दर आकार के मनुष्य को प्राप्त होता है वह काले कुरूप तथा विकलांगी को भी प्राप्त होता है तथा हो सकता है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की गर्दन टेढ़ी थी इसी से वे 'वक्रग्रीव' कहलाते थे परन्तु कितने महामति थे। यह

उनके ग्रन्थों से जाना जाता है। अष्टावक्र ऋषि के शरीर में आठ वक्रताएँ थीं वे भी बहुत बड़े ज्ञानी सुने जाते हैं। भगवन् जिनसेनाचार्य ने अपने विषय में स्वयं लिखा है कि वे यद्यपि अतिसुन्दराकार और अतिचतुर नहीं थे, फिर भी सरस्वती उन पर मुग्ध थी और उसने अनन्य शरण होकर उनका आश्रय लिया था।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि शरीरादि का कोई बाह्यभेद ज्ञान में भेद उत्पन्न नहीं करता। ज्ञान आत्मा का निजगुण हैं और इसलिए वह सभी समानरूप से विकसित आत्माओं में समान रहता है। उसके विकार तथा न्यूनाधिकता का कारण संसारी जीवों के साथ लगा कर्ममल है।

किस ज्ञान से ज्ञेय को जानकर उसे त्यागा जाता है

[1]विज्ञाय दीपतो द्योत्यं यथा दीपो व्यपोह्यते।
विज्ञाय ज्ञानतो ज्ञेयं तथा ज्ञानं व्यपोह्यते॥७८॥
स्वरूपमात्मनः सूक्ष्ममव्यपदेश(श्य)मव्ययम्[2]।
तत्र ज्ञानं परं सर्वं वैकारिकमपोह्यते॥७९॥

अर्थ—जिस प्रकार दीपक से द्योत्य (प्रकाशनीय वस्तु) को जानकर दीपक को द्योत्य से अलग किया जाता है उसी प्रकार ज्ञान से ज्ञेय को जानकर ज्ञान को ज्ञेय से अलग किया जाता है। जो ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, सूक्ष्म है, व्यपदेशरहित अथवा वचन के अगोचर है उसका व्यपोहन–त्याग अथवा पृथक्करण नहीं होता, उससे भिन्न जो वैकारिक–इन्द्रियों आदि द्वारा विभाव परिणत ज्ञान है उसको दूर किया जाता है।

व्याख्या—दीपक जिस वस्तु का द्योतन–प्रकाशन करता है, उसे 'द्योत्य' कहते हैं। दीपक के प्रकाश की सहायता से जब किसी अन्धेरे में स्थित वस्तु को देखकर जान लिया तथा प्राप्त कर लिया जाता है तब फिर दीपक की जिस प्रकार जरूरत नहीं रहती, उसे बुझा दिया अथवा अलग कर दिया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान जिस वस्तु का ज्ञापन–द्योतन करता है उसे 'ज्ञेय' कहते हैं। ज्ञान से जब ज्ञेय को जान लिया जाता है तब उस ज्ञान के व्यापार की जरूरत नहीं रहती और इसलिए उसे ज्ञेय से अलग अथवा निर्व्यापारीकृतरूप में स्थित कर दिया जाता है। जिस ज्ञान को ज्ञेय से अलग अथवा निर्व्यापारीकृत किया जाता है वह ज्ञान नहीं जो आत्मा का स्वभाव है, सूक्ष्म होने से इन्द्रियोंके अगोचर है, अव्यपदेश्य (अवाच्य) होने से वचन के अगोचर है और जिसका कभी नाश नहीं होता किन्तु वह ज्ञान है जिसे 'वैकारिक 'कहते हैं और जो इन्द्रियादि–परपदार्थजन्य विकार अथवा विभाव को लिए हुए होता है। ऐसे ज्ञान को पिछले पद्य ७६ में 'पौद्गलिक' बतलाया है, वही अपोहन–

---

१. दीपहस्तो यथा कश्चित्किंचिदालोक्य तं त्यजेत्। ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तं ज्ञानमुत्सृजेत्।–यशस्तिलक।

२. सूक्ष्ममपव्यपोद्देशमव्ययं।

पृथक्करण के योग्य होता है। जो ज्ञान स्वाभाविक हैं (वैभाविक नहीं) उसका आत्मा से कभी त्याग या पृथक्करण नहीं होता और न हो सकता हैं।

विकार हेतु के देशच्छेद तथा मूलच्छेद का परिणाम

स्कन्धच्छेदे पल्लवाः सन्ति भूयो
मूलच्छेदे शाखिनस्ते तथा नो।
देशच्छेदे सन्ति भूयो विकारा
मूलच्छेदे जन्मनस्ते तथा नो॥८०॥

अर्थ—जिस प्रकार वृक्ष के स्कन्ध (काण्ड) का छेद होने पर पत्ते फिर निकल आते हैं किन्तु मूल का छेद होने पर जड़ से वृक्ष को काट डालने पर पत्ते फिर नहीं उगते, उसी प्रकार संसार का एक देश नाश करने पर विकार फिर उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु मूलतः विनाश करने पर विकार फिर उत्पन्न नहीं होते।

व्याख्या—वृक्ष के एकदेश–शाखादि का छेद होने पर जिस प्रकार उसमें नये पत्ते फिर से निकल आते हैं उस प्रकार नये पत्तों का फिर से निकलना मूलच्छेद होने पर–वृक्ष के जड़ से कट जाने पर अथवा उखड़ जाने पर–नहीं बनता, यह सभी को प्रत्यक्ष देखने में आता है। इस उदाहरण को लेकर यहाँ संसार के एकदेशच्छेद और मूलच्छेद (सर्वदेशच्छेद) के कारण होने वाले विकारों की स्थिति को कुछ स्पष्ट किया गया है, संक्षेप में इतना ही कहा गया है कि एकदेशच्छेद होने पर विकार उत्पन्न होते हैं और मूलोच्छेद पर उत्पन्न नहीं होते। यहाँ संसार का अर्थ भवभ्रमण का है जिसे 'जन्मनः' पद के द्वारा उल्लेखित किया है और उसमें संसार के हेतु भी शामिल हैं। विकारों का अभिप्राय राग–द्वेषादिक, जन्म–मरणादिक अथवा नये–नये शरीर धारण का हैं।

देशच्छेद और मूलोच्छेद के विषय का स्पष्टीकरण

देशच्छेदे चरित्रं भवति भवततेः कुर्वतश्चित्ररूपं
मूलच्छेदे विविक्तं वियदिव विमलं ध्यायति स्वस्वरूपम्।
विज्ञायेत्थं विचिन्त्यं सदमितगतिभिस्तत्त्वमन्तःस्थमग्र्यं
संप्राप्तासन्नमार्गा न परमिह पदप्राप्तये यान्ति मार्गम्॥८१॥

अर्थ—संसार के एकदेश का पापरूप का नाश होने पर संसार की परम्परा का विचित्ररूप करता हुआ चारित्र होता है और संसार के मूल का–पाप–पुण्य दोनों कारणों का नाश होने पर आत्मा अपने आकाश के समान निर्मल विविक्त (कर्मकलंक विमुक्त) स्वस्वरूप को ध्याता है। इस प्रकार जानकर जो उत्तम ज्ञान के धारक महात्मा हैं उनके द्वारा अन्तरंग में स्थित प्रधान तत्त्व जो शुद्ध आत्मा है वह

विशेष रूप से चिन्तनीय है (ठीक है।) जिन्हें अभीष्ट स्थान की प्राप्ति का सन्निकट मार्ग प्राप्त हो जाता है वे फिर दूसरे मार्ग से गमन नहीं करते।

व्याख्या—यहाँ संसार के देशच्छेद और मूलच्छेदके अभिप्रेत विषय को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि संसार का देशच्छेद होने पर संसार के हेतुभूत मिथ्यादर्शनादिक, राग-द्वेषादिक अथवा पुण्य-पापादि का एकदेश नाश होने पर जो चारित्र होता है वह संसार सन्तति को चित्र-विचित्र रूप देने वाला अथवा उसे नानाप्रकार से बढ़ाने वाला होता है। प्रत्युत इसके संसार के उक्त हेतुओं का मूलच्छेद होने पर यह आत्मा अपने उस विविक्त शुद्ध-स्वरूप के ध्यान में मग्न होता है जो आकाश के समान निर्मल एवं निर्लेप है। इस प्रकार देशच्छेद और मूलच्छेद के स्वरूप को भले प्रकार समझकर जो उत्तम अमितज्ञान के धारक महात्मा हैं उन्हें अपने अन्तरंग में स्थित प्रधान तत्त्व जो अपना शुद्धात्मा है उसका सविशेषरूप से चिन्तन-ध्यान करना चाहिए। यह ध्यान अभीष्ट स्थान (मुक्तिसदन) की प्राप्ति के लिए आसन्न मार्ग है सबसे निकट का रास्ता है और इसलिए जिन्हें सन्निकट मार्ग प्राप्त होता है वे फिर दूसरे दूर के अथवा चक्कर के मार्ग से नहीं जाते हैं। पद्य के अन्तिम चरण में कही गयी यह बात बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है, और इस बात को सूचित करती है कि अपनी शुद्धात्मा के ध्यान से भिन्न और जितने भी ध्यान के मार्ग हैं वे सब दूरी के साथ परावलम्बन को भी लिए हुए हैं।

इस पद्य में प्रयुक्त हुआ 'सदमितगतिभिः' पद भी अपना खास महत्त्व रखता है, उसमें 'गति' शब्द ज्ञान का वाचक होने से वह जहाँ अपरिमितज्ञान के धारक महात्माओं के उल्लेख को लिए हुए है वहाँ प्रकारान्तर से (श्लेषरूप में) ग्रन्थकार महोदय के नाम का भी सूचक है और साथ ही इस सूचना को भी लिए हुए जान पड़ता है कि आचार्य अमितगति को शुद्ध स्वात्मध्यान का यह स्वाधीन मार्ग ही विशेषतः रुचिकर था और वे प्रायः इसी के अनुसरण एवं दृढ़ीकरण में प्रवृत्त रहते थे। शायद इसी से उन्होंने अगले एक पद्य (८३) में अपने को 'निःसंगात्मा' लिखा है जो कि उनकी पर के संग से रहितता एवं स्वावलम्बी होने का द्योतक है। इस शुद्धस्वात्मा के ध्यान में पापों को प्रयत्नपूर्वक त्यागने की भी जरूरत नहीं रहती, वे तो सबके सब ज्ञान के स्वात्मलीन होने पर स्वयं भाग जाते हैं, जैसा कि ग्रन्थकार महोदय ने अन्यत्र प्रकट किया है;[१] पर का सम्बन्ध न होने से शुभराग भी नहीं रहता, जो कि पुण्यबन्ध का कारण है और आत्मा को संसार में फँसाये रखता है। इसी से जहाँ अर्हद्भक्ति आदि रूप में राग रहता है वहाँ वह महान् पुण्यबन्ध का कारण होता है, जो कि संसार के सुखों का प्रदाता है, परन्तु उससे कर्म का क्षय नहीं होता[२]।

संसार के हेतुओं का देशच्छेद होने पर जिस चारित्र के उद्भव की यहाँ बात कही गयी है वह

१. हिंसत्वं वितथं स्तेयं मैथुनं संगसंग्रहः। आत्मरूपगते ज्ञाने निःशेषं प्रपलायते॥ यो. प्रा. ३७॥२. यो विहायात्मनो रूपं सेवते परमेष्ठिनः। स बध्नाति परं पुण्यं न कर्मक्षयमश्नुते॥ यो. प्रा. ४८॥

व्यवहारचारित्र है, जो कि अशुभ से निवृत्ति तथा शुभ में प्रवृत्तिरूप होता है और जिसे व्रत, समिति तथा गुप्ति के रूप में तीन प्रकार का तथा इनके उत्तरभेदों (५ + ५+ ३) की दृष्टि से तेरह प्रकार का बतलाया है।[१] निश्चयनय की दृष्टि से जो चारित्र बनता है वह स्वरूपाचरण के रूप में होता है, उसे ही यहाँ संसार हेतुओं के मूलच्छेद का परिणाम बतलाया है।

किनका जन्म और जीवन सफल है

दृष्ट्वा बाह्यमनात्मनीनमखिलं मायोपमं नश्वरं
ये संसार-महोदधिं बहुविधक्रोधादिनक्राकुलम्।
तीर्त्वा यान्ति शिवास्पदं शममयं [२]ध्यात्वात्मतत्त्वं स्थिरं
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं स्वार्थैकनिष्ठात्मनाम्॥८२॥

अर्थ—जो सारे बाह्य जगत् को अनात्मीय, मायारूप तथा नश्वर देखकर, स्थिर आत्मतत्त्व का ध्यान कर नाना प्रकार के क्रोधादि नाकुओं से भरे संसार-समुद्र को तिरकर सुखमय शिवस्थान को प्राप्त होते हैं उन आत्मीय स्वार्थ की साधना में एकनिष्ठा (अद्वितीय श्रद्धा) रखने वालों (महात्माओं) का जन्म और जीवन सफल है।

व्याख्या—यहाँ जिनके जन्म और जीवन को सफल बतलाया है वे, वे महात्मा होते हैं जो सारे बाह्य जगत् को अनात्मीय (अपना कोई नहीं) मायाजाल तथा इन्द्रजाल के समान भ्रामक और क्षणभंगुर देखकर-साक्षात् अनुभव कर-अपने शाश्वत आत्मा के स्वार्थ-साधन में विभाव-परिणमन को हटाकर उसे स्वात्मस्थित करने में एक निष्ठा से तत्पर हुए, शुद्ध आत्मतत्त्व के ध्यान-द्वारा क्रोधादि कषायरूप नाकुओं (मगरों) से भरे हुए संसार महासमुद्र को तिरकर शान्तिमय शिवस्थान अथवा ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं।

ग्रन्थ और ग्रन्थकार के अभिप्रेतरूप प्रशस्ति

दृष्ट्वा सर्वं गगननगर-स्वप्न-मायोपमानं
निःसङ्गात्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारम्।
ब्रह्मप्राप्त्यै परममकृतं[३] स्वेषु चात्म-प्रतिष्ठं
नित्यानन्दं गलित-कलिलं सूक्ष्ममत्यक्ष-लक्ष्यम्॥८३॥

अर्थ—सारे दृश्य जगत् को आकाश में बादलों से बने हुए नगर के समान, स्वप्न में देखे हुए दृश्यों के सदृश तथा इन्द्रजाल में प्रदर्शित मायामय चित्रों के तुल्य देखकर निःसंगात्मा अमितगति ने

---

१. असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारितं। वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं।-बृहद्द्रव्यसंग्रह, ४५। २. मु शिवमयं। ३. मु परमकृत।

उस परम ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए जो कि आत्माओं में आत्म-प्रतिष्ठा को लिए हुए है, कर्म-मल से रहित हैं, सूक्ष्म है, अमूर्तिक है, अतीन्द्रिय है और सदा आनन्दरूप है, यह योगसार प्राभृत रचा है, जो कि योग-विषयक ग्रन्थों में अपने को प्रतिष्ठित करने वाला योग का प्रमुख ग्रन्थ है, निर्दोष है, अर्थ की दृष्टि से सूक्ष्म है, गम्भीर है अनुभव का विषय है और नित्यानन्दरूप है, इसको पढ़ने सुनने से सदा आनन्द मिलता है।

व्याख्या—यहाँ ग्रन्थकार महोदय ने ग्रन्थ के कर्तृत्वादि की सूचना करते हुए ग्रन्थ का नाम 'योगसारप्राभृत', अपना नाम 'अमितगति' और ग्रन्थ के रचने का उद्देश्य 'ब्रह्मप्राप्ति' बतलाया है। ब्रह्मप्राप्ति का आशय स्वात्मोपलब्धि का है, जिसे 'सिद्धि'[१] तथा 'मुक्ति' भी कहते हैं और जो वस्तुतः सारे विभाव-परिणमन को हटाकर स्वात्मा को अपने स्वभावमें स्थित करने के रूप में है किसी परपदार्थ या व्यक्ति-विशेष की प्राप्ति या उसमें लीनता के रूप में नहीं। इसी उद्देश्य को ग्रन्थ के प्रारम्भिक मंगल-पद्य में 'स्वस्वभावोपलब्धये' पद्य के द्वारा व्यक्त किया गया है, उसका मुख्य विशेषण भी 'स्वस्वभावमय' दिया है। इससे स्वभाव की उपलब्धिरूप सिद्धि ही, जिसे प्राप्त करने वाले ही 'सिद्ध' कहे जाते हैं, यहाँ ब्रह्मप्राप्ति का एक मात्र लक्ष्य है, यह असन्दिग्धरूप से समझ लेना चाहिए।

ग्रन्थकार ने अपना विशेषण 'निःसंगात्मा' दिया है जो बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और इस बात को सूचित करता है कि ग्रन्थकार महोदय केवल कथन करने वाले नहीं थे किन्तु ग्रन्थ के कथन एवं लक्ष्य के साथ उन्होंने अपने को रंग लिया था, परपदार्थों से अपना ममत्व हटा लिया था। उन्हें अपने संघ का, गुरु-परम्परा का तथा शिष्य-समुदाय का भी कोई मोह नहीं रहा था, इसी से शायद उन्होंने इस अवसर पर उनका कोई उल्लेख नहीं किया। उनका आत्मा निःसंग था, पर के सम्पर्क से अपने को अलग रखने वाला था और इसलिए उन्हें सच्चे अर्थ में 'योगिराज' समझना चाहिए। जो सत्कार्यों का दूसरों को जो उपदेश देते हैं उन पर स्वयं भी चलते-अमल करते हैं वे ही 'सत्पुरुष' होते हैं। उन्हीं के कथन का असर भी पड़ता है।

इस पद्य में 'परमब्रह्म' के जो विशेषण दिये गये हैं वे ही प्रकारान्तर से ग्रन्थ पर भी लागू होते हैं और इससे ऐसा जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ अपने लक्ष्य के बिल्कुल अनुरूप बना है। उदाहरण के लिए 'नित्यानन्द' विशेषण को लीजिए, इस ग्रन्थ को जब भी जिधर से भी पढ़ते अनुभव करते हैं उसी समय उधर से नया रस तथा आनन्द आने लगता है और इसीलिए इस ग्रन्थ को 'रमणीय' कहना बहुत ही युक्ति-युक्त हैं। रमणीय का स्वरूप भी यही है ''पदे-पदे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'' पद-पद पर जो नवीन जान पड़े वही रमणीयता का स्वरूप है। जबसे यह ग्रन्थ मेरे विशेष परिचय में आया है तब से तत्त्वानुशासन (ध्यानशास्त्र) का भाष्य लिखने के समय से मैंने इसे शायद सौ बार से भी अधिक पढ़ा है और इसकी सुन्दरता, सरलता-गम्भीरता तथा उपयोगिता ने ही

१. सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः (पूज्यपादाचार्य)।

मुझे इसका भाष्य लिखने की ओर प्रेरित किया है।

योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानसः।
स्व-स्वरूपमुपलभ्य सोऽञ्चितं सद्म याति भव-दोष-वंचितम्॥८४॥

इति श्रीमदमितगति-निःसंग योगिराज-विरचिते योगसारप्राभृते चूलिकाधिकारः॥९॥

अर्थ—इस योगसार प्राभृत को जो एकचित्त हुआ एकाग्रता से पढ़ता है वह अपने स्वरूप को जानकर तथा सम्प्राप्त कर उस पूजित सदन को लोकाग्र के निवासरूप पूज्य मुक्ति हल को प्राप्त होता है, जो संसार के दोषों से रहित है संसार का कोई भी विकार जिसके पास नहीं फटकता?

व्याख्या—यह ग्रन्थ का अन्तिम उपसंहार-पद्य है, जिसमें ग्रन्थ के नाम का उल्लेख करते हुए उसके एकाग्रचित्त से पठन के अध्ययन के फल को दर्शाया है और वह फल है अपने आत्मस्वभाव की उपलब्धि-ज्ञप्ति (जानकारी) और सम्प्राप्ति, जो कि सारे संसार के दोषों से-विकारों से रहित है और जिसे प्राप्त करके यह जीव इतना ऊँचा उठ जाता है कि लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हो जाता है, जो कि संसार के सारे विकारों से रहित-सारी झंझटों तथा आकुलताओं से मुक्त-एक पूजनीय स्थान है।

आत्मा के इस पूर्ण-विकास एवं जीवन के चरम लक्ष्य को लेकर ही यह ग्रन्थ रचा गया है, जिसका ग्रन्थ के प्रथम मंगल पद्य में 'स्वस्वभावोपलब्धये' पद के द्वारा और पिछले ८३ वें पद्य में 'ब्रह्मप्राप्त्यै' पदों के द्वारा उल्लेख किया गया है और इसलिए वही उद्दिष्ट एवं लक्ष्यभूत फल इस ग्रन्थ के पूर्णतः एकाग्रता के साथ अध्ययन का होना स्वाभाविक है। अतः अपना हित चाहने वाले पाठकों को इस मंगलमय प्राभृत का एकाग्रचित्त से अध्ययन कर उस फल को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होना चाहिए जिसका इस पद्य में उल्लेख हैं।

इस प्रकार श्री अमितगति निःसंग योगिराज-विरचित योगसार प्राभृत में, चूलिकाधिकार नाम का नौवाँ अधिकार समाप्त हुआ॥९॥

भाष्य का अन्त्यमंगल और प्रशस्ति

राग-द्वेष-कामादि जीत जिन, स्वस्वभाव को अपनाया;
निरवधि-सुख-दृग ज्ञानवीर्य-मय, परम निरंजन-पद पाया।
दिव्यध्वनि से तीर्थ प्रवर्तित किया मोक्ष-पथ दर्शाया;
उन योगीश्वर महावीर का सुर-नर मिलकर यश गाया ॥१॥

महावीर के तीर्थ-प्रणेता स्याद्वदिनि-विद्याधिप सार;
कविवर गमक-वाग्मि-वादीश्वर भावि तीर्थंकर गुण-आधार।
जिनकी भक्ति-प्रसाद बना यह रुचिर-भाष्य जग का हितकार;
उन गुरु स्वामि-समन्तभद्र को नमन करूँ मैं बारंबार ॥२॥

अल्प बुद्धि 'युगवीर' न रखता योग-विषय पर कुछ अधिकार;
आत्म-विकास-साधना का लख, योग-सिद्धि को मूलाधार।
निःसंगात्म-अमितगति-निर्मित, योगसार प्राभृत सुख-द्वार;
उससे प्रभवित-प्रेरित हो यह, रचा भाष्य आगम-अनुसार ॥३॥

पढ़े-पढ़ावें सुने-सुनावें जो इसको आदर के साथ;
प्रमुदित होकर चलें इसी पर, गावें सदा आत्म-गुण-गाथ।
आत्म-रमण कर स्वात्म-गुणों को, औ ध्यावें सम्यक् सविचार;
वे निज आत्म-विकास सिद्ध कर, पावें सुख अविचल-अविकार॥४॥

इति योगसार प्राभृतं समाप्तम्।

परिशिष्ट-१

योगसार-प्राभृत की पद्यानुक्रमणिका

ह

परिशिष्ट-२

भाष्य में उपयुक्त सहायक-ग्रन्थ-सूची

अध्यात्म-रहस्य (पं. आशाधर)
बृहद् द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्र मुनि)
अष्टशती (अकलंकदेव)
भगवती आराधना (शिवार्य)
अष्टसहस्त्री (विद्यानन्द स्वामी)
मूलाचार (वट्टकेराचार्य)
आराधनासार (देवसेनाचार्य)
मूलाचार-टीका (वसुनन्द्याचार्य)
इष्टोपदेश (पूज्यपाद स्वामी)
यशस्तिलक (सोमदेव)
कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामी कार्तिकेय)
योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य)
गोम्मटसार-कर्म काण्ड (नेमिचन्द्र सि. च.)
योगसारप्राभृत (अमितगति योगिराज)
गोम्मटसार-जीव काण्ड (नेमिचन्द्र सि. च.)
रयणसार (कुन्दकुन्दाचार्य)
छहढाला (पं. दौलतराम)
राजवार्तिक (अकलंक देव)
ज्ञानार्णव (शुभचन्द्राचार्य)
लघुद्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्र मुनि)
तत्त्वानुशासन (रामसेनाचार्य)
लब्धिसार-टीका (नेमिचन्द्र द्वितीय)
तत्त्वार्थसार (अमृतचन्द्राचार्य)
विषापहार स्तोत्र (कवि धनञ्जय)
तत्त्वार्थसूत्र, मोक्षशास्त्र(उमास्वाति-मी)
श्लोकवार्तिक (विद्यानन्द स्वामी)
दंसणपाहुड (कुन्दकुन्दाचार्य)
सज्जन चित्तवल्लभ (मल्लिषेणाचार्य)
देवागम, आप्तमीमांसा (स्वामी समन्तभद्र)
समयसार नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य)
समयसार कलश, (अमृतचन्द्रचार्य)
पञ्चाध्यायी (कवि राजमल्ल)
समाधितंत्र (पूज्यपादाचार्य)
पञ्चास्तिकाय (कुन्दकुन्दाचार्य)
समीचीन-धर्मशास्त्र (समन्तभद्राचार्य)
पञ्चास्तिकाय-टीका (अमृतचन्द्राचार्य)
सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपादाचार्य)
परमात्मप्रकाश (योगीन्दुदेव)
पुरुषार्थसिद्धयुपाय (अमृतचन्द्राचार्य)
सामायिक पाठ
प्रवचनसार (कुन्दकुन्दाचार्य)
सिद्धभक्ति (पूज्यपादाचार्य)
प्रवचनसार-टीका (अमृतचन्द्राचार्य)
सुत्तपाहुड (कुन्दकुन्दाचार्य)
प्रवचनसार-टीका (जयसेनाचार्य)
स्वयम्भूस्तोत्र (स्वामी समन्तभद्र)

परिशिष्ट-३

योगसार-प्राभृत के लक्षणात्मक शब्दों की अनुक्रमणी